अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा

अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा

डा० अभेदानन्द,
वेदान्ताचार्य, एम० ए० पी-एच० डी०
अध्यक्ष एवं रीडर दर्शनविभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक
ओरियण्टलपब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स
१४८८, पटौदी हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

प्रकाशक :
ओरिण्टल पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स

मूल्य : ४० रुपये

मुद्रक : वर्मा कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा राजीव प्रिंटर्स मौजपुर, दिल्ली-३२

समर्पण

यह ग्रन्थपुष्प—

मेरी परमाराध्या माता श्रीश्री गंगादेवी पंचतीर्थ

के

चरणकमलों में सादर समर्पित।

—अभेदानन्द

प्राक्कथन

डाक्टर अभेदानन्द सामान्यतः भारतीयदर्शन के और विशेषतः अद्वैतवेदान्त के प्रामाणिक अध्येता और पण्डित हैं। राजस्थान अकादमी से प्रकाशित उनकी अद्वैत विषयक "शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्वनिरूपण" पुस्तक उनकी विद्वता और अध्यवसाय का श्रेष्ठ निदर्शन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने अद्वैत तथा द्वैताद्वैत नामक वेदान्त के दो प्रसिद्ध सम्प्रदाओं के तत्त्वमीमांसासम्बन्धी विचारों का विशद एवं विस्तृत तुलनात्मक विवेचन किया है।

पुस्तक में अद्वैतवेदान्त को ज्यादा जगह मिली है, यह उचित ही है। यह मानना ही पड़ता है कि वेदान्त के आचार्यों में श्रीशंकराचार्य का स्थान विशिष्ट है और उनके भाष्य-ग्रन्थ (विशेषतः उपनिषद्भाष्य तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य) अन्य वैसे ग्रन्थों की तुलना में विशेष महत्वपूर्ण बन सके हैं। अधिकांश विद्वानों की सम्मति में दूसरा महत्वपूर्ण भाष्य श्रीरामानुज का श्रीभाष्य है। इसके अलावा निम्बार्क, बल्लभ, मध्व, जीवगोस्वामी आदि आचार्यों ने भी ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं। ये सभी आचार्य यह दावा करते हैं कि वे उपनिषदों, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र (प्रस्थानत्रयी) के अभिप्राय या मन्तव्यों को सही-सही प्रकाशित कर रहे हैं। यहाँ दो बातें द्रष्टव्य हैं। शांकरवेदान्त में ज्ञानमार्ग को विशेष मान्यता दी गई है; इसके विपरीत मध्ययुग के प्रायः सभी भाष्यकार भक्तिमार्गी हैं। वे शंकर की अपेक्षा गृहस्थजीवन तथा कर्ममार्ग को भी अधिक महत्व देते हैं। दूसरे, प्रायः ये सभी परवर्ती भाष्यकार शांकरवेदान्त के खण्डन का विशेष प्रयत्न करते हैं। इससे भी अद्वैतवेदान्त तथा शंकर के भाष्यों की महत्ता प्रमाणित होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त तथा निम्बार्क के द्वैताद्वैतवेदान्त का तुलनात्मक अनुशीलन हुआ है। विद्वान् लेखक ने दोनों के सैद्धान्तिक मतभेदों के तार्किक आधार और उनके पारस्परिक खण्डन-मण्डन का सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट विवेचन किया है। दोनों पक्षों के वाद-विवाद में यथासम्भव निष्पक्ष रहते हुए भी वे अद्वैत के प्रति अपने झुकाव को छिपा नहीं सके हैं। यों कहीं-कहीं उन्होंने अद्वैती चिन्तकों की युक्तियों से असहमति भी प्रकट की है। कुल मिलाकर लेखक ने दोनों ही दर्शनों का सहानुभूतिपूर्ण, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अंग्रेजी में वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शनों से सम्बन्धित विस्तृत साहित्य है; हिन्दी में प्रामाणिक प्रतिपादनपरक तथा शोधग्रन्थ थोड़े ही हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का विशेष महत्व है। आशा है सुधी पाठकवर्ग ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

२५ जून, १६७७
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

—देवराज

आत्मनिवेदन

भारतीय दर्शन में अद्वैतवेदान्त अपने साहित्य की दृष्टि से अतिसमृद्ध दर्शन है। अद्वैताचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अद्वैतेतर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान किया है। परवर्ती द्वैताद्वैतवादी निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैतवेदान्त के मात्र एकसत्तापरक सिद्धान्त का युक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान किया है। द्वैताद्वैतवादी निम्बार्क आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट, प्रखर पण्डित माधवमुकुन्द, पण्डित पुरुषोत्तम प्रसाद, आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अद्वैतवेदान्त द्वारा प्रतिपादत निर्गुणब्रह्मवाद, एकजीववाद मायावाद, जीवब्रह्मैक्यवाद, जगत्मिथ्यात्ववाद आदि सिन्ताद्धों का सबल तर्कों सहित खण्डन किया है।

अद्वैत एवं द्वैताद्वैत दर्शनों की उक्त खण्डनपरम्परा का अभी तक तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। उक्त दोनों सम्प्रदायों के मूल ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर दोनों दर्शनों की तत्वमीमांसा का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ अद्वैत एवं द्वैताद्वैत सम्बन्धी तत्व-मीमांसा का एक विश्लेषण है। दोनों दर्शनों की मूल समस्य ब्रह्मवाद है। ब्रह्मवाद में भी सगुण और निर्गुण की समस्या प्रमुख है। इसी महत्वपूर्ण समस्या के साथ-साथ जीव, जगत्, अविद्या आदि तत्वमीमांसीय समस्याओं पर भी ग्रन्थ में विस्तृत विचार किया गया है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों मतों के अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत् विषयक विचारों की विशद व्याख्या परम्परावादी विचार शैली से हुई है और इसी कारण यह ग्रन्थ व्याख्यात्मक ग्रन्थ लगने लगता है, किन्तु व्याख्यामात्र प्रस्तुत करना ही हमारा उद्देश्य नहीं है। जगह-जगह हमने आवश्यकतानुसार अपनी समीक्षा भी प्रस्तुत की है। हमने अपने सम्पूर्ण समीक्षात्मक विचारों को उपसंहार में 'समीक्षात्मक दृष्टि' के नाम से प्रस्तुत कर दिया है। मुझे विश्वास है कि समीक्षा में विद्वानों को कुछ नवीनता दिखाई देगी। उपसंहार में दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में साम्यों एवं वैषम्यों की तुलनात्मक दृष्टि भी प्रस्तुत की गई है। आशा है यह ग्रन्थ विद्वत्-समाज द्वारा समादृत होगा।

गुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार
जुलाई १९७८

—अभेदानन्द

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड : अद्वैत तत्त्वमीमांसा १-१९

विषय प्रवेश—प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ, संक्षिप्त तत्वमीमांसा—आत्मा-अनात्माध्यास, अविद्या, आत्मा एवं ब्रह्म, जीव, जगत्, सृष्टि की व्याख्या, मुक्ति और मुक्ति के साधन।

प्रथम अध्याय—अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म २१-५५

आत्मा का स्वरूप—बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद का खण्डन, ब्रह्म का स्वरूप, निर्गुणब्रह्मवाद के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक, रामानुज आदि के विचार, अद्वैतवेदान्त का निर्गुणब्रह्म,

ब्रह्म का **स्वरूपलक्षण**—ब्रह्मसत् है, ब्रह्म चित्स्वरूप है, चित् का स्वप्रकाशत्व, ब्रह्म अनन्तस्वरूप है,

अखण्डार्थ, ब्रह्म का तटस्थलक्षण—ब्रह्म की जगत्कारणता, परिणाम और विवर्त, ब्रह्म का ईश्वरभाव, साक्षीस्वरूप विवेचन।

द्वितीय अध्याय—अद्वैतवेदान्त में जीव ५७-९०

जीव का स्वरूप, अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद, प्रतिबिम्बवाद की विस्तृत व्याख्या तथा विभिन्न आचार्यों के मत, बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न या अभिन्न ? नीरूप का प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव? जीवपरिमाण—देहपरिमाण जीववाद का खण्डन, जीवविषयक अणु-परिमाण का खण्डन, जीव विभुपरिमित है, एकजीववाद तथा अनेकजीववाद, जीवकर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व, जीवकर्तृत्व स्वतन्त्र या ईश्वराधीन, जीव की अवस्थायें, भेदखण्डन, जीवब्रह्मसम्बन्ध (तत्वमसि), बद्ध एवं मुक्तजीव, जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त जीव।

तृतीय अध्याय—अद्वैतवेदान्त में अविद्या— ९१-१०३

अविद्या के लक्षण और स्वरूप, अविद्या के विरुद्ध सप्तधा अनुपपत्तियां—

१. अविद्यास्वरूपानुपपत्ति, २. प्रमाणानुपपत्ति, ३. आश्रयानुपपत्ति, ४. तिरोधानानुपपत्ति, ५. अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति, ६. निर्वतकानुपपत्ति ७. निवृत्यनुपपत्ति।

चतुर्थ अध्याय—अध्यास और ख्यातिवाद १०५-११४

अध्यास; ख्यातिवाद—असत्ख्याति, आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति, सदसत्ख्याति, सत्ख्याति, अनिर्वचनीयख्याति और अध्यास।

पंचम अध्याय, जगत् और जगत्सृष्टि ११५-१२६

विवर्तवाद, जगत्सृष्टि, जगत्मिथ्यात्व।

द्वितीय खण्ड : द्वैताद्वैत तत्त्वमीमांसा १३१-१४४

विषय प्रवेश—प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ, संक्षिप्त तत्वमीमांसा—ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष एवं मोक्ष के साधन।

प्रथम अध्याय—द्वैताद्वैत दर्शन में ब्रह्म १४५-१६८

ब्रह्म सगुण और निर्गुण, अद्वैतवेदान्त में स्वीकृत ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता, अद्वैत अभिप्रेत ब्रह्म के लक्षण खण्डन, —स्वरूप लक्षणखण्डन, तटस्थलक्षणखण्डन, अद्वैत अभिप्रेत ब्रह्म की जगत् कारणता का खण्डन, अद्वैत अभिप्रेतब्रह्म का जगत् उपादानत्वखण्डन, माया के उपादानत्व का खण्डन, अद्वैतवेदान्त अभिप्रेत ईश्वर के निमित्तकारणत्व का खण्डन, निम्बार्कमत में परमेश्वर की जगत् कारणता, ब्रह्म सच्चिदानन्द है, चतुर्व्यूह, ब्रह्म एवं जीव-जगत्, अभेदवाद का खण्डन तथा भेदवाद की स्थापना, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद एवं निम्बार्क दार्शनिक, भास्करमत का खण्डन, निम्बार्क एवं बलदेव विद्याभूषण, ब्रह्म उपास्य के रूप में।

द्वितीय अध्याय—द्वैताद्वैत दर्शन में जीव १६९-१९८

अवच्छेदवादखण्डन, प्रतिबिम्बवाद खण्डन, एकजीववाद खण्डन तथा जीव बहुत्व की सिद्धि, जीव ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता, आत्मा कर्ता एवं भोक्ता, अहमर्थ के अनात्मत्व का खण्डन तथा आत्मत्व सिद्धि, देहात्मैक्याध्यास, जीवपरिमाण विचार—विभुपरिमाण का खण्डन तथा अणुपरिमाण की सिद्धि, जीवेश्वर-सम्बन्ध—तत्वमसि की एकमात्र-अभेदपरक व्याख्या का खण्डन, निम्बार्क मत में तत्वमसि का अर्थ, बद्ध एवं मुक्त जीव, जीवन्मुक्ति का खण्डन, जीव के विषय में निम्बार्कमत तथा कुछ अन्य आचार्य—निम्बार्क एवं भास्कर आचार्य, निम्बार्क एवं रामानुज आचार्य, निम्बार्क एवं बलदेव।

तृतीय अध्याय—द्वैताद्वैत दर्शन में जगत् ११६-२१३

अध्यासवाद का प्रत्याख्यान, अज्ञानवाद का प्रत्याख्यान, अनिर्वचनीयत्ववाद का प्रत्याख्यान, मिथ्यात्व खण्डन, शून्यवाद एवं विज्ञानवाद का खण्डन, जगत् सत्य है, सृष्टि और प्रलय, प्राकृतादितत्व ।

उपसंहार : तुलनात्मक मूल्यांकन २१५-२३३
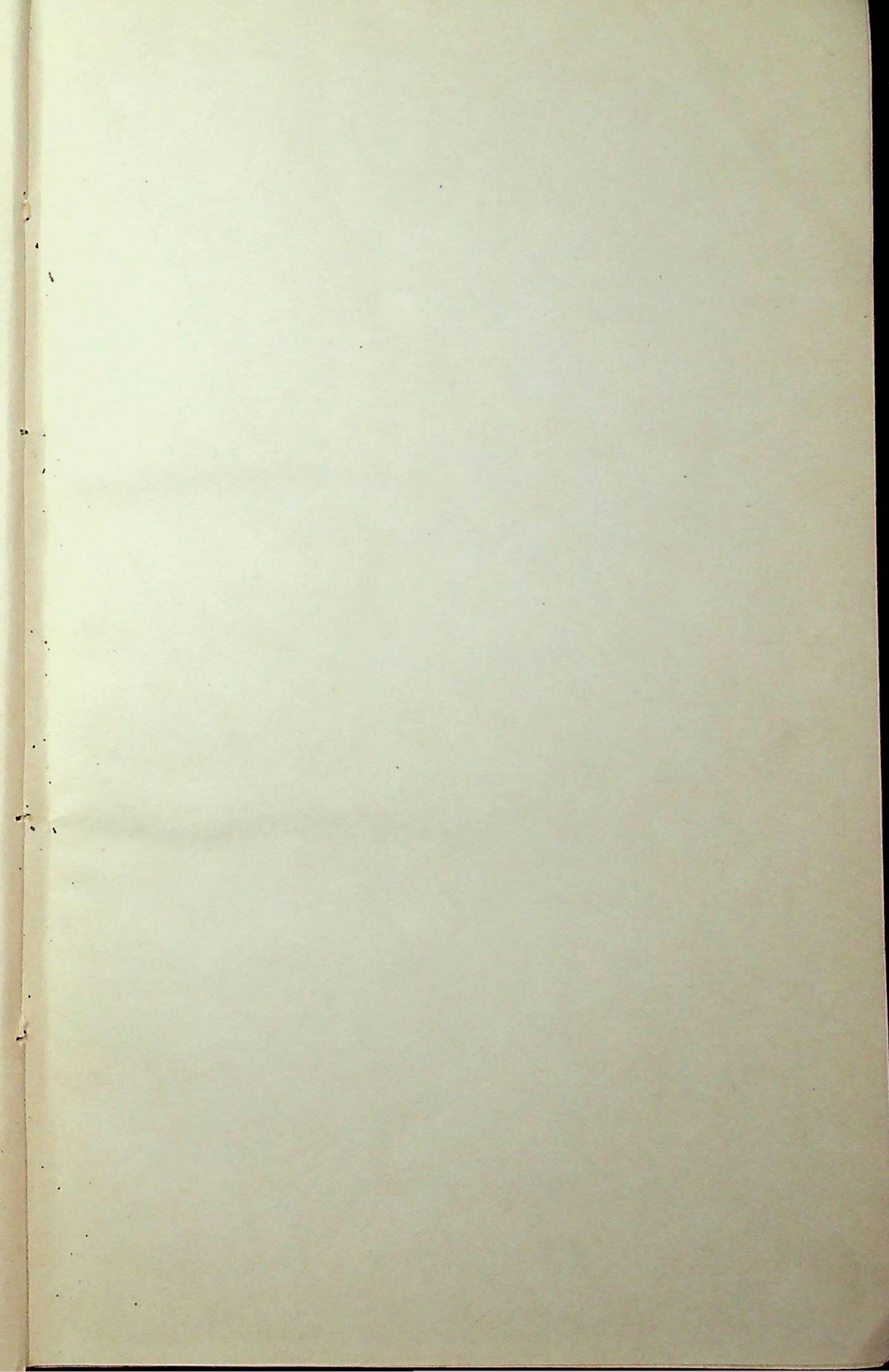
प्रथम खण्ड : अद्वैत तत्त्वमीमांसा

विषयप्रवेश

अद्वैत वेदान्त

प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त को औपनिषदीय सिद्धान्त कहते हैं। उपनिषदों में बहुस्थलों में अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन मिलता है। इस अद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना के लिए आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर बहुत बड़ा भाष्य लिखा। बादरायण ने उपनिषद् वाक्यों की मीमांसा के लिए शारीरक मीमांसा सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों में जो उपनिषद् सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, उन्हीं की व्याख्या शंकर ने अपने भाष्य में की है, यह उनका दावा है। आचार्य शंकर से पूर्व और भी अद्वैत वेदान्त के कुछ आचार्य हुए हैं। उन आचार्यों में आचार्य गौड़पाद का नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आचार्य गौड़पाद शंकराचार्य के परमगुरु थे। उन्होंने मांडूक्य-उपनिषद् पर मांडूक्य-कारिका लिखकर अद्वैतवाद की व्याख्या की है। आचार्य शंकर ने मांडूक्य-कारिका पर भी भाष्य लिखा है। इसके अतिरिक्त ग्यारह उपनिषदों पर उनका लिखा गया भाष्य विद्वानों में बहुत चर्चित है। उनमें भी छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में उन्होंने अद्वैतवेदान्त की सैद्धान्तिक बातें लिखी हैं जो कि अद्वैत वेदान्त के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। शंकर ने तृतीय प्रस्थान भगवत्गीता पर भी भाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त उपदेश साहस्री, विवेक चूड़ामणि एवं बहुत-से स्तोत्रों की रचना भी उन्होंने की है। आप्तवज्रसूची, आतमबोध, मोहमुद्गर, दश-श्लोकी अपरोक्षानुभूति, विष्णु सहस्रनाम आदि ग्रन्थ भी शंकराचार्य रचित कहे जाते हैं।[1]

आचार्य शंकर के उक्त सभी ग्रन्थों एवं भाष्यों में ब्रह्मसूत्र भाष्य ही प्रधान रूप से अद्वैतवेदान्त का आधार ग्रन्थ है। इसीको अद्वैतवेदान्त दर्शन कहा जा सकता है। आचार्य शंकर के बाद अद्वैतवेदान्त में अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं एवं बहुत-से पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रक्रिया-भेद से बाद के आचार्यों में विवरण सम्प्रदाय एवं भामती सम्प्रदाय नाम से दो विशेष धाराओं की प्रसिद्धि हुई। आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के

1. Indian philosophy. Dr. Radhakrishnan, Vol. II, page 451

शिष्य थे। उन्होंने शंकरभाष्य के ऊपर पंचपादिका के नाम से एक टीका लिखी। उस टीका के ऊपर आचार्य प्रकाशात्मा ने विवरण नाम की टीका की रचना की। ये दोनों ही टीकायें अद्वैत वेदान्त का बारीकी से विश्लेषण करती हैं। विवरण टीका के नाम से ही पूर्वोक्त विवरण सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इसीसे पता चलता है कि इस टीका की कितनी महत्ता है। विद्यारण्य मुनि ने, जिन्हें माधवाचार्य भी कहा जाता है, विवरण-प्रमेयसंग्रह की रचना की। इन्होंने ही वेदान्त का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पंचदशी एवं जीवन-मुक्तिविवेक नामक ग्रन्थों की भी रचना की। पंचदशी के विषय में कहा जाता है कि इस ग्रन्थ के प्रथम छः अध्याय विद्यारण्य मुनि के द्वारा रचित हैं एवं बाद के नौ अध्याय भारती तीर्थ द्वारा रचे गये हैं।

भामती सम्प्रदाय वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित प्रसिद्ध भामती नामक टीका से प्रादुर्भूत होता है। भामती टीका भी ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य पर लिखी गई एक पांडित्य-पूर्ण एवं व्याख्यात्मक टीका है। इस टीका में अद्वैत वेदान्त के प्रायः सभी सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। भामती की व्याख्या अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु नामक टीका द्वारा की है। कल्पतरु की व्याख्या परिमल नामक टीका है जोकि महापण्डित अप्पय दीक्षित द्वारा रचित है। इसी प्रकार अद्वैतानन्द द्वारा लिखित ब्रह्मविद्याभरण तथा स्वामी गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। आनन्दगिरि की न्याय-निर्णय टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। अखण्डानन्द ने विवरण के ऊपर तत्त्वदीपन टीका लिखी है। सुरेश्वर आचार्य का बृहदारण्यकवार्तिक अद्वैत वेदान्त में बहुत महत्त्वपूर्ण रचना है। इन्हीं का दूसरा ग्रन्थ नैष्कर्म्य-सिद्धि है। सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक लिखकर वेदान्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इधर श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ द्वारा सम्पूर्ण प्रपंच को अनिर्वनीय सिद्ध किया है। मण्डनमिश्र द्वारा लिखित ब्रह्मसिद्धि, विमुक्तात्मा द्वारा लिखित इष्टसिद्धि, काश्मीरक सदानन्द यति की अद्वैतब्रह्मसिद्धि, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि इससे पूर्व उल्लेखित सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि, इन सबको अद्वैत वेदान्त में पंचसिद्धियाँ कहते हैं। इनमें से अद्वैतसिद्धि बहुत ही पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य चित्सुख ने तत्त्वप्रदीपिका की रचना करके अद्वैत वेदान्त के विषयों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। न्यायसकरन्दकार आनन्दबोध भट्टारक आचार्य के, 'न्यायमकरन्द' ग्रन्थ में ख्यातिवादों का विद्वतापूर्ण विवेचन हुआ है। नृसिंहाश्रम द्वारा रचित 'अद्वैतदीपिका' एवं 'वेदान्त तत्त्व विवेक' अद्वैत वेदान्तविषयक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ हैं। अप्पय दीक्षित ने अद्वैत वेदान्त के लिए अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। 'कल्पतरु परिमल' का उल्लेख हमने पहले ही किया है जो कि एक पाण्डित्यपूर्ण एवं बृहत् टीकाग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त न्याय-रक्षामणि, सिद्धान्तलेशसंग्रह, आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। अद्वैत वेदान्त में बहुत-से और भी ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें प्रकाशानन्द सरस्वती का वदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, सदानन्द का वेदान्तसार, धर्मराजाध्वरीन्द्र का वेदान्तपरिभाषा, रामाद्वय का वेदान्तकौमुदी, कृष्णमिश्रयति का प्रबोधचन्द्रोदय, लक्ष्मीधर का अद्वैतमकरन्द आदि ग्रन्थ उल्लेखीय हैं। इनके अतिरिक्ति और भी बहुत-से टीकाग्रन्थ एवं वृत्तिग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने लिखे हैं। गौड़ ब्रह्मानन्द की अद्वैतसिद्धि के ऊपर लघुचन्द्रिका टीका अद्वैत वेदान्त के

पंडितों में महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी है।

अद्वैत वेदान्त में अनेकों आचार्य हो चुके हैं। उनमें आचार्य शंकर के बाद उपर्युक्त आचार्य पद्मपाद, आचार्य सुरेश्वर, आचार्य मण्डनमिश्र, (कुछ लोग इन दोनों आचार्यों को एक व्यक्ति भी कहते हैं) आचार्य वाचस्पति मिश्र, आचार्य श्रीहर्ष, आचार्य चित्सुख, आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि, आचार्य प्रकाशात्म यति, आचार्य मधसूदन सरस्वती, आचार्य अपय दीक्षित बहुत ही प्रसिद्ध एवं श्रद्धा के पात्र हैं। अद्वैत वेदान्त के विषयों की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थों में पंचपादिका, पंचपादिकाविवरण, भामती, कल्पतरु, परिमल प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ हैं। मौलिक ग्रन्थों में संक्षेप-–शारीरक भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पाण्डित्य एवं शास्त्रार्थ की दृष्टि से तत्त्वप्रदीपिका, खण्डनखण्डखाद्य, अद्वैतसिद्धि एवं लघुचन्द्रिका प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अद्वैतसिद्धि में द्वैतवादी न्यायामृतकार व्यासतीर्थ द्वारा अद्वैत सिद्धान्त में किये गये आक्षेपों का शास्त्रार्थपूर्ण उत्तर दिया गया है। व्यासतीर्थ के शिष्य तरंगिणीकार द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर लघुचन्द्रिकाकार ने दिया है। इस प्रकार यह द्वैत एवं अद्वैतवादों की खण्डनपरम्परा चली है। खण्डनखण्डखाद्य अद्वैत वेदान्त का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें श्रीहर्ष ने नागार्जुन की शैली से प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वों की सर्व प्रकार से तार्किक असिद्धि बतलायी है। तार्किक विश्लेषण करने पर श्रीहर्ष के अनुसार संसार में किसी भी वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं। ब्रेड्ले के समान श्रीहर्ष भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रमाण-प्रमेय आदि तत्त्वों की सिद्धि विरोधपूर्ण है। इसलिए विश्व की सभी वस्तुएँ अनिर्वचनीय हैं।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में नाना प्रकार से अद्वैतब्रह्म की ही सिद्धि की गयी है। अद्वैतब्रह्म की सिद्धि के लिए आत्मा-अनात्मा-अध्यास, अनिर्वचनीय अविद्या, ब्रह्म का निर्गुणत्व, जीव-ब्रह्म-एकत्व, तत्त्व-मसि का अखण्डार्थत्व, जगत् मिथ्यात्व, मुक्ति में जीव—ब्रह्मैक्य आदि विषयों का विवेचन उक्त गन्थों में हुआ है।

संक्षिप्त तत्त्वमीमांसा : आत्म-अनात्माध्यास

ब्रह्मसूत्र में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन हुआ है। श्रुति में भी 'तद्विजिज्ञासस्व' कहा गया है। यहाँ पर ब्रह्म जिज्ञासा में प्रश्न उठाया गया है कि ब्रह्म की जो जिज्ञासा करनी चाहिए उस जिज्ञासा का विषय ब्रह्म ज्ञात है अथवा अज्ञात। यदि ब्रह्म ज्ञात है तो उस विषय में जिज्ञासा का उदय ही नहीं हो सकता, यदि अज्ञात है तो जिज्ञासा ही असम्भव है।[१] कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से अज्ञात वस्तु की जिज्ञासा नहीं कर सकता, न ही पूर्ण रूप से ज्ञात वस्तु की जिज्ञासा हो सकती है। पूर्ण रूप से ज्ञात एवं पूर्ण रूप से अज्ञात वस्तुओं में सन्देह नहीं हो सकता, सन्देह के बिना जिज्ञासा सम्भव नहीं। इस समस्या का समाधान आचार्य शंकर ने किया है। उनके अनुसार ब्रह्म की जिज्ञासा असम्भव नहीं है। आत्मरूप से ब्रह्म सबके लिए प्रसिद्ध

---

१. ब्रह्मप्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० ७६

है। आत्मास्तित्व को सभी मानते हैं। कोई भी 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार नहीं कहता।[1] अद्वैत वेदान्त आत्मकेन्द्रित दर्शन है। देकार्त के समान स्वतःसिद्ध आत्मास्तित्व को केन्द्र बनाकर अद्वैत दर्शन प्रवृत्त होता है। इस प्रकार आत्मा के रूप में अर्थात् 'मैं हूँ' के अनुभव से आचार्य शंकर आत्मा की प्रसिद्धि करते हैं। उनके अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है, यह बात शंकर शास्त्रीय आधार पर मान लेते हैं, क्योंकि उपनिषद्शास्त्रों की मीमांसा एवं समन्वय ही उनका कार्य है। इसीलिए शास्त्र-प्रमाण उनके लिए दार्शनिक आधार है। आत्मा के रूप में ब्रह्म प्रसिद्ध होने पर भी आत्मा स्वयं अपने स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् आत्मा जिस रूप में प्रसिद्ध है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह तो आत्मा का अध्यस्त रूप है। इसीलिए स्वरूपभूत आत्मा की जिज्ञासा होनी चाहिए। इस प्रकार आचार्य शंकर आत्मा को प्रसिद्ध बतलाते हुए भी वास्तविक स्वरूपभूत आत्मा को अप्रसिद्ध मानकर आत्मा की अर्थात् ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ पर 'अहं' करके आत्मा का प्रत्यक्ष होता है वहाँ पर शरीर को लेकर ही 'मैं देवदत्त हूँ' 'मैं स्थूल हूँ' इत्यादि प्रयोग होते हैं। शरीर-अभिमानी के रूप में आत्मा स्वरूपभूत आत्मा नहीं है, आत्मा शुद्ध चेतन है। उसमें स्थूलत्व आदि धर्म सम्भव नहीं, स्थूलत्व आदि जड़ वस्तुओं के धर्म हैं। आत्मा अभौतिक है, अतः उसमें वास्तविक अर्थ में भौतिक धर्म नहीं हो सकते। स्थूल शरीर एवं अन्तःकरण के धर्मों को लेकर जीवात्मा सुखी-दुखी होता है। आत्मा का इस प्रकार शरीर धर्मों के साथ तादात्म्यभाव वस्तुतः अध्यासपूर्वक है। आत्मा विषयी है। विषय अनात्मा जड़ पदार्थ है। विषयी एवं विषय प्रकाश एवं अन्धकार के समान परस्पर विरोधी हैं। दोनों का किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं बन सकता, फिर भी आत्मा-अनात्मा का इतरेतरभावसम्बन्ध होता है। वस्तुतः यह सम्बन्ध आध्यासिक ही है। यह आध्यासिक सम्बन्ध मिथ्या सम्बन्ध है।[2] अध्यास मिथ्या सम्बन्ध का मूल है। इस अध्यास के कारण ही चेतन आत्मा में जड़ वस्तु के सम्पर्क से 'अहमिदं' 'मम इदम्' इत्यादि प्रकार से मिथ्याभिमान का उदय होता है। लोग इस मिथ्याभिमान को स्वाभाविक एवं सत्य समझने लगते हैं; यह मिथ्या अभिमान अनादि अज्ञान के कारण है, यह नहीं समझ पाते। इस प्रकार यह लोकव्यवहार अनादि अज्ञान के कारण चल रहा है।[3]

अध्यास का विवरण देते हुए आचार्य शंकर ने भाष्य में कहा है कि 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'[4] अर्थात् पूर्वदृष्ट वस्तु के समान अन्यत्र प्रतीति अध्यास है। अध्यास को 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' समझना चाहिए। जो जिसमें नहीं, उसमें उसकी प्रतीति अध्यास है। अध्यास भ्रम ज्ञान है। यह 'तद्वति तत्प्रकारक' ज्ञान नहीं है, अपितु 'तदभाववति

---

१. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वोह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमिति—आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० ८१।

२. युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः···इत्यादि। ब्रह्मसूत्र शाँकरभाष्य, पृ० ६-१५

३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० १६-१७

४. वही, पृ० १७-१८

तत् प्रकारक' ज्ञान है। जैसे शुक्ति रजत में रजत-अभाव होने पर भी रजत प्रकारक ज्ञान भ्रम से हुआ करता है। यह अध्यासज्ञान का उदाहरण है। अध्यासज्ञान को स्मृति-रूप कहा गया है। अर्थात् यह ज्ञान स्मृति के समान है न कि स्मृति। स्मृति में विषय उपस्थित नहीं रहता, भ्रम-ज्ञान में द्रष्टा के सामने विषय उपस्थित होता है। स्मृति रूप कहने का तात्पर्य और भी है कि जिस प्रकार स्मृति संस्कार से उत्पन्न होती है उसी प्रकार मिथ्या-ज्ञान भी संस्कारजन्य है। किन्तु स्मृतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। भ्रमज्ञान प्रत्यक्षज्ञान होता है। आचार्य पद्मपाद के अनुसार भ्रम ज्ञान में अधिष्ठान अवश्य होता है।[1] भ्रम किसी आश्रय में होता है। सर्पभ्रम रज्जुरूप आश्रय में हुआ करता है, उसी प्रकार ब्रह्म को आश्रय करके सम्पूर्ण जगत्भ्रम होता है। वाचस्पति मिश्र ने अध्यास का संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत करके कहा है कि,' अवभासोऽध्यासः,' उनके अनुसार अवभास ही अध्यास है। स्मृतिरूप, परत्र एवं पूर्वदृष्ट—इन तीनों पदों द्वारा उक्त लक्षण का विश्लेषण हुआ है। भास का अर्थ प्रकाश है। यहाँ पर प्रकाश प्रतीति को कहा गया है। 'अव' पद से अवसाद प्राप्त भास समझना चाहिए। परवर्ती ज्ञान से वाधित होना ही अवसाद को प्राप्त करना है। भ्रम ज्ञान परवर्ती सत्य ज्ञान से बाधित होता है। इसलिए भ्रमज्ञान अवसाद प्राप्त ज्ञान है। इस प्रकार अवभास का अर्थ भ्रम ज्ञान हुआ, और यही अध्यास का लक्षण भी हुआ।[2] शुक्ति-रजत भ्रमस्थल में जिस प्रकार रजत शुक्ति में अध्यस्त है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् प्रपंच भी ब्रह्म में अध्यस्त है एवं मिथ्या है। शुक्ति रजत भ्रम में जो शुक्तिबोध होता है, उसका शुक्तिज्ञान से बाध हो जाता है। बाध होने के कारण ही उक्त रजत अध्यस्त है। उसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से यह प्रपंच एवं अहं-मम आदि व्यवहार बाधित हो जाते हैं। बाधित होते हैं, इसीलिए वे सब अध्यस्त हैं। अध्यास लक्षण में 'परत्र' शब्द द्वारा भ्रमअधिष्ठान का कथन हुआ है। उक्त भ्रमस्थल के दृष्टान्त में जिस प्रकार बिना शुक्ति के रजत-भ्रम नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना सत्य अधिष्ठान ब्रह्म के प्रपंचभ्रम नहीं हो सकता। प्रातिभासिक रजतभ्रमस्थल में पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण अपेक्षित है। इसीलिए अध्यास लक्षण में स्मृतिरूप पद दिया गया है। पंचपादिका में इसकी व्याख्या करते हुए पद्मपाद ने कहा है कि 'स्मृतेः रूपमिव रूपमस्य, न पुनः स्मृतिरेव'[3] अर्थात् स्मृति के समान न कि स्मृति, ऐसा 'स्मृतिरूप' पद का तात्पर्य है। पूर्वदृष्ट होने पर ही वस्तु का संस्कार रहता है और उसीका अवभास परत्र, अर्थात् किसी अधिष्ठान में होना ही ही अध्यास है। इस प्रकार अध्यास लक्षण में दिये गये, सभी पदों की सार्थकता हो जाती है। अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार प्रातिमासिक वस्तुएँ आध्यसिक होती हैं, उसी प्रकार व्यावहारिक प्रपंच भी आध्यासिक है। व्यावहारिक प्रपंच अध्यास के लिए भी प्रपंच के अनादि होने के कारण पूर्व-पूर्व प्रपंच के दृष्ट संस्कारों की संगति बन सकती है। अध्यास में अधिष्ठान की अपेक्षा, अध्यस्त की सत्ता न्यून होती है। इसीलिए परिमलकार अप्पय

---

१. पंचपादिका, पृ० ६२-६३ मद्रास।

२. भाष्यभामती, पृ० १८

३. पंचपादिका, पृ० ४१

दीक्षित ने 'अधिष्ठानासमसत्ताकस्यावभासोऽध्यासः'[1] यह अध्यास का लक्षण किया है, अर्थात् अधिष्ठान से विषम सत्ता के साथ अध्यास होता है। वेदान्त कल्पतरुकार अमलानन्द स्वामी ने' 'असन्निहितस्य परत्र प्रतीतिरध्यासः'[2] ऐसा अध्यास का लक्षण किया है। असन्निधान का अर्थ है अधिष्ठान में वास्तविक अर्थ में वस्तु का न होना। फिर भी उसमें उसकी प्रतीति होना ही अध्यास है। पंचपादिकाकार ने अनेकों दृष्टान्त देकर अध्यासलक्षण को घटाया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार जपाकुसुम के सान्निध्य से स्फटिक में लालिमा आ जाती है, स्फटिक में वस्तुतः लालिमा नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा में अहंकार आदि का उपराग होता है। यही अध्यास है। उन्होंने दर्पण में मुख प्रतिविम्बदर्शन के उदाहरण द्वारा भी अध्यास को समझाया है।[3] आत्मा में वस्तुतः अहंकार आदि धर्म नहीं हैं। वे धर्म अन्तःकरण के हैं। अन्तःकरण के धर्मों को अध्यास के कारण आत्मा में मान लिया जाता है। तथा आत्मा के संसर्ग का अध्यास अन्तःकरण में होता है।[4] अद्वैत वेदान्तियों ने इस आत्मा-अनात्मअध्यास को दो प्रकार का बतलाया है। ज्ञानाध्यास एवं अर्थाध्यास। अर्थाध्यास छः प्रकार का होता है। केवल सम्बन्धाध्यास, सम्बन्धसहित सम्बन्धी का अध्यास, अन्योन्याध्यास, एवं अन्यतराध्यास। सम्बन्धाध्यास में आत्मा का सम्बन्धाध्यास होता है, क्योंकि आत्मा का स्वरूपतः अनात्मा में अध्यास नहीं हो सकता। अन्तःकरण आदि में आत्मा का संसर्ग हो सकता है। इसीको सम्बन्धाध्यास कहते हैं। आत्मा में अनात्मा अन्तःकरण आदि का तथा उनके सम्बन्ध का भी अध्यास होता है। आत्मा में स्थूलदेह के धर्मों का अध्यास होता है। जैसे 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ' इत्यादि। अन्तःकरण के धर्मों एवं स्वरूप का अध्यास आत्मा में होता है। इसी प्रकार अन्योन्याध्यास, अन्यतराध्यास भी समझना चाहिए।[5] मूल बात यह है कि आत्माअनात्मा अध्यास में आत्मा स्वच्छ है, शुद्ध चेतन है, इसीलिए जिस प्रकार स्फटिक में लालिमा का संसर्गाध्यास होता है, स्फटिक में लालिमा चढ़ती नहीं है, वह तो स्वच्छ ही रहता है, उसी प्रकार आत्मा में अन्तःकरण एवं अन्तःकरण के धर्मों तथा शरीर के धर्मों का अध्यास होता है, फिर भी आत्मा स्वच्छ ही रहती है। किन्तु इसी अध्यास को लेकर ही आत्मा में मिथ्या कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का उदय होता है और जीव सुखी-दुखी होता रहता है।

इसी अध्यास को समझाने के लिए अद्वैत वेदान्तियों ने असत्-ख्याति, आत्म-ख्याति, अख्याति एवं अन्यथा-ख्याति आदि ख्यातिवादों का खण्डन करके अनिर्वचनीय

---

१. कल्पतरुपरिमल पृ० १९
२. वेदान्त कल्पतरु पृ० १९
३. पंचपादिका पृ० १००, १०५
४. पंचपादिका पृ० ११३
५. विस्तृत व्याख्या के लिए 'शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण' (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी) पृष्ठ २३ द्रष्टव्य।

ख्याति मानी है।[1] भ्रमस्थल में प्रतीत रजत न सत् और न ही असत् है। सत् होने पर बाधित न होता, असत् होने पर प्रतीत न होता। उक्त रजत की प्रतीति होती है तथा शुक्ति ज्ञान से वह बाधित भी होता है, इस प्रकार की वस्तु को अद्वैत वेदान्त अनिर्वचनीय कहता है।[2] उक्त वस्तु के ज्ञान को अनिर्वचनीय ज्ञान कहा जाता है। यही अनिर्वचनीय-ख्याति है।

यह अध्यास आचार्य शकर के अनुसार अनादि है। इस अनादि अध्यास के कारण आत्मा का स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। अज्ञान-आवरण के कारण उसका स्वरूप आवृत होता है तथा अनात्मा अन्तःकरण एवं शरीर के धर्मों का विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। जब तक आत्म-अनात्मविवेक द्वारा आत्मज्ञान नहीं होता तब तक इस मिथ्या अध्यास का नाश नहीं होगा। इस मिथ्या अध्यास का कारण अनादि अज्ञान है।

अविद्या—आचार्य शंकर ने अध्यास को मिथ्या अज्ञाननिमित्त कहा है।[3] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी अज्ञान को अध्यास का उपादान कहा है।[4] अविद्या अनादि है, इस अविद्या के कारण ही आत्मा-अनात्मा का अध्यास होता है। यही बन्धन है। अविद्या की निवृत्ति के साथ-साथ सम्पूर्ण जगत्भ्रम दूर हो जाता है तथा देहात्म-बोध समाप्त हो जाता है। अविद्या को अज्ञान शब्द से भी अभिहित किया गया है। यह अज्ञान अद्वैतवेदान्त के अनुसार ज्ञानाभावरूप नहीं है। अविद्या का लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य चित्सुख ने तत्वप्रदीपिका के प्रथम परिच्छेद में कहा है कि "अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।" अर्थात् अद्वैत वेदान्त के अनुसार अज्ञान अनादि है, साथ में वह भावरूप है। भावरूप होने के कारण उसे ज्ञानाभाव नहीं कह सकते। ज्ञानाभाव तो अभावरूप है। अज्ञान भावरूप होने पर भी विनाशी है, क्योंकि अज्ञान के विषय में विज्ञान से विलय होने को कहा गया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी अज्ञान का लक्षण चित्सुखाचार्य के समान ही किया है। उनका भी कहना है कि जो भावरूप होते हुए, अनादि होते हुए ज्ञान द्वारा नाश्य है, वही अज्ञान है।[5] वाचस्पति मिश्र ने भी अविद्या को भावरूप ही कहा है।[6] अविद्या को भावरूप कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् प्रपंच अलीक नहीं है। जगत् प्रपंच को अलीक मानने पर अद्वैत वेदान्त का शून्यवाद में प्रवेश होगा। इसलिए अद्वैत वेदान्तियों ने प्रपंच को सत् से भिन्न एवं असत् से भिन्न अनिर्वचनीय कहा है, इस अनिर्वचनीय जगत् का उपादान अविद्या भी अनिर्वचनीय है। अविद्या को अनिर्वचनीय अर्थ में भावरूप कहा जाता है, अर्थात् असत्-

---

१. शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र भूमिका, उस पर परिमल एवं विमुक्तात्माकी इष्टसिद्धि द्रष्टव्य है।

२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६३

३. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० १६

४. पंचपादिका विवरण, पृ० ७३

५. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५४४

६. भावरूपा मताऽविद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह। वेदान्त कल्पतरु १।३।३० सूत्र में टीका।

अलीक पक्ष में अद्वैत वेदान्त को पृथक् करने के लिए अविद्या को भावरूप कहा गया है। यह भावरूपता त्रिकालाबाध्यरूप नहीं है। त्रिकालाबाध्यरूप भावरूपत्व एकमात्र ब्रह्म का ही है। ब्रह्म ही त्रिकालाबाध्यरूप सत् है। अविद्या का ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाता है, इसलिए अविद्या अबाधित सत् नहीं है। अविद्या का बोध होता है, इसलिए वह बन्ध्यापुत्र के समान अलीक भी नहीं है, क्योंकि अलीक का बोध नहीं देखा गया है। अलीक की प्रतीति नहीं होती।[1] इसलिए अलीक विषयक बोध सम्भव नहीं। बाधित विषय का किंचित् भावरूपत्व अर्थात् प्रातीतिक भावरूप त्व अद्वैतवेदान्त को स्वीकार है। अविद्या का भावरूपत्व इसी प्रकार प्रातीतिक भावरूपत्व है। इस प्रकार प्रातीतिक भावरूप अविद्या को उपादान मानने पर जगत् सृष्टि की प्रतीति की संगति भी बैठ जाती है और अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद शून्यवाद से भिन्न हो जाता है। अविद्या का बाध होने के कारण अविद्याकार्य प्रपंच का भी बाध हो जाता है। इसलिए अविद्या एवं प्रपंच इस अर्थ में मिथ्या हैं।

पूर्वोक्त अर्थ में अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्या अनिर्वचनीय है जो सद्रूप से एवं असद्रूप से प्रतिपाद्य नहीं है, उसे अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा जाता है।[2] इसी प्रकार उस अविद्या उपादान से उत्पन्न प्रपंच भी सद्रूप एवं असद्रूप से प्रतिपाद्य न होने के कारण अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय होने पर भी जिस प्रकार रज्जुज्ञान से भ्रमस्थलीय सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म विज्ञान से अविद्या अपने कार्यों सहित बाधित हो जाती है, इसीलिए अविद्या ज्ञानद्वारा निर्वत्य है।

अद्वैतवेदान्तियों में अविद्या के आश्रय के विषय में कुछ मतभेद हैं। कुछ लोग ब्रह्म को अविद्या का आश्रय कहते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अविद्या आदि द्वैत प्रपंच मिथ्या हैं। उस मिथ्या प्रतीति का आश्रय भी ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त परमार्थ है नहीं, जिसे अविद्या का आश्रय कहा जाये। जीव भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। इसीलिए इस मत में अविद्या का आश्रय एकमात्र ब्रह्म ही रह सकता है। अविद्या का ज्ञान से विरोध है, किन्तु ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से अविद्या का विरोध नहीं है, क्योंकि वास्तविक अर्थ में अविद्या भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अविद्या का विरोध वृत्तिज्ञान के साथ है।[3] जब ब्रह्म विषयक वृत्तिज्ञान का उदय होता है, तब अविद्या का नाश होता है। इसीलिए वृत्तिज्ञान से ही अविद्या का विरोध समझना चाहिए, ब्रह्म को अज्ञानाश्रय मानने पर भी ब्रह्म उससे निर्लेप होता है, इसीलिए उसमें अविद्यागत दोष नहीं आते, वह असंग रहता है।[4] अद्वैत-

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५०, ५१

२. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ८९

३. अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किन्तु वृत्ति प्रतिबिम्वितम्।—अद्वैतसिद्धि पृ० ५७७

४. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० ८१

सिद्धिकार ने अविद्या का आश्रय ब्रह्म को ही बतलाया है।[1] वाचस्पति मिश्र ने अविद्या का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म है, कहा है, क्योंकि जीव में ही ब्रह्मविषयक अज्ञान होता है। इस पर शंका हो सकती है कि जीव तो स्वयं अविद्याकृत है, फिर वह अविद्या का आश्रय कैसे बन सकता है ? अविद्या का आश्रय जीव है एवं जीव का जीवत्व अविद्या-कल्पित है, इस प्रकार परस्पर-आश्रयता का दोष होगा। वाचस्पति मिश्र का उत्तर है कि बीजांकुरवत् परस्पर आश्रयता को यहाँ पर दोष नहीं माना जा सकता।[2] वाचस्पति मिश्र के जीवाश्रय अविद्यावाद को विवरण अनुयायियों ने नहीं माना है। उनके अनुसार अविद्या का आश्रय एवं विषय ब्रह्म ही है। अविद्या के आश्रय एवं विषय के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र भी जीवाश्रयअविद्यावादी हैं। उन्होंने ब्रह्मसिद्धि में 'अविद्या जीवानामिति ब्रूम:'[3] कहा है, जीव आश्रित ब्रह्मविषयक अविद्या होती है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। सुरेश्वर के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही है, एवं विषय भी। अज्ञानकल्पित जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता।[4] आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने १।४।३ सूत्रभाष्य में अविद्या को परमेश्वराश्रया माया-मयी कहा है,[5] इसीलिए विवरण आचार्य आदि आचार्यों ने शंकर का ही अनुसरण करते हुए अविद्या को ब्रह्माश्रित माना है। अद्वैतसिद्धिकार ने जीवाश्रित, अविद्या पक्ष को भी असंगत नहीं बतलाया है।[6] विचार करने पर जीवाश्रय पक्ष भी पूर्णतया असंगत नहीं लगता, क्योंकि अज्ञान जीव को ही होता है, वह अज्ञान ब्रह्मविषयक जीव आश्रयक होता है, जैसे भ्रमस्थल में शुक्तिविषयक भ्रान्त व्यक्तिआश्रयक अज्ञान होता है।

कल्पनाभेद से प्रति जीव में अविद्या मानी गई है। एक ही अविद्या कल्पनाभेद से नाना अन्त:करणरूपों में प्रतीत होती है। इसीलिए अविद्या के एक होने पर भी नाना जीव सम्भव हो सकते हैं। कुछ लोग प्रति जीव नाना अविद्या को भी मानते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रति जीव नाना अविद्या मानी है, किन्तु अविद्या का नानात्व भी कल्पित ही है।[7] जो लोग अविद्या को एक मानते हैं, उनके अनुसार भी कल्पित भेद मानना ही पड़ता है। आचार्य शंकर ने अविद्या को माया भी कहा है। उनके अनुसार

---

१. अविद्याया आश्रयस्तु शुद्ध ब्रह्मैव। तदुक्तम्-आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभाग-चितिरेव केवला।—अद्वैतसिद्धि, पृ० ५७७

२. भामती, पृ० ३७८

३. ब्रह्मसिद्धि पृ० १० तथा शंखपाणि टीका, पृ० २९

४. बृहदारण्यक वार्तिक भाग १, श्लोक १७५-१८२

५. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० ३७८

६. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५८५

७. न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वकामाचक्ष्महे, येनैवमुपालम्भेमहि, किन्त्वयं प्रति जीव भिद्यते।—भामती, पृ० ३७७

माया, अविद्या में कोई भेद नहीं है।[१] कुछ लोग आवरण शक्ति प्रधान को अविद्या एवं विक्षेप शक्ति प्रधान को माया कहते हैं। अविद्या की दो शक्तियाँ हैं—आवरण एवं विक्षेप। आवरण शक्ति से अविद्या वस्तु के स्वरूप को आवृत कर लेती है एवं विक्षेपशक्ति से उस वस्तु में विपरीत रूप की प्रतीति करा देती है।[२] जैसे शुक्तिरजत भ्रमस्थल में अविद्या की आवरणशक्ति द्वारा अर्थात् शुक्तिविषयक अज्ञान की आवरण-शक्ति द्वारा शुक्ति का स्वरूप भ्रान्त व्यक्ति के लिए आवृत हो जाता है। अज्ञान की विक्षेप शक्ति द्वारा उस अज्ञात शुक्ति को आश्रय करके रजत की प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार अज्ञान की विक्षेप शक्ति वस्तु को अन्यथारूप में दिखाती है। वस्तु को अन्यथा रूप में देखना ही अध्यास है। इस अध्यास का मूल अज्ञान ही है। अविद्या की सिद्धि में अद्वैत वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। अज्ञान की सिद्धि में श्रुति प्रमाण भी दिये जाते हैं। विवरण आदि ग्रन्थों में अज्ञान की सिद्धि एवं अज्ञान की भावरूपता की सिद्धि में बहुत विस्तार से विचार मिलते हैं। आचार्य चित्सुख ने भी तत्त्वप्रदीपिका में अज्ञान की सिद्धि एवं उसकी भावरूपता पर बहुत विचार किया है। इस विषय में तद्तद् ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

आत्मा एवं ब्रह्म—अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वतःसिद्ध एवं सत् है, यह पहले कहा जा चुका है। आत्मा देहेन्द्रियों से भिन्न वस्तुतः निर्लेप एवं चेतनस्वरूप है। यह आत्मा ही ब्रह्म है 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि श्रुतियों द्वारा आत्मा को ब्रह्म कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सम्पूर्ण प्रपंच का सार है एवं अधिष्ठान है। ब्रह्म के अतिरिक्त वस्तुतः प्रपंच साररहित है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही प्रपंच की प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति अज्ञानमूलक है, अज्ञान का भी आश्रय ब्रह्म है, यह कहा जा चुका है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। इसीलिए ब्रह्म को अभिन्न-निमित्त-उपादान कहा जाता है।[३] श्रुति में एक विज्ञान से सर्वविज्ञान कहा गया है। एक कारण के ज्ञान से सम्पूर्ण कार्य का ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह है कि उपादान कारण को जान लेने से कारणरूप कार्य का 'कारणात्मना' ज्ञान हो जाता है, क्योंकि कार्य कारणरूप ही है। जिस प्रकार घट मिट्टी रूप ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच ब्रह्मरूप है।[४] ब्रह्म प्रपंच का निमित्त कारण भी है, क्योंकि मायाधीश ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वप्रभु, सर्वशक्तिमान है। सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत् कारण के बिना सत् नहीं हो सकता। इसीलिए कारण की सत्ता ही उनमें सत्ता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' है। अर्थात् ब्रह्म में स्वगत-स्वजातीय-विजातीय भेद नहीं है।

---

१. पंचदशीकार विद्यारण्यमुनि ने 'सत्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते' अर्थात् शुद्ध सत्व प्रधान माया एवं मलिनसत्व प्रधान अविद्या—इस प्रकार माया अविद्या भेद किया है।—पंचदशी-१।१६।

२. वेदान्तसार १६, पृ० २५ वाराणसी १९७२

३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, १।४।२३।

४. वही, २।१।१४

ब्रह्म के समान दूसरा ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म में अवयव भेद नहीं है, क्योंकि वह निरवयव है। चेतन के अवयव नहीं होते। ब्रह्म से विजातीय भी कुछ नहीं है। जो कुछ भी है ब्रह्मानतिरिक्त है, इसलिए श्रुति 'नेह नानास्ति किंचन' कहती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह ब्रह्म अप्रमेय है,। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य है। ब्रह्म का अनुमान भी नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान के लिए हेतु की आवश्यकता होती है। ब्रह्म का किसीसे संसर्ग नहीं है, वह निःसंग है, इसलिए श्रुति में 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' कहा है। यह तार्किकबुद्धि से परे है। मन, बुद्धि, वाणी की वहाँ पहुँच नहीं है। वह वाक्य मन का अगोचर है। फिर भी ब्रह्मविषयक कुछ जानकारी के साधन हो सकते हैं, तो एकमात्र शास्त्र ही हो सकते हैं। इसलिए ब्रह्म शास्त्र प्रमाणवेद्य है।[1] शास्त्रप्रमाण लक्षण द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। इसलिए 'महिम्नः स्तोत्र' में पुष्पदन्ताचार्य ने कहा है कि 'चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' श्रुति भी चकित रहकर किसी प्रकार उसका कथन करती है। इसलिए ब्रह्म निषेधात्मक विधि से ज्ञातव्य है। सम्पूर्ण जगत् का बाघपूर्वक अर्थात् निषेध करते हुए, ब्रह्म तक पहुँचना है। ब्रह्म जगत् का विवर्तकारण है, जगत् ब्रह्म का विवर्त है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। किन्तु सत्-चित् एवम् आनन्द ब्रह्म के गुण नहीं हैं। ये सब ब्रह्मरूप हैं, क्योंकि इनको गुण मानने पर इनके साथ ब्रह्म का गुण-गुणी-सम्बन्ध मानना पड़ेगा, उस सम्बन्ध को भी सम्बन्धित करने के लिए एक और सम्बन्ध मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अद्वैत के अनुसार 'सत्' आदि पद अपने में सार्थक होते हुए भी ब्रह्मरूप के ही बोधक हैं।

श्रुति में ब्रह्म के पर-अपर दो रूप बतलाए गये हैं। वस्तुतः ब्रह्म सबसे अतीत है। व्यावहारिक दृष्टि से उसमें पर-अपर भावों का कथन करने के लिए श्रुति में लोक-व्यवहार का अनुवाद मात्र किया गया है, ऐसा अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त है। तात्पर्यलिंग द्वारा विचार करने पर एकमात्र निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म में समस्त वेदान्त वाक्यों का पर्यवसान होता है।[2] यही शांकर सिद्धान्त है। ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय करके मायाधीश ईश्वरभाव को प्राप्त करता है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म का ईश्वरभाव भी मायाशबलित होने के कारण प्रातीतिक है। वस्तुतः अविद्या के अस्तमित होने पर एकमात्र ब्रह्म ही अद्वैतभाव से अवशेष रहता है।

जीव—अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव वास्तविक अर्थ में अविद्या-कल्पित है। तत्वविवेककार एवं प्रकटार्थविवरणकार के अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है। अप्पय दीक्षित ने सर्वज्ञात्ममुनि के मत को उद्धृत करते हुए 'कार्योपाधिरयं जीवः'[3] कहा है। विवरणकार के अनुसार सूर्य जिस प्रकार नाना जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर जीवभावापन्न होता

---

१. श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा सम्भवमिह प्रमाणम्। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १।१।१

२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १।१।४

३. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ८५

है।[1] महाकाश जिस प्रकार घटादि उपाधियों से परिछिन्न होकर घटाकाश और महाकाश आदि के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार विशुद्ध अपरिसीम चैतन्य ही उपाधियों के कारण नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुद्ध चैतन्य ही अहं-अभिमानी जीव के रूप में प्रतीत होता है। जीव स्वरूप की व्याख्या में अद्वैत सम्प्रदाय में दो प्रसिद्ध मत हैं—१. अवच्छेदवाद और २. प्रतिबिम्बवाद। अवच्छेदवादी के अनुसार अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन ही जीव है। अतःकरण के नाना होने के कारण जीव भी नाना दिखाई देते हैं। इस मत में जीव घटाकाश के के समान और ब्रह्म महाकाश के समान है। अवच्छेदवादी के अनुसार जीव के नानात्व सिद्ध होने के कारण जीव ब्रह्म में उपासक-उपास्य-भाव भी वन सकता है।

प्रतिबिम्बवादी अद्वैतवेदान्ती अवच्छेदवाद में अनास्था प्रकट करते हुए जीव की व्याख्या में प्रतिबिम्बवाद की युक्तिसंगतता प्रस्तुत करते हैं। वे वास्तविक अर्थ में जीव-ब्रह्म में अभेदसिद्धि के लिए सूर्य और प्रतिविम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। सूर्य और जलपूर्ण पात्रों में सूर्य प्रतिबिम्बों में भेद नहीं है। यहाँ पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब एक हैं। इसी प्रकार बिम्बस्वरूप ब्रह्म और प्रतिबिम्बस्वरूप जीव में कोई भेद नहीं है। वास्तविक अर्थ में दोनों एक हैं। फिर भी प्रतिबिम्ब के आधार के नाना होने से जिस प्रकार प्रतिबिम्बभाव से सूर्य नाना हो सकता है, उसी प्रकार नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित ब्रह्म भी नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है। यद्यपि विशुद्ध चैतन्य ही जीवरूप में प्रतीत होता है, फिर भी व्यवहार में जीवभेद का निषेध नहीं किया जाता।

कुछ अद्वैताचार्य व्यावहारिक दृष्टि से भी एक जीववादी हैं। उनका कहना है कि अविद्या एक है और एक अविद्या में प्रतिबिम्बभूत जीव भी एक ही है। स्वप्न में जिस प्रकार एक व्यक्ति स्वप्नद्रष्टा होकर भी नाना रूपों में स्वयं को देखता है, उसी प्रकार अविद्या प्रतिबिम्बित जीव भी एक है, नानात्व दर्शन स्वप्न के समान है। अनेक जीववादी अद्वैत आचार्यों का कहना है कि अविद्या के एक होने पर भी अन्तःकरण रूप में अविद्या नाना है और नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित जीव भी व्यवहार में नाना हैं। इस प्रकार व्यवहार में जीव को नाना मानने पर प्रतिकर्मव्यवस्था भी बनी रहती है।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ज्ञातृत्वादि धर्म अध्यस्त हैं, अतः ये धर्म मिथ्या हैं। रामानुजादि दार्शनिकगण जीवकर्तृत्वादि को सत्य धर्म मानते हैं। अद्वैत के अनुसार इन धर्मों को अध्यस्ततया मिथ्या मानने पर ही 'जीवो ब्रह्मैव' कहा जा सकता है। जीवगत परिमाण के विषय में अद्वैतवादी वैष्णव वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत अणुपरिमाण का, एवं जैनदार्शनिकों द्वारा स्वीकृत मध्यम परिमाण का प्रत्याख्यान करते हैं। इस विषय में अद्वैतवादी नैयायिकों के साथ हाथ मिलाते हुए जीव को विभुपरिमाणवाला बतलाते हैं। अन्तःकरणादि उपाधियों द्वारा सीमित हो जाने के कारण जीव सीमित लगने लगता है, वस्तुतः वह विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है, अतएव विभु है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या द्वारा अद्वैत वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं। यहाँ पर विशुद्ध

१. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।३।५०।

चैतन्यांश को लेकर जीव-ब्रह्म की एकता लक्षणा द्वारा मानी जाती है। इस प्रकार अद्वैत के अनुसार जीव का जीवत्वभाव अविद्या के कारण है। वास्तविक अर्थ में वह ब्रह्म ही है।

जगत्—अद्वैतवेदान्त में जगत् को मिथ्या कहा गया है। मिथ्या का अर्थ यहाँ पर अलीक नहीं है। अलीक आकाशकुसुमदि ज्ञान का विषय नहीं बनता। अद्वैतवेदान्ती अपने मिथ्यात्ववाद को शून्यवाद से पृथक् रखने का भरसक प्रयास करते हैं। इनके अनुसार जिस प्रकार विश्व का उपादान अविद्या सदसद्‌विलक्षण अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार अविद्या का कार्य जगत् भी अनिर्वचनीय है। अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से पूर्व तक जगत्-प्रपंच की प्रतीति होती है। इसलिए व्यवहार काल में जगत् का अपलाभ नहीं किया जा सकता। साथ में यह भी समझ लेने की बात है कि ब्रह्मज्ञान से जगत् बाध्य है। अतः जगत्-प्रपंच को त्रिकालाबाध्य नित्य भी नहीं कहा जा सकता। अतः अनिर्वचनीय जगत् मिथ्या है। मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए विवरणकार प्रकाशात्मयति ने कहा है कि 'जो प्रतीयमान उपाधि में प्रतीत हो, परन्तु वह उसमें तीनों कालों में न हो—अर्थात् वह वस्तु उक्त अधिष्ठान में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी हो, उसे मिथ्या कहते हैं।'[1] जैसे—शुक्तिरजत भ्रम स्थल में शुक्तिरूप अधिष्ठान में रजत तीनों कालों में नहीं है, फिर भी शुक्तिविषयक अज्ञान के कारण शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है। वस्तुतः शुक्ति में देखा गया रजत मिथ्या है। उसी प्रकार जगत्-प्रपंच की भी ब्रह्म में प्रतीति भी मिथ्या ही है। ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्-भ्रम का अधिष्ठान है। अद्वैत में निरधिष्ठान भ्रम नहीं माना गया। जिस प्रकार शुक्ति रजत-भ्रम स्थल में शुक्ति को अबलम्बन करके ही रजतभ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्मरूप अधिष्ठान को अबलम्बन करके रजत-भ्रम होता है। जिस प्रकार शुक्ति ज्ञान से रजतभ्रम का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से जगत्‌भ्रम का भी बाघ हो जाता है। जगत् की प्रतीति होती है, इसलिए अद्वैतवेदान्त में इसे अलीक नहीं माना गया। इसकी वास्तविक सत्ता ब्रह्म की सत्ता को लेकर है। आचार्य पद्मपाद ने अनिर्वाच्यत्व को ही मिथ्या कहा है।[2] ब्रह्मसाक्षात्कार से जगत्-प्रपंच का बाघ हो जाता है, इसीलिए विवरणकार प्रकाशात्मयति ने 'ज्ञाननिर्वत्यत्व को मिथ्यात्व' कहा है।[3] ज्ञान द्वारा जिसकी निवृत्ति होती है, वह मिथ्या है। आनन्दबोध भट्टारक ने दृश्यत्व, परिच्छिन्नत्व, एवं जड़त्व आदि हेतुओं से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया है। जगत् एवं जागतिक वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं, दृश्य हैं, तथा जड़ हैं अतएव मिथ्या हैं। जगत् की व्यावहारिक सत्ता की रक्षा के लिए ही आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र 'नाभाव उपलब्धेः' २।२।२८ के भाष्य में विषयीविज्ञानवाद का खण्डन किया है तथा बाह्य वस्तुओं को स्वाप्निक पदार्थों से विलक्षण बतलाया। अद्वैत के अनुसार स्वाप्निक वस्तुएँ प्रातिभासिक हैं तथा जाग्रत्कालीन वस्तुएँ व्यावहारिक हैं। जगत् की व्यावहारिक सत्ता को मानकर ही अद्वैतवेदान्ती जीव-जागत् की व्याख्या भी प्रस्तुत किया करते हैं।

---

१. पंचपादिका विवरण, पृ० २१२ तथा अद्वैतसिद्धि, पृ० ९४
२. पंचपादिका, पृ० ८८
३. अद्वैतसिद्धि, पृ० १६०

सृष्टि की व्याख्या—दार्शनिकों ने नाना पद्धतियों से विश्व सृष्टि की व्याख्या की है। परमतत्व के सम्बन्ध में अपनी-अपनी धारणा के अनुकूल ही सभी दार्शनिकों ने इस सृष्टि को समझने का प्रयास किया है। विश्वसृष्टि को लेकर किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति को यह जिज्ञासा होती है कि सृष्टि का रहस्य क्या है? यह सृष्टि कहाँ से आयी है? ऋग्वेदीय ऋषि भी कहते हैं कि 'कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः' यह सृष्टि कहाँ से हुई? कैसे हुई? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। कारण की दृष्टि से कुछ दार्शनिकों ने भौतिक परमाणुओं से ही इस सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक परमाणु-कारणवादी हैं। किन्तु न्याय-दर्शन निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता है। अनीश्वरवादी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर की मान्यता सृष्टि की व्याख्या के लिए आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार अनादि जीव-कर्म-शृंखला ही सृष्टि का निमित्त हो सकती है। सांख्य दर्शन में चेतन एवं जड़ दोनों ही तत्त्वों की स्वीकृति है। उनके अनुसार प्रकृति अर्थात् प्रधान तत्त्व से सृष्टि की व्याख्या हो सकती है। प्रधान को मानकर सांख्यवादी प्रकृति-परिणामवाद द्वारा सृष्टि की व्याख्या देते हैं। वैष्णव दार्शनिकगण विश्वसृष्टि को ब्रह्म का परिणाम कहते हैं; उनके अनुसार सृष्टि की व्याख्या के लिए सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर की मान्यता ही पर्याप्त है। वैष्णव दार्शनिकगण सृष्टि को परिणाम मानते हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार सृष्टि की व्याख्या परमाणु कारणवाद से, प्रकृति परिणामवाद से तथा ब्रह्म परिणामवाद से नहीं दी जा सकती। उन्होंने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में पूर्वोक्त वादों का, सृष्टि की व्याख्या के सन्दर्भ में खण्डन किया है। उनके अनुसार सृष्टि की व्याख्या के लिए एकमात्र अद्वैत ब्रह्म की मान्यता पर्याप्त है। यह सृष्टि अद्वैत ब्रह्म का विवर्त है। चूंकि अद्वैत वेदान्ती सृष्टि की व्याख्या के लिए अनिर्वचनीय अविद्या के सिद्धान्त को मान लेते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त के माध्यम से वे अद्वैतवादी रहते हुए भी सृष्टि की व्याख्या देने में समर्थ होते हैं। इस व्याख्या के अनुसार सृष्टि के अदि कारण परमाणु नहीं हैं।[1] न ही जड़-प्रकृति है, बल्कि एकमात्र ब्रह्म ही निमित्त एवं उपादान कारण है। मायाशक्ति के माध्यम से ब्रह्म में कारणता मान ली जाती है। वैसे तो कारणता का स्पर्श ब्रह्म में है ही नहीं। 'यतो वा' तथा 'यन्माद्यस्ययतः' आदि उपनिषद्-वाक्य एवं सूत्र ब्रह्म को ही जगत् कारण बतलाते हैं। सांख्य की प्रकृति में ईक्षणा शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है। इसीलिए निमित्त कारण के रूप में प्रकृति का खण्डन हो जाता है। इसी प्रकार विना चेतन अधिष्ठित हुए प्रकृति स्वयं सृष्टि के रूप में परिणत नहीं हो सकती। इसलिए वह उपादान भी नहीं वन सकती।[2] ब्रह्म परिणामवाद को मानने पर अद्वैतवेदान्तियों के अमुसार ब्रह्म को विकारी मानना पड़ेगा, क्योंकि परिणाम में विकार

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।२।११, १२, १३, १४, १५, १६, १७ आदि में परमाणुवाद का खण्डन हुआ है।

२. 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्' ब्रह्मसूत्र १।१।५ तथा ब्रह्मसूत्र द्वितीय अध्याय प्रथम एवं द्वितीय पाद में प्रधान कारणवाद का खण्डन हुआ है।

देखा जाता है।[1] जिस प्रकार दूध से दधि बनता है और दूध विकृत हो जाता है, उसी प्रकार यदि ब्रह्म जगत्‌रूप में परिणत होता है तो उसमें भी विकृति अवश्य आयेगी। श्रुति ब्रह्म को अविकारी बतलाती है, इसलिए शंकर के अनुसार ब्रह्म परिणामवाद श्रुतिविरुद्ध है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मपरिणामवाद का खण्डन किया है।[2] वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्माधीन चित्‌शक्ति के माध्यम से ब्रह्म में परिणाम की संगति बैठाते हैं। साथ ही ब्रह्म को अविकृत भी बतलाते हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्तियों को वैष्णव दार्शनिकों की युक्ति समीचीन नहीं लगती।

विवर्तवाद के अनुसार कारण स्वयं कूटस्थ रहकर भी कार्य को उत्पन्न करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण से कार्य की न्यून सत्ता होती है।[3] अर्थात् कार्य प्रतीयमान होता है। जिस प्रकार शुक्ति रजत भ्रम में शुक्ति अविकृत रहती है तथा उसमें रजत का भ्रम होता है, उसी प्रकार विवर्तवाद में ब्रह्म कूटस्थ एवं अविकृत रहता है एवं उस ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जगत्‌रूप भ्रम होता है। यह भ्रम अलीक नहीं है। व्यवहारकालीन सत् है।

इस प्रकार की सृष्टिव्याख्या को अध्यारोप-अपवाद कहते हैं। अद्वैतवेदान्ती सृष्टि-प्रक्रिया को ब्रह्म में आरोप करके फिर अपवाद द्वारा उसका निषेध करते हैं। यही विवर्तवाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार आकाशादिक्रम से स्थूल शरीर एवं घटपटादि तक सम्पूर्ण सृष्टि की व्यावहारिक व्याख्या दी जाती है। परमार्थतः सृष्टि का निषेध किया जाता है।

मुक्ति और मुक्ति के साधन—अद्वैत वेदान्त दर्शन भी अध्यात्म दर्शन है। यह दर्शन कुछ आध्यात्मिक मूल्यों को लक्ष्य मानकर आगे बढ़ता है। इन आध्यात्मिक मूल्यों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का नाम आता है। इनमें मोक्ष को परम-पुरुषार्थ कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है। यह ब्रह्म की स्वरूपभूत स्थिति है। मोक्ष कोई नवीन प्राप्ति नहीं है। यह आत्मा का अपना स्वरूप है। अपने स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष है। अद्वैत वेदान्ती एक खोये हुए राजकुमार का दृष्टान्त दिया करते हैं। शिकारी के घर में लालित-पालित राजकुमार अपने को शिकारी का बेटा मानता रहा, जब उसे पता चला कि वह राजघराने का राजकुमार है, तब वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।[4] राजकुमार के लिए अपनी पूर्व स्थिति की प्राप्ति कोई नई प्राप्ति नहीं है, अपितु अपने अज्ञान का निराकरण ही है। वह अब यह जान गया कि वह राजकुमार है, न कि शिकारी का बेटा। इसी प्रकार जीव अपने अज्ञान के आवरण के कारण ब्रह्मस्वरूप को नहीं जान पा रहा है और जीवभावापन्न होकर सुखी-दुःखी हो रहा है। जब ब्रह्मविषयक ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति

---

१. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताक कार्यापत्तिः। वेदान्तपरिभाषा, पृ० ५८
२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।१।१४ सूत्र तथा भामती कल्पतरु एवं परिमल टीका भी।
३. विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताक कार्यापत्तिः। वेदान्त परिभाषा, पृ० ५८
४. बृहदारण्यक उपनिषद्—शांकरभाष्य २।१।२०

होगी, तब वह अपनी स्वरूपभूत स्थिति में आसीन हो जाता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में मोक्ष की स्थिति के विषय में विवरण देते हुए कहा है कि मोक्ष एक नित्यसिद्धि अवस्था का नाम है, यह उत्पाद्य और विकार्य नहीं है, नही यह संस्कार्य है। ऐसा मानने पर मोक्ष को अनित्य मानना पड़ेगा।[1]

अविद्या के कारण जीवत्व है और अविद्या की निवृत्ति से ही जीवत्वभाव का बाध होकर शिवत्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। इसीलिए अद्वैतसिद्धि में मधुसूदन सरस्वती ने ग्रन्थारम्भ में ही कहा है कि "मिथ्याबन्धविघूननेन"[2] अविद्या का बन्धन मिथ्या है, इस मिथ्या अविद्याबन्धन के विघूनन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस मिथ्या बन्धन का विघूनन किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तर में हम सुरेश्वर की उक्ति को उद्धृत कर सकते हैं कि:—"तत्वमस्यादि वाक्योत्था सम्यक् धी जन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नास्ति नासीत् न भविष्यति" जब "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्मविषयक सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, उसी समय सम्पूर्ण कार्य सहित अविद्या का बाध हो जाता है और जीव अपने स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यही मुक्ति है, यही परम पुरुषार्थ है।

इस मुक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। ज्ञान होते ही शरीर का पात नहीं होता। अविद्याबन्धन तो विदूरित हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों के कारण शरीर क्रिया बनी रहती है। जिस प्रकार दण्ड द्वारा चक्र को घुमा चुकने पर, पश्चात् कुछ समय तक बिना घूमाये घूमता रहता है, उसी प्रकार पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त यह शरीर ज्ञान होते ही नष्ट नहीं होता, किन्तु प्रारब्ध कर्मों के लेशमात्र भी शेष रहने तक चलता रहता है।[3] इस प्रकार ब्रह्मविषयक ज्ञान द्वारा अज्ञान के नाश हो चुकने पर प्रारब्ध कर्मों के शेष होने तक जीवित रहना ही जीवन्मुक्ति है। प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर जीवन्मुक्त पुरुष का जब शरीरपात होता है, तब उस स्थिति को विदेह-मुक्ति कहते हैं। कहा भी है कि उस परमात्मा के साक्षात्कार से सभी कर्मों का क्षय हो जाता है।[4] अद्वैत वेदान्त के आचार्य मण्डनमिश्र ने जीवन्मुक्ति को साधक की एक उच्चा-वस्था कहा है। उनके अनुसार जीवन्मुक्ति मुक्ति नहीं है, मुक्ति तो विदेहमुक्ति ही है। जीवन्मुक्ति में ज्ञानोदय पूर्णभाव से नहीं होने के कारण उसमें अविद्यालेश शेष रहता है और जब तक अविद्यालेश शेष रहेगा तब तक मुक्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिए मण्डनमिश्र के अनुसार जीवन्मुक्ति सिद्धावस्था नहीं, अपितु उन्नतस्तर की साधकावस्था है। सुरेश्वर आदि अद्वैत आचार्य जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं।

---

१. नित्यश्च मोक्षः······नापि संस्कार्यो मोक्षः। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य सूत्र १।१।४

२. अद्वैतसिद्धि, मंगलश्लोक।

३. सर्वकर्मक्षयेऽपि भुज्यमानविपाकसंस्कारानुवृत्तिनिबन्धना शरीरस्थितिःकुलालव्यापार-विगमइव चक्रभ्रान्तिः।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३१

४. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥—मुण्डक उपनिषद्, २।२८

इस मुक्ति का साधन एकमात्र ज्ञान है। ब्रह्मविषयक ज्ञान ही ब्रह्मविषयक अज्ञान का निवर्तक होगा। अतः ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी; यद्यपि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मस्मि' आदि वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ही ब्रह्म साक्षात्कारज्ञान का उदय होता है फिर भी जब तक साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं किया जाता तब तक साक्षात्कारवृत्ति का उदय नहीं हो पाता।[1] इसीलिए सर्वप्रथम साधन चतुष्टय सम्पन्न होने के लिए कहा गया है। साधनचतुष्टय इस प्रकार हैं:—१-नित्यानित्यवस्तुविवेक २. इहामुत्रफलभोगविराग ३. शमादिषट्क सम्पत्ति ४. मुमुक्षुत्व। ब्रह्मवस्तु ही नित्य है और अन्य सभी अनित्य हैं, इस प्रकार विवेक ही नित्यानित्य विवेक है। सभी के प्रति वैराग्य की भावना ही विराग है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा—ये षट्कसम्पत्ति हैं। मुक्ति की इच्छा ही मुमुक्षुत्व है। इस प्रकार साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी वेदान्त श्रवण करने के पश्चात् मनन एवं निदिध्यासन करके 'तत्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यों द्वारा उदित साक्षात्कार वृत्ति को दृढ़तर करता है। और अन्त में सविकल्पक और तदनन्तर निर्विकल्पक समाधियों कीस्थिति में 'अहं ब्रह्मस्मि' नामक वृत्तिज्ञान द्वारा समूल अविद्या के नाशपूर्वक ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति वृत्तिज्ञान नहीं कराती, अपितु वृत्तिज्ञान से अज्ञान का नाश होता है और तभी ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति स्वरूप प्राप्ति है, इसीलिए इसे प्राप्ति न कहकर प्राप्ति के समान कहा गया है। यही अद्वैत के अनुसार परमपुरुषार्थ है, यही अमृतत्व है और अद्वैत की स्थिति है जिसके लिए ब्रह्म जिज्ञासा की जाती है।

---

१. आत्मावारे, द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
—वृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५

प्रथम अध्याय

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म

आत्मा का स्वरूप—अद्वैत वेदान्त में सत् की खोज करने की दो पद्धतियाँ हैं। एक विषयनिष्ठ, दूसरी विषयीनिष्ठ। विषयनिष्ठ पद्धति के अनुसार समस्त कार्यरूप संसार के कारण तत्त्व की खोज की जाती है। 'नेहनानास्तिकिंचन, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों द्वारा सत् को जानने की विषयनिष्ठ पद्धति का आभास मिलता है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से विषयीनिष्ठ पद्धति का आभास मिलता है। इसी प्रकार वेदान्त सूत्रों एवं भाष्य द्वारा भी उक्त दो पद्धतियों का संकेत मिलता है। विषयनिष्ठ पद्धति में हमारे सामने विषयरूप में उपस्थित कार्यरूप नानात्व के कारण की खोज की जाती है और करणात्मना सत् को जानने का प्रयास किया जाता है। 'यन्माद्य-स्ययतः' (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र से भी इसी विषयनिष्ठ पद्धति की ही पुष्टि होती है। पाश्चात्य दर्शन में इस विषयनिष्ठ पद्धित का दर्शन हमें प्लेटो, आरिस्टोटल, स्पिनोजा, ब्रेडले आदि के दर्शनों में होता है। इन दर्शनों में विषयीनिष्ठ पद्धति का दर्शन हमें नहीं होता। देकार्त के दर्शन में दर्शन की विषयीनिष्ठ पद्धति का दर्शन होता है। देकार्त अपने दर्शन को आत्मकेन्द्रित मानता है। इसीलिए वह सर्वप्रथम सन्देहपद्धति द्वारा आत्मा की सिद्धि करता है। आत्मा को वह निःसन्देह सत्य मानता है और उक्त आत्मा को केन्द्र बनाकर जीव-जगत् आदि की सिद्धि करता है। आत्मा विषयी है, इसीलिए आत्मनिष्ठ दर्शनपद्धति को हमने विषयीनिष्ठ पद्धति कहा है।

अद्वैत वेदान्त में जैसा कि ऊपर कहा गया है उक्त दोनों पद्धतियों का उपयोग सत् को जानने के लिए किया गया है। आचार्य शंकर आत्मा को स्वतःसिद्ध कहते हैं और यह कहते हैं कि कोई भी "मैं नहीं हूँ" इस प्रकार अनुभव नहीं करता। अतः इस आत्मा के स्वरूप की खोज करनी चाहिए। यही आत्मा सत् है, इस प्रकार विषयीनिष्ठ पद्धति से सत्य तक पहुँचा जाता है। विषयीनिष्ठ पद्धति में उपनिषद्वाक्यों के आधार पर नानात्व को विश्लेषणपूर्वक मिथ्या सिद्ध किया जाता है तथा एक सत् की खोज की जाती है। कार्यरूप जगत् के मिथ्या सिद्ध होने पर कारणरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत् सिद्ध होता है।

वही ब्रह्म आत्मा है। इस प्रकार विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ दो भिन्न पद्धतियों से एक सत् का ज्ञान होता है।

आत्मा के विषय में दो मतों का अद्वैत वेदान्ती प्रत्याख्यान करते हैं। चार्वाक् अभिप्रेत भूतचैतन्यवाद का तथा बौद्धदर्शन अभिप्रेत नैरात्म्यवाद का खण्डन भूतातिरिक्त चैतन्यात्मवादी को करना पड़ता है। भूतचैतन्यवादी आत्मचेतना को भूतचेतना मानते हैं, इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में वेदान्तदर्शन के अनुसार वे अन्यथावादी हैं। नैरात्म्यवादी बौद्ध आत्मा के अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करते हैं, अतः वे अनात्मवादी हैं।

अद्वैत वेदान्त आत्मकेन्द्रित दर्शन है। इस शरीर में आत्मा को सुखी-दुःखी के रूप में मनुष्य अनुभव करता है। संसार में सांसारिक सुख की जो अनुभूति होती है, विवेकी पुरुष के अनुसार वह भी वस्तुतः दुःखानुभूति ही है।[1] संसार में सुख-दुःख मिश्रित हैं। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख, इस प्रकार परम्परा बनी रहती है। शास्त्र में आत्मा को परमसुख स्वरूप कहा गया है, परन्तु संसार में परमसुख की अनुभूति हमें नहीं होती। ज्ञानी पुरुषों के अनुसार इसका कारण अज्ञान है। इसी अज्ञान से ग्रस्त होने के कारण आत्मा सांसारिक सुख-दुःखों को अनुभव करती है। इसीलिए अज्ञान को अद्वैताचार्यों ने बन्धन का कारण माना है। बन्धन से ही दुःखों की उत्पत्ति है। दुःखों से मुक्ति पाने के लिए बन्धन से मुक्त होना पड़ेगा। बन्धन से मुक्त होने के लिए अज्ञान या अविद्या को दूरीभूत करना होगा। अविद्या को दूरीभूत करने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानना होगा। आत्मस्वरूपज्ञानार्थ ही सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रों का उपदेश है। इसीलिए वेदान्त दर्शन को आत्मकेन्द्रित कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र में 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र १-१-१, इस सूत्र में ब्रह्म के स्वरूप की जिज्ञासा का उल्लेख किया है, फिर भी आचार्य शंकर ने दार्शनिक जिज्ञासा आत्मा के स्वरूप की जिज्ञासा से ही प्रारम्भ की है। ऐसा इसीलिए किया गया, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। चूँकि आत्मा के विषय में सामान्य ज्ञान हमें होता है, अतः आत्मा के विशेष स्वरूप की जिज्ञासा की जा सकती है और आत्मस्वरूप को जानकर ब्रह्मस्वरूप को जाना जा सकता है। जब तक आत्मा और ब्रह्म का एकत्व बोध नहीं होता तब तक ब्रह्म का वैसा सामान्य ज्ञान भी नहीं होता जैसा कि आत्मा का होता है, अतः आचार्य शंकर ने आत्मा के स्वरूप-विवेचन से ही दार्शनिक विश्लेषण प्रारम्भ किया है। इस विषय में आचार्य शंकर ने स्वयं युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं कि आत्मा सामान्यतया तो प्रसिद्ध है, किन्तु विशेषस्वरूपतया प्रसिद्ध नहीं, अतः विशेषस्वरूप की खोज की जानी चाहिए।[2]

आत्मा के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में विप्रतिपत्तियाँ हैं। जहाँ तक अहं-अहं करके अनुभूति का प्रश्न है, वह अनुभूति सभी को समान रूप से होती है। अतः अहं या मैं के वर्तमान रूप में निराकरण कोई नहीं करते। अपितु जो लोग अनात्मावादी हैं वे

---

१. दुःखमेवसर्वं विवेकिनः।—योगदर्शन २।१५।
२. सर्वदर्शनसंग्रह—चार्वाक दर्शन।

आत्मा के विशेष स्वरूप का निराकरण करते हैं। भारतीय दर्शन में चार्वाक दार्शनिक देहात्मवादी हैं। चार्वाक के अनुसार चार भूतों के समष्टिरूप शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतना की उत्पत्ति होती है, उसी को लोग आत्मा कहते हैं। वस्तुत: वह चेतना शरीर की ही चेतना है। शरीर से पृथक् नहीं। शरीर के नाश के साथ चेतना का भी विनाश हो जाता है। अत: इस मत के अनुसार कोई नित्य आत्मा नहीं है। न ही जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आत्मा रहती है। मृत्यु के साथ-साथ मनुष्य का अस्तित्व आत्मिक रूप से भी समाप्त हो जाता है अत: न परलोक है, न पुनर्जन्म। जिस प्रकार पान, चूना, कत्था, सुपारी को मिलाने से लाल रंग की उत्पत्ति होती है, लाल रंग पूर्वोक्त चार वस्तुओं में नहीं हुआ करता है, इसी प्रकार चार भूतों के मिश्रण से शरीर में चेतना की उत्पत्ति होती है।[1] पंडित सदानन्द योगीन्द्र ने 'वेदान्तसार' में देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मन-आत्मावाद, प्राणात्मवाद इत्यादि आत्मा के विषय में विभिन्न चार्वाक् मतों का विवरण उपनिषद्वाक्य उद्धृत करके दिया है।[2] आत्मा के विषय में उक्त चार्वाक मतों का सभी अन्य भारतीय दार्शनिकों ने खण्डन किया है, क्योंकि नित्यात्मवादी और पुन-र्जन्मवादी के लिए आत्मा या चेतना के विषय में उक्त मत समीचीन नहीं बैठते। अन्य भारतीय दार्शनिक चेतना को भूतों से उत्पन्न नहीं मानते, अत: चार्वाक और अन्य भारतीय दर्शनों में मौलिक मतभेद होने के कारण ही आत्मा के विषय में मतभेद हैं, शारीरातिरिक्त आत्मा की सिद्धि में न्यायवैशेषिक, वेदान्ती आदि सभी दार्शनिक तत्पर रहते हैं। आत्मा के विषय में चार्वाक मतों को मान लेने पर अनित्यात्मा मानना पड़ेगा और उससे 'कृतप्राणाश अकृताभ्युपगम' दोष होगा। यही चेतनात्मवादियों की आत्मा की सिद्धि में प्रधान युक्ति है। आत्मा को नित्य न मानने पर कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या भी समीचीन नहीं हो पायेगी, ऐसी वैदिक दार्शनिकों की मान्यता है।

बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद का खण्डन—बौद्ध दर्शन में स्थायी आत्मा स्वीकृत नहीं है। बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान प्रवाह के ऊपर ही आत्मा का आरोप किया जाता है। विज्ञान प्रवाह के ऊपर नैरात्म्यदृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है। बौद्धों के इस मत को नैरात्म्यवाद कहा गया है। शून्यवादी बौद्ध भी नैरात्म्यवाद के परिपोषक हैं। लंकावतार सूत्र में भी नैरात्यम्यत्वाद का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने माध्य-मिक कारिका में नाना प्रकार युक्तियों द्वारा नैरात्म्यवाद का समर्थन किया है। नैरात्म्य-

---

१. अतिप्राकृतस्तु—आत्मावैजायते पुत्र:······पुत्र आत्मेतिवदति।
चार्वाकस्तु—सवाएष पुरुषोऽन्नरसमय—स्थूलशरीरमात्मेति वदति।
अपरश्चार्वाक:—ते प्राणा: प्रजापतिं······इन्द्रियाण्यात्मेतिवदति।
अपरश्चार्वाक:—अन्योऽन्तर आत्मा······प्राण आत्मेतिवदति।
अन्यस्तु चार्वाक:—अन्योऽन्तर आत्मा······मन आत्मेति वदति।
बौद्धस्तु—अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय···बुद्धिरात्मेतिवदति।
वेदान्तसार ३६-४१ पृ० ४४-४७ बालकृष्ण सं० वाराणसी, १९७२।

२. मध्यमक शास्त्र—आत्मपरीक्षा प्रकरण पृ० १४५-१६२।

वादी बौद्ध दार्शनिक आत्मा के नास्तित्वसिद्धि में निम्न प्रकार अनुमान प्रस्तुत किया करते हैं— आत्मा का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि आत्मा का जन्म नहीं होता, जिसका जन्म नहीं होता उसका अस्तित्व नहीं होता। जैसे शशश्रृंग।[1] उपर्युक्त अनुमान में आत्मा का नास्तित्व साध्य है, अजातत्व हेतु तथा शशश्रृंग दृष्टान्त हैं। दृष्टान्त शशश्रृंग का अस्तित्व नहीं है तथा उसका जन्म भी नहीं, इस प्रकार दृष्टान्त उभयवादी निर्विरोध है। जन्म रहित होता हुआ शशश्रृंग यदि अलीक हो सकता है तो जन्म रहित आत्मा अलीक क्यों नहीं होगा? आत्मा की उत्पत्ति नहीं है, यह बात शाश्वत आत्मवादी दार्शनिक मानते हैं। दृष्टान्त के बल पर नैरात्म्यवादी बौद्ध दार्शनिक 'जहाँ-जहाँ उत्पत्तिरहितत्त्व वहाँ-वहाँ अलीकत्व' इस प्रकार व्याप्ति बना लेते हैं और व्याप्ति के बल पर पक्ष में अर्थात् आत्मा में अलीकत्व-नास्तित्व सिद्ध करते हैं। अनुमान के अवयव हेतु के पक्ष में होने का अर्थ है—साध्य का भी वहाँ पर होना। नैरात्म्यवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान में न्याय-वार्तिककार उद्योकर ने आपत्ति उठायी है कि आत्मा को पक्ष बनाकर अनुमान करने का अर्थ है कि आत्मा की सिद्धि करना। आत्मा नहीं है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा से आत्मा की सिद्धि ही होती है। आत्मा के न होने पर अर्थात् आत्मा के अलीक होने पर आत्मा नहीं है, यह प्रतिज्ञा उपपादित नहीं हो सकती, क्योंकि न्याय के अनुसार अभाव का प्रतियोगी हुआ करता है, अभावबुद्धि के लिए प्रतियोगी कारण बनता है। अतः 'आत्मा नहीं है' इस अभाव का भी प्रतियोगी अवश्य होना चाहिए और प्रतियोगी के रूप में आत्मा की सिद्धि हो जाती है। इसके उत्तर में शून्यवादी का कहना है कि शशश्रृंग अलीक है, यह सभी स्वीकार करते हैं। शशश्रृंग के अलीक होने पर भी 'शशश्रृंग नहीं है, इस प्रकार के अभाव बोध होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। शशश्रृंग का सर्वकाल एवं सर्वदेश में अभाव है। इस प्रकार अलीक शशश्रृंग का अभाव बोध यदि सम्भवपर है तो 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार की प्रतिज्ञा द्वारा अलीक आत्मा के अभावबोध होने में क्या बाधा है? इस पर उद्योतकार आदि नैयायिकों का कहना है कि नैरात्म्यवादी बौद्धों द्वारा आत्मा के नास्तित्वानुमान में जो शशश्रृंग का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है, वह असंगत है। 'शशश्रृंग नहीं है' इस कथन द्वारा शशश्रृंग नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह बोध नहीं होता, बोध की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि शशश्रृंग अलीक है, इस बात को सभी जानते हैं। इसलिए उसका निषेध हो नहीं सकता। यहाँ पर शशश्रृंग निषेध का अर्थमात्र इतना ही है कि जिस प्रकार गऊ, भैंस आदि की सींग होती है वैसी सींग शशक की नहीं होती। शून्यवाद के मत में आत्मा यदि अत्यन्त असत् है, तब उसका अभाव बोध या निषेध सम्भव नहीं हो सकेगा। इसी कारण अभाव विशेषज्ञ नैयायिक अलीक वस्तु का, अलीक प्रतियोगिक अभाव स्वीकार नहीं करते। न्याय की दृष्टि में 'आत्मा नहीं है' कथन द्वारा किसी क्षेत्र में, किसी समय में आत्मा का अभाव समझा जा सकता है। और भी बात यह है कि अनुमान का पक्ष प्रसिद्ध होना चाहिए। साध्य का आधार पक्ष यदि अप्रसिद्ध होता है तो अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष होता है जो कि हेत्वाभास है। अलीक आकाशकुसुम को

१. नास्ति आत्मा अजातत्वात् शशविषाणवत्, न्यायवार्तिक ३।१।१

को आश्रय करके 'आकाश कुसुम सुरभि' इस प्रकार आकाश कुसुम में सुगन्धि की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि यहाँ पर आश्रय ही असिद्ध है। आर्थात् आकाश कुसुम स्वयं असिद्ध है, इसी प्रकार आत्मनास्तित्व अनुमान नहीं समझना चाहिए। आत्मनास्तित्व अनुमान में जन्मरहित्व को हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर प्रश्न यह किया जा सकता है कि जन्मराहित्य से बौद्धों का क्या तात्पर्य है? न्याय, वेदान्त के अनुसार आत्मा का अभिनव देह के साथ सम्बन्ध को गौण रूप से जन्म कहा जा सकता है। वस्तुतः आत्मा के नित्य होने के कारण उसका जन्म नहीं होता। नित्य पदार्थ के जन्म न होने पर वह है ही नहीं; यह बात कैसे सिद्ध होती है? 'आत्मा का जन्म नहीं होता' इससे आत्मा नित्य है। यह सिद्ध होता है न कि आत्मा नहीं है, अतः आत्मा के नास्तित्व सिद्धि में जन्म राहित्य या अजातत्त्व हेत्वाभास है।

वस्तुतः बौद्धदर्शन के अनुसार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार, ये पंच स्कन्ध हैं और इन पर आत्मा का आरोप होता है, अर्थात् आत्मबुद्धि होती है। इन पर जो आत्मबुद्धि होती है वह वस्तुतः आत्मा न होकरके आध्यासिक आत्मा है। इन्द्रियग्राह्य रूप, रस आदि विषय रूप स्कन्ध हैं। आलय विज्ञान एवं प्रवृत्ति विज्ञान विज्ञान स्कन्ध हैं। रूप स्कन्ध एवं विज्ञान स्कन्ध के सम्बन्ध के कारण जो सुख-दुःख आदि उत्पन्न होते हैं वे वेदना स्कन्ध हैं। संज्ञायुक्त विज्ञानप्रवाह को संज्ञास्कन्ध कहते हैं। वेदनास्कन्ध से जन्म राग, द्वेष, मद, मान, अभिभान, धर्म, अधर्म, आदि को संस्कार स्कन्ध कहते हैं। इन पंच स्कन्धों के अतिरिक्त बौद्धमत में आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। आत्मा का तत्त्व गहन है। विशुद्ध आत्मा जो कि सत् है, वाक्य एवं मन का अगोचर है। वहाँ तक हमारी बुद्धि नहीं पहुँच सकती, इसीलिए उस आत्मा का कथन सम्भव नहीं है। बौद्धदर्शन में आत्मा के प्रत्याख्यान से यही बोध होता है कि स्कन्धों में जो आत्मबुद्धि की जाती है, वह यथार्थ बुद्धि नहीं है, इसलिए बौद्ध दर्शन में आत्मा के विषय में नेति-नेति करके वर्णन मिलता है। अर्थात् आत्मा का खण्डन ही मिलता है। इससे पूर्णतया शुद्ध आत्मा का खण्डन या मण्डन नहीं हो पाता। बुद्ध ने इसीलिए आत्मा विषयक प्रश्न के उत्तर में आत्मा को दुर्ज्ञेय कहा था।

इसीलिए शून्यवादी माध्यमिक आत्मा के विषय में अस्ति-नास्ति दोनों पक्षों का खण्डन करते हैं।[1] माध्यमिक आत्मा के विषय में उक्त दोनों पक्षों का खण्डन इसीलिए करते हैं कि वस्तुतः आत्मा की अवधारणा हमारी बुद्धि के बाहर है। इस प्रकार विचार करने पर निरपेक्ष रूप में सत् की अवधारणा सम्भव नहीं, क्योंकि अवधारणा किन्हीं माध्यमों से होगी और जिसकी अवधारणा होनी है वह तो अछूता ही रह जायेगा। इसलिए अद्वैत वेदान्ती 'शाखाचन्द्रन्याय' तथा लक्षणा की बात करते हैं।[2]

जो भी हो, भूतातिरिक्त आत्मवादी अधिकांशतः बौद्धदर्शन को नैरात्म्यवादी

---

१. बुद्धैर्नात्मा न चानात्माकश्चिदित्यपिदेशितम्।
यथैव-हि आत्मदर्शनमतत्वम्, एवं तत्प्रतिपक्षभूतमपिअनात्मदर्शनंनैव तत्वमिति।
माध्यमकशास्त्र आत्मपरीक्षा, चन्द्रकीर्ति टीका भी पृ० १५२

दर्शन कहते हैं। न्याय दार्शनिक आत्मवादी दार्शनिक हैं। यद्यिप आत्मा के स्वरूप के विषय में अद्वैत वेदान्त से उनका महान् भेद है, फिर भी भूतातिरिक्त आत्मवादी होने में दोनों दार्शनिक एक दूसरे से हाथ मिलाते हैं। नैयायिक ज्ञान को गुण मानते हैं। ज्ञान गुण के आश्रय के रूप में आत्मा की सिद्धि करते हैं।[1]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वतःसिद्ध है। आत्मा के विषय में विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। देकार्त के समान आचार्य शंकर भी यही कहते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं के विषय में सन्देह किया जा सकता है, किन्तु आत्मा के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। सन्देह करने पर सन्देहकर्ता के रूप में आत्मा की सिद्धि हो जाती है।[2] आत्मा की सिद्धि के लिए वस्तुतः किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, अपितु आत्मा के कारण ही प्रमाणों में प्रामाणिकता आती है। आत्मा के अभाव में प्रमाणों में प्रमाणिकता सम्भव नहीं। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति।[3]

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि आचार्य शंकर जिस आत्मा को स्वतःसिद्ध कहते हैं, वह वस्तुतः उनके अनुसार आत्मा नहीं है। वह तो सोचने की प्रक्रिया में स्थित अध्यस्त आत्मा है जो उनके अनुसार मिथ्या है। स्वरूप सत् आत्मा सोचने की प्रक्रिया में स्थित नहीं है। वह तो इन प्रक्रियाओं से अतीत है। हम यह भी कहने में विषयनिष्ठ रूप में अपने को असमर्थ पाते हैं कि आत्मा इन प्रक्रियाओं से अतीत है। वस्तुतः स्वरूप सत् आत्मा को हम अपने ज्ञान की सीमा में कैसे घसीट करके ला सकते हैं? अगर नहीं ला सकते तो हम कैसे कह सकते हैं कि निराकर्ता के रूप में आत्मा की सिद्धि होती है। यह ठीक है कि निराकर्ता के रूप में ही किसी आत्मा की सिद्धि होती है, किन्तु वह अद्वैत वेदान्त-अभिप्रेत आत्मा नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जिस प्रकार ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय के सम्बन्ध में आगत आत्मा आध्यासिक अतएव मिथ्या है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन के अनुसार भी पंचस्कन्धों को आधार मानकर आरोपित आत्मदृष्टि मिथ्या दृष्टि है। अद्वैत वेदान्त की भाषा में वह आध्यासिक आत्मा है। अद्वैत वेदान्त में 'अहं' को आत्मा न मानकर अध्यस्त एवं मिथ्या कहा है।[4] इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार भी अह-प्रत्यय मिथ्या है, उसे आत्मा समझना भ्रम है। इस विषय में बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त में अन्तर इतना ही है कि बौद्ध दर्शन नेति-नेति करके इन भौतिक प्रक्रियाओं में आत्मा नाम की कोई सद् वस्तु नहीं है, ऐसा कहता है। अद्वैत वेदान्त भी नेति-नेति करके शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि में से किसीके भी आत्मा होने का खण्डन करता है, किन्तु यह दर्शन एक कदम आगे बढ़कर विधिरूप से आत्मा के विषय में कुछ कहने का साहस करता है। यद्यपि इस प्रकार के प्रयास में उसे बहुत अधिक सफलता शायद ही मिली हो।

भूतचैतन्यवादी चार्वाक और नैरात्यम्यवादी बौद्धों के विरुद्ध वैदिक दार्शनिकों

---

१. ज्ञानाधिकरणमात्मा। तर्कसंग्रह, आत्मनिरूपण प्रकरण।
२. य एवनिराकर्ता तस्यैव आत्मत्व प्रसंगात्। ब्र० सू०, शांकर भाष्य १।१।१
३. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य। पृ० ३६, ४१, ४२
४. अद्वैतसिद्धि 'अहमर्थानात्मत्वोपपत्तिः' प्रकरण पृ० ५६५-६०४

का संघर्ष आत्मा की सिद्धि और असिद्धि को लेकर है। चार्वाक और बौद्ध वैदिक दार्शनिकों के अर्थ में आत्मा को स्वीकार करते ही नहीं, अतः आत्मा के स्वरूप के विषय में वैदिक दार्शनिकों को उनसे इस विषय में उलझने की बहुत आवश्यकता नहीं है।

वैदिक दार्शनिकों में आत्मा के स्वरूप के विषय में मतभेद हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा, विभु, ज्ञानस्वरूप, नित्य और एक है, इसीलिए इन बातों में अन्य दार्शनिकों के साथ उसका मतभेद होना स्वाभाविक है। अद्वैत वैदान्त ने आत्मा के स्वरूप के विषय में न्याय-वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित मत का खण्डन किया है। न्याय-वैशैषिक के मत में आत्मा ज्ञाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, यह बात हमने पहले ही कही है। ज्ञान उसका स्वरूप नहीं। इस प्रकार के आत्मा को अद्वैत वेदान्त में स्वीकार नहीं किया गया। ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर गुण और गुणी में सम्बन्ध मानना पड़ेगा, जैसा कि न्याय-वैशेषिक मानते हैं। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान सुखादि गुण उत्पत्ति-विनाशशील हैं। इसीलिए अद्वैत का तर्क है कि उत्पत्ति-विनाशशील गुणों के साथ आत्मा का तादात्म्य होने पर आत्मा भी उत्पत्ति-विनाशशील होगा तथा अनित्य होगा। न्याय-वैशेषिक आत्मा को ज्ञानाधिकरण मानते हुए नित्य मानते हैं। नित्य और अनित्य वस्तुओं का अभेद युक्तिविरुद्ध है। चूंकि अद्वैत वेदान्ती वृत्तिज्ञान और स्वरूपज्ञानभेद से ज्ञान दो प्रकार मानते हैं, इसीलिए उनके अनुसार नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा के नित्य होने में कोई बाधा नहीं। साथ में वृत्तिज्ञान उत्पतिविनाशशील हो, इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। वैसे तो न्यायमत में भी परमात्मगत ज्ञान नित्य है। इस प्रकार उनके मत में भी ज्ञान के दो प्रकार माने गये, फिर भी वे आत्मा में नित्य ज्ञान को मानने में संकोच करते हैं। इस विषय में सांख्य का मत अद्वैत वेदान्त से मिलता-जुलता है। आत्मा विभु है, इस बात में न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि एक मत हैं।

बौद्धविज्ञानवादी जिस प्रकार 'अहं-अहं' इस प्रकार क्षणिक आलय विज्ञान प्रवाह को ही आत्मा कहते हैं और इसके अतिरिक्त कोई स्थायी आत्मा नहीं है, कहते हैं, इसीको अहं विज्ञान सन्तति अथवा विज्ञान स्कन्ध भी कहते हैं, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक ज्ञान को आगन्तुक गुण मानकर आत्मा को ज्ञानाधिकरण होने की व्यवस्था करते हैं। दोनों मतों में इतना ही अन्तर है कि बौद्ध विज्ञानवादी विज्ञानसन्तान के अतिरिक्त उसके अधिकरणात्मा को नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक के समान ही रामानुज, माध्व आदि भी ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं मानते।

कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा चिदचिद्रूप है अथवा चित्-जड़-स्वभाव है। सुषुप्तिकाल में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, परन्तु 'कुछ भी नहीं जानता था' इस प्रकार सुप्तोत्थित व्यक्ति के अनुभव से पता चलता है कि आत्मा प्रकाश-अप्रकाशरूप है। जैनाचार्यगण भी आत्मा को चेतनरूप मानते हुए भी ज्ञानादि रूप में इसका परिणाम मानते हैं। कुमारिल भट्टाचार्य के अनुसार आत्मा अतीन्द्रिय, अप्रत्यक्ष एवं अनुमानगम्य है। जैनमत में वह स्व-पर प्रकाश है। अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य दार्शनिक आत्मा के एवंभूत

स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार चित् और अचित् परस्पर प्रकाश और अन्धकार के समान विपरीत हैं। इस प्रकार विपरीत दो धर्मों को आत्मा में नहीं माना जा सकता। आत्मा एक ही काल में चित् और अचित् नहीं हो सकता। अद्वैत मतानुसार आत्मा चिद्रूप है। सुषुप्तिकाल में जो जड़ता का अनुभव होता है, वह आत्मा का जड़त्व न होकर गुणमयी बुद्धि का धर्म है। यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि आत्मा यदि नित्य ज्ञान-स्वरूप है तो ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश किस प्रकार सम्भव है ? सांख्य और अद्वैत वेदान्त के अनुसार उत्तर यह होगा कि उत्पन्न एवं अनित्य ज्ञान वृत्तिज्ञान है। वह आत्मस्वरूप ज्ञान नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान बुद्धि या अन्तःकरण का धर्म है जो कि जड़ है। अध्यास के कारण आत्मा में 'मैं जानता हूँ' आदि अनित्य ज्ञान का सम्बन्ध प्रतिभास होता है। वस्तुतः वृत्तिज्ञान का भी भासक नित्यबोधरूप आत्मा ही है।

सांख्यदर्शन के अनुसार यह आत्मा नाना है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्याकारिका में आत्मा के नानात्व का प्रतिपादन किया है। एक के जन्म लेने से सब जन्म नहीं लेते, एक के मरने से सब नहीं मरते, एक के देखने से सब का देखा हुआ नहीं होता, एक के सुनने से सबका सुना हुआ नहीं होता, एक के कर्म में प्रवृत्त या अप्रवृत्त होने पर सभी की प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति होती हुई नहीं दिखाई देती। सत्व-रज, एवं तमोगुणों के वैचित्र्य से व्यक्तिभेद देखा जाता है; कोई सत्व-प्रधान, कोई रजः प्रधान, कोई तमः प्रधान है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं है, अपितु नाना है।[1] सांख्य द्वारा स्वीकृत इस नानात्मवाद को न्यायवैशेषिक तथा वैष्णव वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं। सांख्य, न्यायवैशेषिक आत्मा को विभु परिमाण मानते हुए भी प्रति शरीर भिन्न मानते हैं। वैष्णव वेदान्ती तो आत्मा को अणुपरिमाण ही मानते हैं, इसलिए उनके लिए आत्मा को प्रति शरीर भिन्न मानने में उतनी कठिनाई नहीं है जितनी कि विभु मानने वालों को। विभु आत्मवादी न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि के अनुसार एक ही आत्मा के सर्वत्र होने पर भी किसी एक ही अन्तःकरण में उसका प्रकाश होता है।

उपर्युक्त आत्मबहुत्ववाद को अद्वैत वेदान्ती स्वीकार नहीं करते। अद्वैत-वेदान्ती 'सदेवसोम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति प्रमाणों के बल पर एकात्मवाद की ही स्थापना करते हैं। एक ही सद्वस्तु सर्वत्र विद्यमान है, सभी आत्मसत्ता से सत्तावान हैं। अन्तःकरण उपाधि से नाना जीव होने पर भी वस्तुतः आत्मा एक ही है। नाना जीव अध्यासजनित हैं जबकि आत्मा शुद्ध पारमार्थिक है।

ब्रह्म का स्वरूप—अद्वैतवेदान्तप्रतिपादित उक्त एक विशुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है।[2] 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्यों द्वारा आत्मा ब्रह्म है, सिद्ध है। यही आत्मा

---

१. जन्ममरणकरणानां प्रति नियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ सांख्यकारिका १८

२. आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, पृष्ठ ८१
तत्त्वमसिवाक्ये तत्पदस्य प्रकृतशब्दवाच्यब्रह्मपरामर्शिनस्त्वंपदेनसामानाधिकरण्यादित्यर्थः। वही भामती एवं वेदान्त कल्पतरु।

जो कि विषयी है, विषयीनिष्ठ दृष्टि से देखने पर ब्रह्म है। विषय का सार ब्रह्म है, वही सम्पूर्ण विषयों का अधिष्ठान है, अन्तर्निहित तत्त्व है। विषयी का सार आत्मा है। विषयी से कभी-कभी जीव को भी कहा जाता है, अतः इसके सार तत्त्व को आत्मा कह दिया जा सकता है। चूँकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमतत्त्व वस्तुतः विषय और विषयी दोनों से भी परे है, अतः दोनों परमतत्त्व हैं, यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि परमतत्व विश्वातीत होते हुए भी विश्व में ओत-प्रोत भी है। विश्व में ओत-प्रोत होने का अर्थ है विषय और विषयी दोनों में ओत-प्रोत। इसलिए उस परम तत्व को चाहे 'अहंब्रह्मास्मि' करके जानो, चाहे 'तत्त्वमसि 'करके, बात एक ही है। आत्मा करके अपने अन्दर जानना या ब्रह्म करके सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करना, दोनों बातों में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि वह 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' है।[1]

यह आत्मा या ब्रह्म अद्वैत वेदान्त के अनुसार वस्तुतः निर्गुण है। **सगुणता भी** मान्य है, परन्तु वह अविद्या के कारणऔपाधिक है, वस्तुतः ब्रह्म सगुण नहीं। अद्वैत वेदान्त में एक अद्वैत तत्त्व को स्वीकार किया गया है। एक अद्वैत की सिद्धि द्वैत का निषेध पूर्वक होती है, इसलिए इस दर्शन के अनुसार अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त परमार्थ सत् और कुछ नहीं। ब्रह्म में गुण या विशेष कुछ भी स्वीकार करने पर इस अद्वैतवाद की स्थापना नहीं हो सकती। अतः ब्रह्मातिरिक्त गुणादि शब्दों से जो कुछ भी बोध होता है, वह प्रातीतिक है, इसलिए 'नेह नानास्ति किंचन' 'सर्व खाल्विदं ब्रह्म' आदि वेदान्त वाक्यों के आधार पर अद्वैत वेदान्ती जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि करते हैं।

अन्य दार्शनिकों द्वारा निर्गुण ब्रह्मवाद का खण्डन—उक्त निर्गुणब्रह्मवाद को न्याय-वैशेषिक, रामानुज, माध्व, निम्बार्क आदि दार्शनिक स्वीकार नहीं करते। निर्गुणवादी निर्गुण ब्रह्म की सिद्धि में जिस प्रकार शास्त्र और युक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार सर्गुण ब्रह्मवादी भी अपने पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। रामानुज आदि दार्शनिकों का वक्तव्य है कि जिन श्रुतियों में परमात्मा को निर्गुण कहा गया है उनका तात्पर्य केवल निर्गुण समझकर ध्यान करना है। परमात्मा वस्तुतः निर्गुण नहीं है, इसलिए छान्दोग्य उपनिषद् में 'सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्व गन्धः, सर्व रसः' परमात्मा के लिए कहा गया है।[2] जीवात्मा के अभिमान को दूर करके तत्त्वज्ञान लाभ में साधक को सहायता मिले, इसीलिए परमात्मा को निर्गुण मानकर ध्यान की व्यवस्था है। वस्तुतः परमात्मा निर्गुण नहीं, अपितु निर्गुणत्व उसमें आरोपित है। सगुणत्व ही वास्तविक तत्त्व है। न्यायकुसुमांजलि में उदयन आचार्य ने भी निर्गुण बोधक वाक्यों का तात्पर्य पूर्वोक्त प्रकार से ही निकाला है। न्यायकुसुमांजलि के टीकाकार वर्धमान उपाध्याय ने भी उक्त प्रकार के अर्थ का समर्थन किया है।[3]

आचार्य रामानुज के अनुसार परमात्मा परमेश्वर निर्गुण नहीं हो सकता।

---

१. कठोपनिषद् २।२०

२. छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।२

३. निरंजनावबोधार्थो न च सन्नपितत्परः।—न्यायकुसुमांजलि कारिका ३।१७

निर्गुण ब्रह्मवाद में कोई भी प्रमाण नहीं है, निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। श्रुति में जो निर्गुणबोधक वाक्य मिलते हैं, उनका अर्थ-ब्रह्म सम्पूर्ण गुणों से शून्य नहीं है, अपितु हेयगुणशून्य है।[1] रामानुज के अनुसार परमेश्वर अनन्त, अपरिमेय, कल्याण गुणों का आश्रय है। वह कभी भी निर्गुण नहीं हो सकता। शास्त्रों में परमेश्वर के गुणों का वर्णन मिलता है, इसलिए कहीं पर निर्गुण बोधक वाक्य मिलने पर भी कोई विरोध नहीं है।[2] एक ही गुणमय परमेश्वर दिव्य कल्याण गुणयोग से सगुण और प्राकृत हेय गुणों से रहित होने से निर्गुण भी है। इस प्रकार आचार्य रामानुज ब्रह्म के सगुण, निर्गुण भाव की व्यवस्था करते हैं। सगुण ब्रह्मवादी रामानुज श्रीभाष्य में न्याय दार्शनिकों के समान कहते हैं कि 'चेतनत्वं नामःचैतन्यगुण योगः। अतईक्षण गुण विरहिणः प्राधानतुल्यत्व-मेवेति'।[3] अर्थात् चैतन्यरूप गुण वाला ही चैतन्य है, इसलिए तदैक्षत इत्यादि श्रुति में ब्रह्म के लिए ईक्षण करने वाला कहा गया है। ब्रह्म में ईक्षण शक्ति है, इसीलिए सांख्य दर्शन में स्वीकृत प्रधान कारणत्व का ब्रह्मवादी खण्डन करते हैं।[4] यदि ब्रह्म में ईक्षण शक्ति अर्थात् चैतन्य गुण नहीं होगा तो वह सांख्य दर्शन में स्वीकृत जड़ प्रकृति के समान हो जायेगा।

वैष्णव दार्शनिकों ने उपनिषद्वाक्यों के आधार पर ही ब्रह्म की गुणवत्ता के रूप में व्याख्या की है। जिन श्रुतियों में उपाधि या गुणों का निषेध है, उन श्रुतियों का हेय गुण अथवा प्राकृतगुणराहित्य में ही तात्पर्य समझना चाहिए। 'नित्यं विभुं सर्वंगतं महान्तम्' इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा को नित्यत्व, विभुत्व आदि अशेष कल्याण गुणों से मण्डित कहा गया है और 'निर्गुणं, निरंजनं' इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा ब्रह्म में ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि प्राकृत हेयगुणों का निषेध किया गया है।[5] इससे ब्रह्म सर्व-प्रकार गुणशून्य है, यह अर्थ नहीं निकलता। ब्रह्म सर्व प्रकार गुणों से रहित है, अर्थात् निर्गुण है, ऐसा कहने पर वैष्णव वेदान्ती गण अद्वैतवादी से पूछते हैं कि 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित सर्वज्ञत्व आदि गुणों की व्याख्या एवं समन्वय वे किस प्रकार करेंगे? वैष्णव वेदान्तियों में इस निर्गुण ब्रह्मवाद का खण्डन निम्बार्क दार्शनिक तथा भेदाभेदवादी बलदेव विद्याभूषण ने भी किया है। इन आचार्यों के अनुसार निर्गुण ब्रह्म अलीक है।

---

१. निर्गुणवादाश्च प्राकृत हेयगुण निषेध विषयता व्यवस्थिता,।
सर्वदर्शन संग्रह, रामानुज दर्शन।

२. न च निर्गुण वाक्य विरोधः, प्राकृत हेयगुण विषयत्वात्तेषाम्।
—श्री भाष्य, पृ० १२४।

३. श्री भाष्य १।१।१२ सूत्र

४. ईक्षतेर्नाशब्दम्।--ब्रह्मसूत्र १।१।५

५. निर्गुणवाक्यानां सगुणवाक्यानां च विषयमपहतपाप्मेत्याद्यपिपास इत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिध्य सत्यकामः सत्यसंकल्प इति ब्रह्मणः कल्याणगुणान् विदधती श्रुतिरेव विविनक्ति। श्रीभाष्य, पृ० १२६ निर्णयसागर।

वस्तुत: इन दार्शनिकों ने निर्गुण वस्तु के खण्डन में न्याय दर्शन का अनुसरण किया है । न्याय दार्शनिकों के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं, अपितु ज्ञान का अधिकरण है ।[1] आत्मा से जीवात्मा परमात्मा दोनों का ही ग्रहण है, अतः न्याय मत में परमात्मा ज्ञान का आश्रय है । ज्ञान उनके अनुसार गुण है । आत्मा के विशेष गुणों में ज्ञान, जिसे बुद्धि भी कहते हैं, को आत्मगुण माना है, ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है । अतः आत्मा और आत्मगुण ज्ञान के बीच में एक तृतीय सम्बन्ध भी उपस्थित रहता है ।[2] इस प्रकार त्रिधा विभक्ति आत्मा के विषय में अद्वैत वेदान्ती स्वीकार नहीं करते । वैष्णव वेदान्तियों का और भी कहना है कि निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार प्रमाण की सम्भावना नहीं है। प्रमाण सगुण-सविशेष का ही साधक होता है ।[3] प्रत्यक्ष प्रमाण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द का ग्रहण करता है । निर्विशेष ब्रह्म में इस प्रकार का कोई भी धर्म नहीं है, इसलिए वह प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो सकता । स्वयं अद्वैतवादी इस बात को मानते हैं कि ब्रह्म 'अवाङ्मनसोगोचर' है, अतः ब्रह्म जिस प्रकार वाणी का अगम्य है, उसी प्रकार मन, बुद्धि का भी अगम्य है । जो प्रत्यक्षगोचर नहीं होता वह अनुमानगम्य भी नहीं होता । अनुमान के लिए व्याप्ति की आवश्यकता है । व्याप्ति-ग्रहण के लिए प्रत्यक्ष की आवश्यकता है । जिसने कभी भी धूम और अग्नि को साथ में प्रत्यक्ष में नहीं देखा, वह धूम देखकर अग्नि का अनुमान कहीं पर भी नहीं कर सकता । अतः प्रकृत स्थल में भी निर्गुण ब्रह्म का अनुमान सम्भव नहीं है । इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में शब्द प्रमाण का भी खण्डन किया गया है । शब्द अर्थात् शास्त्र प्रमाण की गति निर्विशेष वस्तु में सम्भव नहीं है ।[4] यदि अद्वैतवादी यह कहे कि घटोऽस्ति पटोऽस्ति इस प्रकार सर्वत्र सत्ता का प्रत्यक्ष होता है, तो भी संगत नहीं है, क्योंकि उक्त स्थलों में पूर्वपक्षियों के अनुसार विशेष-विशेष पदार्थों का ही अर्थात् गुण, जाति आदि विशिष्ट विशेष पदार्थों का ही प्रत्यक्ष होता है । यदि सर्वत्र एक सत्ता का ही प्रत्यक्ष होता तब गौ खरीदने के लिए गया हुआ व्यक्ति भैंस देखकर वापस नहीं आता क्योंकि सत्ता तो समान रूप से दोनों में उपस्थित है । और भी बात है कि सर्वत्र यदि एक सत्ता का ही ग्रहण होता तब गौ ज्ञान होने के पश्चात् अश्व ज्ञान होने पर अश्व ज्ञान काई नवीन ज्ञान नहीं हुआ । ऐसी स्थिति में वह धारावाहिक अर्थात् गृहीत-ग्राह्य ज्ञान होता है । जो गौ ज्ञान, वही अश्व ज्ञान हुआ, ऐसी स्थिति में उक्त स्थलों के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान न कहकर स्मृति ज्ञान कहना होगा । अतः पूर्वोक्त आक्षेपों को दूर करने के लिए अद्वैतवादी को मानना पड़ेगा कि गौ, अश्व इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानस्थलों में जाति एवं आकृति विशिष्ट विशेष वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, न कि सत्ता मात्र का ।

---

१. ज्ञानाधिकरणमात्मा ।—तर्कसग्रह, आत्मनिरूपण प्रकरण ।

२. तर्कभाषा-प्रमेय प्रकरण ।

३. निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निविशेषवस्तुनीदं प्रमाणमिति न शक्यते वक्तुम् सविशेषवस्तु विषयत्वात् सर्वप्रमाणानाम् ।—श्रीभाष्य, पृ० ७०

४. निर्विशेष वस्तु प्रतिपादनासामर्थ्यात् नर्निविशेष वस्तुनि शब्दः प्रमाणम् ।
—श्रीभाष्य, पृ० ७३

प्रत्यक्ष द्वारा विशेष वस्तुओं के ग्रहण होने पर ही परस्पर वस्तुओं में भेद समझ में आ सकता है। वस्तुओं के भेद से ही वस्तुएँ एक दूसरे से व्यावृत होती हैं। गौ अपने विशेष गुण और आकृति के कारण अश्व आदि से भिन्न है। इसी प्रकार काली गौ अपने विशेष धर्म के कारण लाल गौ से भिन्न है। सत्ता मात्र के ग्रहण होने पर वस्तुओं में परस्पर भेद गृहीत नहीं होगा, और अद्वैतवादी निर्विशेष सत्ता में रूप, रस गन्धादि नहीं मानते, फिर 'घटोऽस्ति पटोऽस्ति' आदि करके' सत्ता का प्रत्यक्ष कैसे करते हैं ? यदि निर्विशेष सत्ता का प्रत्यक्ष होता है तो निर्विशेष सत्ता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ अनुवादक हो जायेंगी। रामानुज आदि वैष्णव वेदान्तियों के अनुसार निर्विशेष सत्ता सम्भव नहीं है। सत्ता सब समय सगुण होती है।[1]

वैष्णव वेदान्ती रामानुज, एवं निम्बार्क आदि दार्शनिकगण निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाणों का खण्डन करके लक्षण की भी असम्भावना दिखाते हैं। लक्षण का उद्देश्य है एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करना। वस्तु में कुछ असाधारण धर्म होते हैं, उन असाधारण धर्मों का कथन लक्षण में किया जाता है। इस असाधारण धर्मों वाला लक्षण लक्ष्य वस्तु का अन्य वस्तुओं से व्यावर्तक होता है। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्व लक्षण घट का लक्षण हो सकता है, क्योंकि यह लक्षण अन्य वस्तुओं से घट की व्यावृत्ति करता है।[2] ब्रह्म में इस प्रकार का कोई लक्षण सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार निर्विशेष है, उसमें किसी प्रकार गुण, क्रिया का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। उपनिषदों में 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, इत्यादि ब्रह्म, के स्वरूप लक्षण प्रदर्शित हुए हैं तथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि तटस्थ लक्षण कथित हुए हैं। निर्विशेष ब्रह्म में उक्त स्वरूप एवं तटस्थ-दोनों ही लक्षण सम्भव नही हैं।[3] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि लक्षणों में प्रत्येक पद के भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ हैं। उन भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करते हुए सत्यादि पद एक विशिष्ट के साथ सामानाधिकरण्य स्थापित करते हैं। श्री रामानुज ने 'प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन एकार्थवर्तित्वं सामानाधिकरण्यम्' इस प्रकार सामानाधिकरण्य का लक्षण प्रस्तुत किया है।[4] अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त शब्द यदि एक विशेष्य का बोधन कराते हैं तो वहाँ सामानाधिकरण्य है। 'नीलोत्पलम्' में जिस प्रकार नील शब्द नील गुण वाचक एवं उत्पल शब्द उत्पल वाचक हैं, दोनों पद अपने-अपने अर्थों को बतलाते हुए नील गुण विशिष्ट उत्पल का बोधक हैं। उसी प्रकार सर्वत्र वाक्यों में समझना चाहिए। प्रकृत स्थल में सत्यत्व, ज्ञानत्व, अनन्तत्व—ये पद अपने भिन्न-भिन्न अर्थों को बतलाते हुए उन गुणों से विशिष्ट ब्रह्म का बोधन कराते हैं। ये पद यदि निर्विशेष एक

---

१. अतोवस्तुसंस्थानरूपजात्यादिलक्षणभेदविशिष्ट विषयमेव प्रत्यक्षम्। श्रीभाष्य, पृ० ७८।

२. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृ० ३७, सूत्र १।१।१।

३. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृ० ३८-३९-४१।

४. श्रीभाष्य, पृ० १२३ निर्णय सागर।

ब्रह्म के प्रतिपादक होते हैं तो रामानुज के अनुसार सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है।[1] अत: 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' आदि श्रुति द्वारा अद्वैत वेदान्त का अभिप्रेत ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं होता है। न ही 'यतो वा' इत्यादि श्रुति द्वारा अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत निर्विशेष ब्रह्म का कारण रूप से प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी सम्भव नहीं है।

अद्वैत वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष माना गया है। निर्गुण ब्रह्म का परिचय विशेष धर्मों और गुणों से नहीं दिया जा सकता। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि जिसने ब्रह्म को गुणाश्रय के रूप में जाना है, उसने ब्रह्म को नहीं जाना है। केनोपनिषद् में कहा है कि 'अविज्ञातं विजानताम्' २।३। निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन अस्तिमुखेन करना सम्भव नहीं। श्रुति 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वाक्यों द्वारा नेति-नेति करके ही निर्गुणब्रह्म का उपदेश करती है। इसी नेति-नेति अर्थात् निषेध रीति से बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि ब्रह्म 'अस्थूलमनणु अह्रस्वम्अदीर्घम्' है।[2] ब्रह्म स्थूल भी नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं, इस प्रकार सभी धर्मों का ब्रह्म में निषेध मिलता है। आचार्य शंकर ने स्वयं बृहदारण्यक भाष्य में कहा है कि ब्रह्म में किसी प्रकार के भी विशेष धर्म नहीं हैं। नाम, रूप, धर्म, भेद, जाति, गुण आदि कुछ भी विशेष नहीं हैं। शंकराचार्य स्वयं इस बात को मानते हैं कि जाति, व्यक्ति, गुण आदि को लेकर-के ही शब्द की प्रवृत्ति होती है। ब्रह्म में उक्त प्रकार के धर्म न होने के कारण उसका 'तत्' अथवा 'इदम्' करके निर्देश नहीं हो सकता। जैसे लोक में 'यह सींग वाली सफेद गौ जा रही है' इस प्रकार गौ के लिए विशेष धर्मों सहित निर्देश किया जाता है। ऐसा ब्रह्म के लिए सम्भव नहीं। ब्रह्म के लिए तो अध्यारोपित नाम, रूप, द्वारा ही कथन सम्भव है। इसलिए 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, विज्ञानघन एव' आदि प्रकारों से ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों द्वारा अध्यारोप पूर्वक ही श्रुति कथन करती है। यदि ब्रह्म के स्वरूप मात्र का बोधन कोई करना चाहे उस स्थिति में ब्रह्म का निर्देश करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।[3] यह वैष्णव वेदान्तियों के समान आचार्य शंकर भी मानते हैं। निर्विशेष वस्तु का निर्देश नहीं हो सकता है, ऐसा वैष्णव वेदान्तियों का कथन है। यही बात आचार्य शंकर भी वस्तु-स्वरूप ब्रह्म के लिए कहते हैं। ब्रह्म विषय और विषयी—दोनों से अपने स्वरूप में परे है। उपनिषदों में जो ब्रह्म का स्वरूप कथित हुआ है, वह भी अपने वाच्य अर्थ में निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि लक्षण के लिए लक्ष्यभाव की आवश्यकता है। लक्ष्यभाव होना ही ब्रह्म का सधर्मक होना है। ये ही आक्षेप वैष्णव वेदान्तियों ने निर्गुण ब्रह्म के लक्षण के विषय में उत्थापित किये थे। उनके उक्त कथन से अद्वैत वेदान्तियों को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। निर्गुण ब्रह्म वस्तुत: लाक्षण-प्रमाण का अविषय है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तक कि जिस ब्रह्म को 'सत्यं-ज्ञानम्' कहा जाता है, अर्थात् जो

---

१. श्रीभाष्य, श्रुत प्रकाशिका पृ० २२३ निर्णय सागर।

२. बृहदारण्यक भाष्य २।३।६

३. बृहदारण्यक भाष्य २।३।६

ब्रह्म सत् स्वरूप है, उस ब्रह्म के लिए सत् शब्द के भी प्रयोग का निषेध आचार्य शंकर करते हैं। ब्रह्म सदसद् आदि शब्दों का वाच्य नहीं है। शब्द अर्थ के प्रकाशक होते हैं। शब्द जाति, क्रिया, गुण, सम्बन्ध द्वारा अर्थ का प्रकाशन करते हैं। ब्रह्म में जाति नहीं है, इसलिए वह सदसद् आदि शब्दवाच्य नहीं है, इसी प्रकार क्रिया शब्दवाच्य भी ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय है। ब्रह्म एक है, अद्वैत है, अविषय है; इसलिए शब्द से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः श्रुति कहती है कि 'यतोवाचोनिर्वतन्ते' वाणी भी वहाँ से लौट आती है।[1] इसलिए ब्रह्म परप्रतिषेधरूप है। अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त अन्य का निषेधरूप है। इसलिए बृहदारण्यक में कहा है 'अथात आदेशो नेति-नेतीति'।[2] केनोपनिषद् में कहा है 'अन्यदेवतद्विदितादथो अविदितादधि'।[3]

उक्त प्रकार से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निर्गुण ब्रह्म प्रमाणागम्य है, उसमें यहाँ तक कि तद्रूपत्व धर्म का भी कथन सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार से ब्रह्म को ज्ञान का विषय बनाया नहीं जा सकता। इसीलिए माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्म का कथन निषेध रूप से ही किया गया है। 'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्' इत्यादि।[4] वैष्णव वेदान्तीगण निर्गुण ब्रह्म के विषय में जो आपत्ति उठाते हैं कि निर्गुण ब्रह्म जब ज्ञान का विषय नहीं बनता तो वह है ही नहीं; अद्वैत वेदान्ती वैष्णव वेदान्यों की उक्त आपत्ति से सहमत नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म को निर्गुण कहकर ब्रह्म के विषय में किसी प्रकार के वास्तविक ज्ञान को न मानने का अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म का अस्तित्व नहीं है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मबोध ज्ञानाधीन है, यह नहीं मानते। अर्थात् ब्रह्म हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनता। जो लोग ब्रह्म को वस्तुतः ज्ञानगम्य मानते हैं, उनके अनुसार ब्रह्म की सत्ता निरपेक्ष सत्ता नहीं रह सकती। वह ज्ञानसापेक्ष सत्ता होगी। आचार्य शंकर इस दृष्टि से ब्रह्म को अधिक निरपेक्ष, अधिक पूर्ण देखना चाहते हैं जबकि कुछ वैष्णव दार्शनिक ब्रह्म को विषय सन्दर्भ में देखते हुए उसमें अधिक पूर्णता का दावा करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म वस्तुतः जब निर्गुण है, निर्विशेष है तथा सर्व प्रमाणों से अगम्य है, तब उस ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा कैसे सम्भव है? जिज्ञासा के बिना शास्त्रादि विचार निरर्थक हो जाते हैं। इस पर आचार्य शंकर कहते हैं कि अज्ञान निवृत्ति के लिए प्रपंचरहित निर्विशेष ब्रह्म की व्याख्या अध्यारोप और अपवाद द्वारा की जाती है। मिथ्याभूत उपाधिकृत धर्मों की निर्विशेष ब्रह्म में कल्पना की जाती है।[5] आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने निर्गुण ब्रह्म में वस्तुतः प्रमाणों का खण्डन किया है। फिर भी यदि

---

१. गीता शांकर भाष्य १३।१२
२. बृहदराण्यक उपनिषद् २।३।६
३. केनोपनिषद् १।४
४. माण्डूक्य उपनिषद्, ७
५. तथाहि सम्प्रदायविदांवचनम् अध्यारोपावादाभ्यांनिष्प्रपंचं प्रपंच्यते इति।
—गीता शांकर भाष्य १३।१३

विपक्षी निर्गुण ब्रह्म में प्रमाण न होने का आक्षेप करते हैं तो उनके लिए वे कहते हैं कि ब्रह्म की स्फूर्ति अर्थात् प्रकाश के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं-प्रकाश है। स्वयं प्रकाश ब्रह्म के प्रकाश के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अन्यों को प्रकाश के लिए ब्रह्म के प्रकाश की आवश्यकता है। इसलिए उपनिषद् में कहा है 'तमेव भान्तंमनुभातिसर्वम्'।[1] यदि अज्ञान निवृत्ति के लिए ब्रह्म में प्रमाण पूछा जाय तो उसके लिए मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि उपनिषद् ही प्रमाण है।[2] उपनिषद् प्रमाण में शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपनिषद् प्रमाण भी ब्रह्म के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए निर्गुण ब्रह्म में उपनिषद् प्रमाण भी आरोपित लक्ष्यलक्षण, प्रमाण-प्रमेय भावों को लेकरके ही प्रवृत्त होता है। उपनिषद् वाक्यों का लक्षणा से ब्रह्म में तात्पर्य निकालना होगा। अन्यथा पदार्थ का बोध सम्भव नहीं, इसीलिए आचार्य पुष्प-दन्त ने महिम्नःस्तोत्र में कहा है। 'अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्तेश्रुतिरपि'[3] अर्थात् निषेध मुख से चकित भाव से श्रुति ब्रह्म का कथन करती है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने पूर्व पक्ष की ओर से 'ब्रह्म धर्मवत् पदार्थत्वात्' इस प्रकार ब्रह्म को सधर्मक सिद्ध करने के लिए अनुमान उपस्थित करके उसका खण्डन किया है और निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया है।[4]

हमने इतःपूर्व निवेदन किया था कि ब्रह्म के प्रतिपादन की दो पद्धतियाँ हैं : विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ। विषयीनिष्ठ पद्धति आत्मकेन्द्रित होती है। विषयीनिष्ठ पद्धति के अनुसार हमने आत्मा की सिद्धिपूर्वक ब्रह्म की सिद्धि दिखलाई है। इस पद्धति में निषेधमुख से एवं विधिमुख से आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। निषेध मुख से कहा जा चुका है कि शरीर आत्मा नहीं है, इन्द्रिय आत्मा नहीं हैं, प्राण आत्मा नहीं है, मन आत्मा नहीं है, विज्ञान आत्मा नहीं है, इन सबसे परे तुरीय आत्मा है। विज्ञान तक जो आत्मा होने का निषेध किया गया है, यही नेति-नेति अर्थात् निषेध पद्धति है, जिसमें दिखलाया जाता है 'नेदं यदिदमुपासते' अर्थात् यह नहीं है, यह नहीं है। जिसे अज्ञानी जन आत्मा समझते हैं, वह वस्तुतः आत्मा का स्वरूप नहीं है। तब प्रश्न उठता है कि आत्मा क्या है ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इस पर विधिमुख से कहा जायेगा—आत्मा तुरीय है, वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार विषयीनिष्ठ पद्धति में हमने देखा कि निषेध और विधि दोनों पद्धतियों से तुरीय चेतन को आत्मा कहा गया है जो कि अद्वैत ब्रह्म है।

अब विषयनिष्ठ पद्धति में भी दो पद्धतियों को हम अपना सकते हैं—विधि और निषेध मुख से हम 'नेह नानास्ति' इस श्रुति वाक्य की संगति बैठाने के लिए जगत् की मिथ्यात्वसिद्धि पूर्वक ब्रह्म की सिद्धि करने का प्रयास करेंगे। निषेधात्मक पद्धति में जब

---

१. कठोपनिषद् २।५।१५

२. स्फूर्त्यर्थं वा अज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा प्रमाण प्रश्नः। आद्येस्वप्रकाशतयाप्रमाणवैयर्थ्यम् ······द्वितीये उपनिषद् एव प्रमाणत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृ० ७३९

३. शिव-महिम्नः स्तोत्रम्, श्लोक २, द्वितीय पंक्ति।

४. अद्वैतसिद्धि, ब्रह्म निर्गुणत्वोपपत्ति प्रकरण, पृ० ७१७ से ७२१ तक

ब्रह्म के विषय में हम सम्पूर्ण धर्मों का निषेध करते हैं, उसका अर्थ यह नहीं कि धर्मी का भी निषेध करते हैं और यह भी अर्थ नहीं कि धर्म ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र कहीं स्थित हैं। शंकर ब्रह्म के विषय में जब कहते हैं कि ब्रह्म न सत् है और न ही असत् है, उनका तात्पर्य है कि यह प्रयोग उन अर्थों के दृष्टिकोण से है जिस दृष्टिकोण से हम आनुभविक जगत् की भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते हैं। अधिक से अधिक ब्रह्म के विषय में हम यही कह सकते हैं कि अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म क्या है ? यह स्थिरता, परिवर्तन, सम्पूर्ण-इकाई अथवा एक भाग, सापेक्ष और निरपेक्ष, सीमित और असीमित इत्यादि समस्त विरोधी भावों के ऊपर, आश्रित पदार्थों, से अतीत ब्रह्म है। सीमित वस्तु सदा ही अपने से ऊपर की ओर बढ़ती है, किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है जोकि अनन्त तक पहुँच सके। यदि ऐसा होता तो अनन्त अनन्त नहीं रह सकता।[1] जब ब्रह्म के विषय में निषेधात्मक कथन किए जाते हैं कि ब्रह्म न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, जिसे हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकें, तो वह शून्य सा लगता है, रिक्त सा लगता है।[२] निर्गुण ब्रह्म स्थायी यथार्थ सत्ता है। हमारे मानवीय मस्तिष्क के लिए वह स्थायी यथार्थ सत्ता प्रकाशमान आदर्श के रूप में ही प्रकट होती है।[3]

ब्रह्म का स्वरूप लक्षण—'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म के इस स्वरूप लक्षण को भी नेतिपरक ही समझना चाहिए। अस्तिपरकता में पूर्णतया अध्यस्त लक्षण ही मानना पड़ेगा। यद्यपि नास्ति मुखेन लक्षण भी अध्यस्त ही होता, फिर भी नेति-नेति करके ब्रह्म में वृत्ति व्याप्यता ही अपेक्षित है, फल-व्याप्यता नहीं। अतः निषेध मुख से लक्षणस्थ सत्य पद का अर्थ, असत्य की व्यावृत्ति, ज्ञान पद का अर्थ जड़ की व्यावृत्ति एवं अनन्तपद का अर्थ परिच्छिन्न की व्यावृत्ति होगा। अर्थात् ब्रह्म असत् नहीं, जड़ नहीं, परिच्छिन्न भी नहीं है। ब्रह्म उक्त प्रकार से असत्य, जड़ एवं परिच्छिन्न से जब भिन्न है, तो यह शंका हो सकती है क्या ब्रह्म में असत्यभेद, जड़भेद एवं परिच्छिन्नभेद रहते हैं ? पूर्वोक्त तीनों भेद क्या ब्रह्म के धर्म नहीं हैं ? अतएव ब्रह्म निर्विशेष न होकर सविशेष हो जाता है। इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि असत्य की व्यावृत्ति, जड़ की व्यावृत्ति एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति ब्रह्म से पृथक् नहीं हैं। व्यावृत्ति ब्रह्मस्वरूप है। 'रजत नहीं है' यहाँ पर रजत अभाव जिस प्रकार शुक्ति रूप है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी व्यावृत्ति अर्थात् असत्य जड़ एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति ब्रह्मस्वरूप है। तीनों पद शुद्ध ब्रह्म का बोध कराते हैं। व्यावृत्ति अभावरूप धर्म है, परन्तु अद्वैत मत में वह अधिकरण रूप है, अधिकरण ब्रह्म है। अतः ब्रह्म से वह अतिरिक्त नहीं है। मण्डनमिश्र आदि भावाद्वैतवादी अद्वैत वेदान्ती भावरूप ब्रह्म की एकता की सिद्धि करते हैं, भावरूप ब्रह्म के अतिरिक्त

---

1. Indian philosophy, Vol. page 536 Dr. Radhakrishnan.
२. बृदारण्यक उपनिषद् ३।८।८
3. The system of Vedanta, page 103. Deussen

उसमें अभाव रूप धर्मों के होने पर भी उनके मत में अद्वैत की हानि नहीं होती।[1] जो भी हो मण्डन मिश्र के अनुसार अभाव रूप धर्मों को अतिरिक्ति मानने पर भी अद्वैतवाद की हानि नहीं होती। अन्य अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार अभाव ब्रह्मरूप ही है, इसलिए भी कोई क्षति नहीं है। वस्तुतः अधिकांश अद्वैतवेदान्ती भावाद्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ब्रह्म में अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त भाव-अभाव रूप किसी भी प्रकार के धर्म सम्भव नहीं हैं। एक मात्र सर्वग्राही एवं सर्वातीत ब्रह्म ही सत्य है। अगर कहीं असत्य भी है तो वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म असत्य नहीं, अपितु असत्य जो कि असत्य के रूप में प्रतिभात होता है, उसमें भी अगर कोई सार है, तो वह भी ब्रह्म ही है।

उक्त स्वरूपलक्षण में तीनों ही पद ब्रह्मबोधक हैं, इसलिए कोई यह आक्षेप करे कि तीनों पदों की 'घटः कलशः' के समान पर्यायार्थकता हो जायेगी। ऐसी आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि तीनों पदों की सार्थकता बतलायी जा चुकी है कि असत्य आदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति करते हैं। अद्वैत वेदान्ती तीनों पदों का वाच्यार्थ ब्रह्म को नहीं मानते। वाच्यार्थ मानने पर ब्रह्म में निर्गुणत्व नहीं रह सकता, इसलिए यहां पर लक्षणा मानी गयी है। द्वैत वैदान्तियों का यह आक्षेप समीचीन नहीं है कि लक्षणा में ब्रह्म को लक्ष्य बनाने पर लक्ष्यता धर्म से ब्रह्म सधर्मक हो जायेगा। ब्रह्म में लक्ष्यत्व धर्म आदि आरोपित हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ पर सत्यादि पदों के भिन्न अर्थ होते हुए भी वे एकार्थ बोधक हैं, अतः सामानाधिकरण्य होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। जहाँ पर वाक्य के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न पद एक अर्थ के बोधक होते हैं, वहीं सामानाधिकरण्य होता है। सत्यादि पदों द्वारा वाच्यार्थ में सत्यत्व विशिष्ट, ज्ञानत्व विशिष्ट एवं अनंतत्वविशिष्ट ब्रह्म—इस प्रकार अर्थ करने पर विशेषणों के भिन्न होने से विशेषण प्रयुक्त विशेष्य में भी भेद अवश्य होगा। वैसी स्थिति में निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का बोधक वे पद नहीं हो सकेंगे। इसलिए लक्षणा से अर्थ किया गया। ब्रह्म में वस्तुतः धर्म-धर्मि-भाव न होने पर भी कल्पित धर्म-धर्मि भाव का समर्थन पंचपादिका में आचार्य पद्मपाद ने किया है। आनन्द आदि गुण वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप हैं।[2] सत्य-ज्ञान-आनन्द आदि ब्रह्म से अभेद रूप हैं, इसका समर्थन आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि ने अपने ग्रन्थ संक्षेपशारीरक में किया है। उनका कहना है कि सत्य में ज्ञान है, ज्ञान में सत्यता है। आनन्द में ज्ञान है, ज्ञान में आनन्द है। आनन्द में सत्यता भी है, सत्यता में आनन्द भी है। सत्य, ज्ञान एवं आनन्द में किसी प्रकार का भेद नहीं है। वे सब वस्तुतः अभिन्न हैं। सत्य यदि ज्ञान से भिन्न होता तो वह ज्ञान न होकर विषय या ज्ञेय होता। जो ज्ञेय है, वह सत्य न होकर मिथ्या होता, किन्तु सत्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता। ज्ञान सत्य से भिन्न होता है, तो ज्ञान भी असत्य हो जायेगा और असत्य होने पर ज्ञान मिथ्या हो जायेगा, इसीलिये ज्ञान सत्य से अभिन्न है।

---

१. द्विविधा धर्माः—भावरूपा अभावरूपाश्चेति। तत्र अभावरूपानाद्वैतं विघ्नन्ति।
—ब्रह्मसिद्धि, मण्डनमिश्र, पृ० ४

२. आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते॥ पंचपादिका, अध्यासनिरूपण, पृ० २३

इसी प्रकार आनद ज्ञान से भिन्न होता है तो वह भी ज्ञेय होगा और ज्ञेय होने से मिथ्या होगा।[1] अतः सत्यादि पद एकार्थक होकर ब्रह्म का बोधक हैं, साथ में इतर व्यावर्तक भी।

ब्रह्म सत्य अर्थात् सत् है—हमने पूर्व ही निवेदन किया है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थतः ब्रह्म की सिद्धि अथवा असिद्धि नहीं की जा सकती, वैसा होने पर ब्रह्म में ज्ञान-विषयत्व आ जायेगा। फिर भी अज्ञान निवृत्ति के लिए नेति-नेति पद्धति से ब्रह्म का प्रतिपादन करना है। सत्यादि पदों द्वारा मिथ्यादि की निवृत्ति भी नेति-नेति पद्धति ही है। सत्यादि पदों का ब्रह्मबोधकत्व होना ही विधिपरक पद्धति है। यद्यपि विधिपरक POSITIVELY प्रतिपादन में कल्पित धर्म-धर्मि-भाव निर्विशेष ब्रह्म में स्वीकार करना पड़ता है, फिर भी इसके अतिरिक्त—अर्थात् एवंभूत कल्पित विधिपरकत्व एवं निषेधपरकत्व के अतिरिक्त ब्रह्म के प्रतिपादन में अन्य कोई विधि नहीं है।

ब्रह्म के स्वरूपलक्षण में सत्यादि पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं और उन भिन्न-भिन्न अर्थों से अध्यारोपित समस्त प्रपंच का निषेध होता है— अर्थात् आरोपित प्रपंच की निवृत्ति होती है। उक्त स्वरूप लक्षण में ब्रह्म को सत्य अर्थात् सत् कहा गया है। सत् पद से असत् की निवृत्ति कही गयी है। असत् की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्म को सत् स्वरूप बतलाया गया है। वह असत् अर्थात् अद्वैत वेदान्त में मिथ्या क्या है, विचारणीय है। क्योंकि आचार्य मधुसूदन ने उक्त नेति-नेति पद्धति का अनुसरण करते हुए अद्वैतसिद्धि में कहा है कि 'अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्'।[2] इसलिए अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि के लिए द्वैत प्रपंच मिथ्या है, यह विचारणीय है। जब द्वैत प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि हो जायेगी, तब उसके निषेधपूर्वक ब्रह्म की सिद्धि होगी, क्योंकि सद्ब्रह्म स्वयं सिद्ध है। आचार्य शंकर ने सत्य मिथ्या का विश्लेषण करते हुए तैत्तिरीय भाष्य में कहा है कि 'सत्य वह है जो जिस रूप में विद्यमान है, वह उस रूप से कभी व्यभिचरित न होता हो, जिसका व्यभिचार होता है, वह सत्य नहीं हो सकता, वह मिथ्या है'।[3] अर्थात् जो त्रिकालाबाध्य है, वह सत् है। किसी काल में जिसका व्यभिचार होता है, वह असत्य है। सत्य सर्वदा कूटस्थनित्य होता है। अद्वैत वेदान्त में सत् में किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं माना गया है। इस परिभाषा के अनुसार सत्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। साथ में मिथ्या क्या है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। आचार्य शंकर ने गीता भाष्य में पुनः कहा है कि 'यद्विषयाबुद्धिर्नव्यभिचरति तत् सत्, यद्विषयाबुद्धिव्यभिचरति तदसत्।[4] —जो वस्तु अस्ति रूप है वह नास्तिरूप नहीं हो सकती। अस्ति और नास्ति को एकत्र मानने पर विरोधनियम का उल्लंघन हो जायेगा। इसीलिए अस्तिरूप सत् में कभी सत्व का व्यभिचार नहीं हो सकता।[5] जिसका व्यभिचार होता है, जो किसी काल, किसी देश

---

१. संक्षेप शारीरक, अध्यास १, श्लोक १८८-१८९

२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८।

३. तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य २।१

४. गीता शांकर भाष्य २।१६

५. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः, गीता शांकर भाष्य, २।१६

और वस्तु विशेष में सीमित है, उसको अद्वैत वेदान्त सत् नहीं मानता। ब्रेडले के ही समान अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत् में किसी प्रकार का विरोध नहीं रह सकता। जो विरोधों से पूर्ण है, वह सत् न होकर ब्रेड्ले के अनुसार आभास है।[1] परन्तु मिथ्या वस्तु किसी न किसी सत्य अधिष्ठान को आश्रय करके ही प्रतिभासित होती है, इसीलिए आचार्य प्रकाशात्मयति ने मिथ्यात्व का लक्षण किया है—"प्रतिपन्न उपाधि में जो अभाव है, उस अभाव का प्रतियोगी होना ही मिथ्यात्व है।"[2] मिथ्या सदा सत्य प्रतिपन्न उपाधि में ही प्रतीति का विषय बनता है। जिस अधिष्ठान में जिसका अत्यन्त अभाव है, उस अत्यन्त अभाव की प्रतियोगी वस्तु मिथ्या है। आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है, परमार्थतः ब्रह्म में आकाश आदि प्रपंच का अत्यन्त अभाव है, इसीलिए वे मिथ्या हैं।

इस प्रकार अद्वैतवादी प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि करके पश्चात् उसका निषेध अर्थात् अपवाद करते हैं। अध्यारोप में 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' आदि श्रुति वाक्यों की संगति बैठ जाती है तथा अपवाद में 'नेह नाानास्ति' आदि श्रुति वाक्यों की संगति भी। इसी को हमने इतःपूर्व विषयनिष्ठ, निषेधपद्धति कहा है। जब सम्पूर्ण जगत् की शुक्ति में रजत के समान मिथ्यात्वसिद्धि हो जाती है और जब मिथ्या वस्तु की व्यावृत्ति हो जाती है और व्यावृत्ति स्वयं ब्रह्मरूप होती है तथा व्यावर्त्य कुछ शेष नहीं रहता तब इस निषेध पद्धति से एक मात्र अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है।

इसके अतिरिक्त विधिमुखेन निर्विशेष ब्रह्म में आरोपित धर्मों को मानकर सत् का विवरण दिया जा सकता है। विश्व में सत् ब्रह्म को छोड़कर किसी भी वस्तु की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सत् अधिष्ठान के बिना मिथ्या वस्तु की प्रतीति सम्भव नहीं है। सभी वस्तुएँ सत् के साथ तादात्म्य रूप में ब्रह्म में अध्यस्त हैं। इसलिए 'घटोऽस्तिपटोऽस्ति' इत्यादि रूप में सर्वत्र सत् की प्रतीति होती है। ब्रह्म सत् है, इसकी सिद्धि नहीं करनी है, क्योंकि वही सत् हो सकता है, जिसका अनस्तित्व न हो। सत् का अभाव कभी नहीं होता और असत् का भाव भी नहीं। घट आदि पदार्थों में अस्ति-रूप से अधिष्ठान सत्ता का अनुभव होता है। प्रत्येक वस्तु के साथ सत् जुड़ा हुआ है। सत् को निकाल देने पर वस्तु स्वरूप अनिर्वचनीय हो जाता है, जैसेअरस्तू के अनुसार रूप विहीन उपादान। घटादि में जो सत् की प्रतीति होती है वह घटादि भिन्न-भिन्न वस्तुरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'घटःसन् पटःसन्' एवं रूप से सर्वत्र सत् की अनुगत प्रतीति नहीं हो सकेगी। हम सर्वत्र अस्ति के रूप में एक सत् का अनुभव करते हैं। अतः घटादि को अस्तित्ववान् बताने के लिए उनमें एक सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। सत् को यदि वस्तु रूप माना जाये तो वह घट रूप होगा-अर्थात् घट कहना और सत् कहना एक ही बात होगी। इसी प्रकार सत् पट रूप होगा तो पट कहना और सत् कहना एक ही बात होगी। ऐसा मानने पर घट के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग होगा और पट के लिए

---

1 Appearance and Reality, page. 120 Bradley.

२. पंचपादिका विवरण, पृष्ठ २१२

भी। ऐसी स्थिति में घट पट न कहकर सत्-सत् कहा जा सकता है। इसी प्रकार सत् और घट जब एक हैं तब 'सन् घटः' के स्थान पर 'सत्-सत्' या 'घट-घट' ऐसा भी प्रयोग होने लगेगा जोकि होता नहीं है। सत् और घट एक होते तो सत् के कभी उत्पत्ति-विनाश न होने के कारण घट के भी उत्पत्ति-विनाश नहीं होंगे और इस प्रकार असत्वापत्ति हो जायेगी। 'सत् घट' में विशेष्य-विशेषण भाव भी उपपन्न न होगा। अतः सत् घटादि भिन्न-भिन्न वस्तुरूप नहीं हैं।

सत् जाति रूप (सामान्य) धर्म भी नहीं, क्योंकि सत्ता जाति द्रव्य-गुण-कर्ममात्र-वृत्ति है, सामान्यः विशेष, समावाय, अभाव आदि में सत्ता जाति नहीं है। किन्तु सत् सामान्यादि सभी पदार्थों में रहता है, अन्यथा उन पदार्थों का अनस्तित्व हो जायेगा। अभाव में भी सत् है। जैसे घट में पट का अभाव है, यहाँ पर 'है' पद द्वारा सत्ता का ही बोध होता है। ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें सत् नहीं हो, सत् के विना वस्तु अवस्तु हो जायेगी। अवस्तु मिथ्या में जो मिथ्यात्व है 'उसमें भी 'है' का भाग सत् का ही है। सत् अपरिच्छिन्न होने के कारण सर्वत्र पहुँचा हुआ है, अतः सत् किसीका धर्मरूप नहीं है, अपितु धर्मिरूप है। घटादि में सत् नहीं है अपितु सत् में घटादि अध्यस्त है।[1] सत् के साथ तादात्म्यभावापन्न हुए विना घटादि की प्रतीति नहीं हो सकती। सत् का यद्यपि वस्तुतः अध्यास नहीं होता, फिर भी संसर्गाध्यास का आरोप उसमें किया जाता है। फिर भी सत् अपापविद्ध रह जाता है। इसलिए 'ब्रह्मानन्द-सरस्वती के अनुसार सत् अध्यस्त वस्तुओं का हमें दो प्रकार से अनुभव होता है :—'सन्तं घटं जानामि, घटं सन्तं जानामि'।[2]

'सत्सं ज्ञानं अनन्तम्' आदि स्वरूपलक्षण वाक्यों में सत् को न्याय एवं वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म का गुण कहते हैं, किन्तु अद्वैतवादी सत् को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। इस अर्थ में सत् और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं । पूर्णतया एकार्थक होने पर भी असद्व्यावर्तक होने के कारण वह सार्थक भी है। इसी अर्थ में सत्यपद का ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य भी होता है।

हमने ब्रह्मस्वरूप लक्षण के अन्तर्गत सत्-पद का विचार निषेध मुख से व्यावर्तक के अर्थ में और विधिमुख से ब्रह्मपरकत्व के अर्थ में किया है। वहाँ हमने पहले बतलाया है कि ये दोनों विधि-निषेध पद्धतियाँ विषयनिष्ठ पद्धति के अन्तर्गत आती हैं । अब आगे हम ब्रह्मस्वरूप लक्षण के अन्तर्गत 'ज्ञानं' अर्थात् चित् पद के विषय में विधि-निषेध दोनों पद्धतियों के माध्यम से विचार प्रस्तुत करेंगे।

ब्रह्म ज्ञान अर्थात् चित् स्वरूप है :—ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहा गया है। निषेध-सुख से विचार करने पर ज्ञान पद अज्ञान एवं अज्ञानो-पादानक जड पदार्थों का व्यावर्तक है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसका अर्थ है—ब्रह्म में अज्ञान या जड़त्वादि लेशमात्र भी नहीं हैं। ज्ञान सम्पूर्ण अज्ञान कार्यों की व्यावृत्ति करता है, साथ में ज्ञान पद का अर्थ ब्रह्म में एकीभूत होकर ब्रह्म को चित्स्वरूप वतलाना भी है।

---

१. पटादयः स्वानुगत प्रतिभासेवस्तुनि कल्पिताः विभक्तत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ ३१६
२. लघुचन्द्रिका, पृष्ठ ४५

इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान एवं ब्रह्म में पूर्वोक्तप्रकार से सामानाधिकरण्य होने में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। ज्ञानपद का अभिधा अर्थ इतरव्यावर्तकत्व है तथा लक्ष्यार्थ ब्रह्म-स्वरूप है। ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है, ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। यहाँ पर ज्ञान पद से वृत्ति ज्ञान को नहीं लेना है। वृत्ति ज्ञान अद्वैत मत में अध्यस्त ज्ञान है, वह मिथ्या है, क्योंकि उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। यहाँ पर ज्ञान पद से शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चित् ब्रह्म को समझना है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसीलिए शास्त्र ब्रह्म को दृक्-रूप कहते हैं, ब्रह्म दृश्य नहीं है। दृश्य तो जड़ है। इसलिए आनन्दबोध ने सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को दृक्-अध्यस्त होने के कारण दृश्यत्व रूप हेतु द्वारा मिथ्या सिद्ध किया है।[1] इसी प्रकार जड़त्व को हेतु मानकर दृश्य प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि अद्वैत वेदान्ती करते हैं। दृश्य प्रपंच को दृक्भिन्न एवं जड़त्व हेतु से मिथ्या सिद्ध करने के लिए, दृश्यत्व क्या है, इस पर अद्वैत वेदान्तियों ने पर्याप्त विचार किया है। विश्व प्रपंच दृक्स्वरूप नहीं है, यह तो सभी दार्शनिक मानते हैं, किन्तु प्रपंच मिथ्या है, यह बात वैष्णव दार्शनिकगण स्वीकार नहीं करते। दृश्यत्व के वृत्ति-व्याप्यत्व आदि अनेक अर्थ करके उसकी परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। इसी प्रकार जड़त्व का अर्थ अज्ञानत्व एवं अनात्मत्व के रूप में अद्वैत वेदान्ती करते हैं। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण वाक्य में चित् पद द्वारा अचित् अर्थात् दृश्य जड़मात्र की व्यावृत्ति हो जाती है और व्यावृत्ति स्वयं निषेधरूप में अधिकरणस्वरूप है, अतः चित्पद व्यावर्तक होता हुआ भी तादात्म्यरूप से ब्रह्मस्वरूप है।

अब विधिसुखेन POSITIVELY चित् स्वरूप का विवरण दिया जाता है। विधि, निषेध दोनों ही व्यवहार में हैं, इसीलिए विधिमुख से जो प्रतिपादन होता है उसका भी पर्यवसान निषेध में ही होता है। कोई भी पद्धति चाहे वह विधि या निषेध ही क्यों न हो, ब्रह्म को आत्मसात् करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि सत् को किसी पद्धति में नहीं लाया जा सकता। पद्धति के अन्दर लाने पर वह समस्त विरोधों से मुक्त न रहकर विरोधयुक्त होगा, ऐसी स्थिति में शंकर, नागार्जुन,[2] ब्रेडले जैसे प्रत्ययवादीगण उसे सत् नहीं मान सकते, क्योंकि इन प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार सत् समस्त विरोधों 'से मुक्त निरपेक्ष सत् है। फिर भी विधिमुख से विवरण देते हुए अद्वैतवेदान्ती 'चित्' को स्वयंप्रकाश मानते हैं।

चित् का स्वप्रकाशत्व — चित् ब्रह्म है, ब्रह्म चित्स्वरूप है। चित् ज्ञान-स्वरूप होने के कारण अज्ञेय है। ज्ञान का व्यवहार उसमें सम्भव नहीं है, इसीलिए वह स्वयंप्रकाश है। अन्य प्रमाणों द्वारा प्रकाश्य नहीं है। वह स्वतःप्रमाण, स्वतःसिद्ध स्वयं ज्योति है। इस प्रकार चित् का स्वयं-प्रकाशत्व रामानुज आदि वैष्णववेदान्तियों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। रामानुज ने श्रीभाष्य में अद्वैत के स्वयंप्रकाशत्व के लक्षण का जोरदार खण्डन किया है। इसी प्रकार निम्बार्काचार्यों ने भी अद्वैत के स्वयंप्रकाशत्व के

---

१. विवादपदं मिथ्या दृश्यत्वात्। न्याय दीपावलि, आनन्दबोध, पृष्ठ १
२. तस्मान्नभावोनाभावो न लक्ष्यं नापिलक्षणं। इत्यादि नागार्जुन के विचार देखें—मध्यमकशास्त्र, पृष्ठ ५३

लक्षण का खण्डन किया है। निम्बार्क आचार्यगण ब्रह्मको स्वयंप्रकाश नहीं मानते। स्वयं-प्रकाश मानने पर उनके अनुसार शास्त्रादि उपदेश—अर्थात् शास्त्रादि प्रमाण व्यर्थ हो जायेंगे। शास्त्रादि प्रमाणों से जब ब्रह्म परे होगा तो शास्त्रों के अनुसार उपासना भी व्यर्थ हो जायेगी।[1] इसलिए ब्रह्म स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकता।

अद्वैत वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य चित्सुख ने अनुभूति के स्वयं-प्रकाशत्व की सिद्धि अपने ग्रन्थ तत्वप्रदीपिका में की है। उनके अनुसार अनुभूति के स्वप्रकाशत्व का लक्षण असम्भव नहीं है। स्वप्रकाशत्वका अर्थ है—'जो ज्ञेय न बनता हो साथ में अपरोक्ष व्यवहार विषय की उसमें योग्यता हो'।[२]—इसी प्रकार उन्होंने अनुमान प्रमाण भी अनुभूति के स्वप्रकाशत्व में प्रस्तुत किया है :—अनुभूतिः, अनुभूति व्यवहार हेतु प्रकाशः अनुभूतित्वात्,···यथा घटः।[3] अर्थात् अनुभूति स्वव्यवहार हेतु प्रकाश है, क्योंकि वह अनुभूति है जो ऐसा नहीं है, वह अनुभूति भी नहीं है, जैसे घट। घट अनुभूति अर्थात् ज्ञान नहीं है, इसीलिए अपने प्रकाश का हेतु नहीं बनता। वह अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता, उसको प्रकाशित करने के लिए ज्ञान कीआवश्यकता है।अर्थात् वहअन्य द्वारा प्रकाशित है। अन्य उसके लिए ज्ञान है। ज्ञान द्वारा ही वह प्रकाश्य है। ज्ञान न होगा तो उसका प्रकाश भी सम्भव नहीं है। अर्थात् वह ज्ञानाधीन है। इसीलिए वह जड़ भी है, किन्तु अनुभूति या ज्ञान अद्वैत वेदान्त के अनुसार अन्यद्वारा प्रकाश्य नहीं है, वह स्वप्रकाश है। आचार्य रामानुज आदि वैष्णव वेदान्ती एवं न्यायदार्शनिक अनुभूति को स्वप्रकाश नहीं मानते। आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में अनुभूति के स्वप्रकाशत्व को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है। रामानुज के अनुसार ज्ञानोदय होने के पश्चात् ज्ञाता ज्ञेय विषय को जान लेता है। उसी समय विषय को जानने के साथ-साथ विषय के भासक ज्ञान भी उसके लिए प्रकाशित हो जाता है, इसलिए ज्ञान सब समय प्रकाशमय नहीं है। ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है। ज्ञान किसीमें प्रकाशित होता है तो दूसरे व्यक्ति में अप्रकाशित रहता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनुभूति अनुभाव्य नहीं होती। अनुभूति के अनुभाव्य हो जाने पर उसमें जड़त्व आ जाता है। रामानुज के अनुसार अनुभूति अनुभाव्य हो सकती है। अनुभाव्य होने पर वह अनुभूति नहीं रहेगी, ऐसी बात नहीं। इसी प्रकार वैष्णव वेदान्तीगण अनुभूति के नित्यत्व एवं एकत्व का भी खण्डन करते हैं। रामानुज के अनुसार ज्ञानमात्र ही अनित्य एवं सविषयक है। प्रत्येक विषय का ज्ञान भी भिन्न-भिन्न है। घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदि भिन्न-भिन्न ज्ञानों का हम अनुभव करते हैं। रामानुज के अनुसार अनुभूति का अर्थ है—'जो वर्तमान दशा में अपनी सत्ता से अपने आश्रय में प्रकाशित होती हो, या जो प्रकाशित होने के लिए स्वयं माध्यम हो'। एवंभूत

---

1. A History of Indian philosophy, page 407 Dasgupta.
२. अवेद्यत्वेसति अपरोक्ष व्यवहारविषयत्वं वा। तद्योग्यत्वं वा। वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा, पृष्ठ ६३९ : चित्सुखाचार्य प्रस्थानपरीक्षा।
३. वही।

ज्ञान या अनुभूति स्वप्रकाश नहीं होती ।[1] रामानुज आदि वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। इसी प्रकार चित् ब्रह्म का गुण है, जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार वास्तविक अर्थ में ज्ञान और चित् एक हैं और दोनों ही आत्मा या ब्रह्मस्वरूप हैं । ब्रह्म को निर्विशेष, निर्गुण सिद्ध करने के लिए ही अद्वैत वेदान्ती अनुभूति को स्वप्रकाश, एक और नित्य मानते हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कह चुके हैं, इसीलिए उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि ज्ञान को स्वप्रकाश, नित्य एवं एक सिद्ध करें । यह बात नहीं है कि अद्वैत वेदान्ती व्यवहार क्षेत्र में भिन्न-भिन्न ज्ञान स्वीकार नहीं करते । प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न ज्ञान है, ज्ञानों में तारतम्य भी है । ज्ञान नष्ट होता है, उत्पन्न होता है—ये बातें व्यवहार में हैं, पर एवंप्रकारक ज्ञान अध्यस्त ज्ञान है, अविद्या से जन्य ज्ञान है जिसे वृत्तिज्ञान कहते हैं। ब्रह्मस्वरूप ज्ञान की दृष्टि से आध्यासिक होने के कारण वृत्ति ज्ञान मिथ्या-ज्ञान है । वास्तविक अर्थ में शुद्ध ज्ञान न होकर वह ज्ञेय ही है । अखण्डाकार बोध में इस वृत्तिज्ञान का भी बाध हो जाता है । जिस प्रकार अनुभूति के स्वप्रकाशत्व की सिद्धि अद्वैत वेदान्ती करते हैं, उसी प्रकार आत्मा के भी स्वप्रकाशत्व की सिद्धि करते हैं । अद्वैत वेदान्ती के अनुसार आत्मा अनुभूतिस्वरूप है। अनुभूति ब्रह्मस्वरूप है अथवा अनुभूति आत्मस्वरूप है, आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। स्वयं प्रकाश,[2] अनुभूतिस्वरूप आत्मा एवं आत्मस्वरुप ब्रह्म एक ही है। 'अत्रायं पुरुष : स्वयं ज्योतिः' इति श्रुतेश्चात्मा स्वयंप्रकाश इत्यादि प्रमाणों से अनुभूतिस्वरूप आत्मा एवं आत्मस्वरूप ब्रह्म स्वयंप्रकाश सिद्ध होता है ।[2]

ब्रह्म के स्वरूपलक्षण में उक्त चित् अध्यस्त सम्पूर्ण दृश्य या ज्ञेय अर्थात् जड़ वस्तुओं का निषेध हो जाता है । इस प्रकार चित् पद व्यावर्तक होकर सार्थक हो जाता है और स्वयं चित् ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म का भी बोध कराता है । इस प्रकार से सामानाधिकरण्य की स्थापना हो जाती है ।

ब्रह्म अनन्तस्वरूप—ब्रह्म के स्वरूपलक्षण में तीसरा पद अनन्त पद है। विधिमुख से अनन्त पद द्वारा लक्षणा से ब्रह्म का ही बोध होगा । निषेधमुख से यह पद सभी अन्तों का व्यावर्तक होता है । अन्त का अर्थ है परिच्छिन्न । तीन प्रकार के परिच्छिन्न हो सकते हैं—देशकृत, कालकृत एवं वस्तुकृत । अत्यन्त अभाव प्रतियोगित्व ही देशकृत परिच्छिन्नत्व है । जिसका कहीं न कहीं पर अभाव हो वह परिच्छिन्न है। संसार की सभी वस्तुएँ इस प्रकार के अभावों से ग्रसित हैं । यहाँ पर स्थित घट यहीं पर है, इसी देश में है । इस घट का अन्य देशों में अत्यन्त अभाव है, इसलिए घट अपने देश में ही सीमित है। इस प्रकार संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं के विषय में समझना चाहिए। अभाव प्रतियोगित्व को कालकृत परिच्छिन्नत्व कहते हैं । प्रत्येक वस्तु किसी न किसी काल में अस्तित्ववान् है । अन्य काल में उसका अस्तित्व नहीं है । उत्पत्ति से पहले वस्तु नहीं होती, ध्वंस के

---

१. अनुभूतित्वं नाम वर्तमान दशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयंप्रति प्रकाशमानत्वं स्वसत्तयैव स्वविषय साधनत्वं वा—श्रीभाष्य पृष्ठ ८४

२. वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा, पृष्ठ ६४०, नीचे की टिप्पणी ।

पश्चात् भी वस्तु नहीं होती, मात्र वर्तमान काल में वस्तु होती है।[1] इसीलिए जागतिक वस्तुओं के प्रागभाव एवं ध्वंसाभाव हैं। प्रागभाव वस्तु की पूर्व सीमा है, ध्वंसाभाव वस्तु की पश्चात्भावी सीमा है। ये ही परिच्छिन्नतायें हैं। अन्योन्याभाव प्रतियोगित्व को वस्तुकृत परिच्छिन्नत्व कहते हैं। प्रत्येक वस्तु स्व में स्थित है, अन्य में उसका अभाव है। घट घट में ही है; पट में नहीं। कुर्सी का अस्तित्व कुर्सी में है, मेज में नहीं। दूसरे शब्दों में कुर्सी कुर्सी है, मेज मेज है, सब एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की अपनी सीमा है, वह अपने तक सीमित है। कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती।[2] इसलिए वस्तुएँ सीमित हैं। पूर्वोक्त तीनों प्रकार की सीमाओं अर्थात् परिच्छिन्नताओं से संसार की सभी वस्तुएँ सीमित हैं। इसलिए अद्वैतसिद्धिकार ने परिच्छिन्त्व को हेतु मान करके प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि की है। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्य कारिका में काल परिच्छिन्नता से युक्त वस्तुओं को वितथ अर्थात् मिथ्या कहा है।[3]

ब्रह्म में उक्त परिच्छिन्नताओं का अभाव है। ब्रह्म में देशकृत, कालकृत एवं वस्तुकृत सीमाएँ नहीं हैं। इन अन्तों से वह अतिक्रान्त है। इसीलिए ब्रह्म को अनन्त कहा गया है। स्वरूपलक्षण के अनन्त पद द्वारा इस प्रकार परिच्छिन्न या सीमित वस्तुओं की व्यावृत्ति की गयी है। परिच्छिन्न वस्तुएँ मिथ्या हैं। मिथ्या वस्तुओं की व्यावृत्तिपूर्वक अनन्त पद ब्रह्म का बोधक होता है। इसीलिए अनन्त पद अपने अर्थ में सार्थक होता हुआ लक्षणा से ब्रह्म की ओर भी संकेत करता है। अतः ब्रह्म के साथ सामानाधिरण्य में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। इस प्रकार "सत्यं ज्ञानं अनन्तं" यह लक्षण इतरव्यावर्तक होता हुआ अर्थात् मिथ्या, जड़ एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति करता हुआ ब्रह्म के स्वरूप का अवबोधक होता है।

अखण्डार्थ—ब्रह्म के स्वरूप बोधक उक्त प्रकार के लक्षण वाक्यों द्वारा जो ब्रह्म का बोध होता है, उस प्रक्रिया में ब्रह्म को बोध्य या अनुभाव्य न समझा जाय। वहाँ पर अखण्डाकार तद्रूप ही बोध होता है। बोध एवं बोध के विषय में कोई अन्तर नहीं होता। ज्ञान एवं ज्ञेय वहाँ पर एकीभूत हो जाते हैं। इसीलिए उक्त प्रकार ज्ञान को अद्वैत वेदान्ती अखण्डार्थबोध कहते हैं। अखण्डार्थबोध में वाक्य में स्थित पदों का परस्पर सम्बन्ध बोध नहीं होता। अपितु समिष्टरूप से वाक्य के रहस्य के रूप में यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।[4] अन्य अर्थ में यह कहा जायेगा कि जो शब्द पर्यायार्थक नहीं हैं, उन शब्दों की समष्टि से सम्बन्ध ज्ञान के बिना ही सामग्रिकभाव से जो निर्विषयक ज्ञान का उदय होता है, वह

---

१. अव्यक्तादीनिभूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ गीता २।२८

२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ३१५

३. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तो वितथा इव लक्षिताः ॥—माण्डूक्य कारिका २।६

४. चित्सुखी, पृ० १०६

अखण्डार्थ बोध है।[1] इस प्रकार अखण्डार्थ बोध ही तत्त्व अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार है।

अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित इस अखण्ड अर्थबोध के विरुद्ध निम्बार्क दार्शनिक माधव मुकुन्द ने अपने ग्रन्थ परपक्षगिरिवज्र में तीव्र विरोध प्रकट किया है। उनका कहना है कि अखण्डार्थबोध में कोई प्रमाण नहीं है। 'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म' आदि ब्रह्मस्वरूपलक्षण वाक्यों में निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक पद विशिष्ट का बोधक है न कि निर्विशेष वस्तु का। अद्वैतवादियों की ओर से सत्यादि वाक्यों को अखण्डार्थनिष्ठ सिद्ध करने के लिए माधव मुकुन्द ने अनुमान प्रस्तुत किया है एवं पश्चात् उसका युक्ति एवं तर्कों सहित प्रत्याख्यान किया है। अनुमान इस प्रकार है—'सत्यादि वाक्यं अखण्डार्थ-निष्ठं, प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र, इतिवाक्यवत्'[2] प्रकृष्ट प्रकाशचन्द्र यह वाक्य चन्द्रस्वरूप मात्र का बोधक है, इसी प्रकार सत्यादि वाक्य भी ब्रह्मस्वरूप मात्र का बोधक है। इस अनुमान के खण्डन में आचार्य माधवमुकुन्द ने अनुमान के दृष्टान्त को 'असद्दृष्टान्त' सिद्ध किया है। अखण्डार्थ बोधक अनुमान के लिए 'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र' वाक्य दृष्टान्त नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त वाक्य सखण्डार्थ बोधक है। उक्त वाक्य से 'प्रकर्ष का आश्रय प्रकाश-विशिष्ट चन्द्र' इस प्रकार का बोध होता है, इसीलिए यह अखण्डार्थबोधक वाक्य नहीं है। अखण्ड वस्तु प्रमाणसिद्ध नहीं है। निम्बार्क मत में सभी ज्ञान सविकल्पक होते हैं। निर्विशेष अखण्ड वस्तु अप्रसिद्ध है, इसीलिए उक्त अनुमान में साध्य-अप्रसिद्ध दोष भी है। आचार्य माधवमुकुन्द ने अखण्डार्थ के विरुद्ध अनुमान प्रस्तुत किया है। 'वेदान्त-जन्याप्रमासप्रकारिका, विचार-जन्य-ज्ञानत्वात् संशयादिनिवर्तकत्वात् च, कर्मकाण्डजन्य ज्ञानवत्। वेदान्त जन्या प्रमा ब्रह्मप्रकारविषया, ब्रह्मधर्मिकसंशयादि विरोधित्वात् ब्रह्म-विचार-जन्य-ज्ञानत्वाद् वा, कर्मकाण्ड विचार-जन्य-ज्ञानवत्'।[4] अर्थात् सत्य, ज्ञानं इत्यादि वाक्य-जन्य-प्रमाज्ञान सप्रकारक है, क्योंकि वह प्रमाज्ञानजन्य ज्ञान है। विचारजन्य ज्ञान मात्र ही सप्रकारक होता है—जैसे वेद के कर्मकाण्डीय वाक्य विचारजन्य ज्ञान सप्र-कारक हुआ करता है उसी प्रकार ब्रह्म प्रतिपादक वेदान्त-वाक्य-जन्य प्रमा ब्रह्मनिष्ठ धर्म-विषयक है, क्योंकि वह प्रमा ब्रह्म विषयक संशय एवं भ्रमविरोधी है, जो प्रमाज्ञान जिस धर्मिविषयक संशयादि का विरोधी होता है वह प्रमाज्ञान धर्मिगतप्रकारविषयक होता है, इसलिए वेदान्तवाक्य सप्रकारक होने से अखण्डार्थ नहीं हो सकता।

उक्त प्रकार से आचार्य माधवमुकुन्द ने परपक्ष गिरिवज्र में अद्वैत वेदान्त-अभिप्रेत अखण्डार्थ का प्रत्याख्यान किया है। माधवमुकुन्द के अतिरिक्त अन्य वैष्णव दार्शनिक भी अखण्डार्थ का विरोध करते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि

---

१. अपर्यायशब्दानामसंसर्गागोचर प्रमिति जनकत्वं वा तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्र-पर्यवसायित्वं वा अखण्डार्थत्वम्। अद्वैतसिद्धि, पृ० ६६३

२. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ५४८-५४९

३. वही, पृ० ५५०

४. वही, पृ० ५५६-५५७

५. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६६२, ६६३, ६६४।

में पूर्व पक्ष के रूप में अखण्डार्थ के खण्डन में प्रयुक्त प्रमुख युक्तियों को प्रस्तुत किया है।[१] अद्वैत वेदान्त के अन्य आचार्यों ने भी अखण्डार्थ के लक्षण दिए हैं। आचार्य पद्मपाद के अनुसार 'संसर्ग अगोचर अपर्याय शब्दों का जोकि परस्पर आकांक्षा नहीं रखते, अव्यतिरिक्त एक प्रातिपदिकार्थ मात्र अन्वय ही अखण्डार्थता है'।[२] कल्पतरुकार के अनुसार 'अविशिष्ट अपर्याय अनेक शब्द प्रकाशितं एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे' अखण्डार्थ है। कल्पतरुकार ने अखण्डार्थ प्रतिपादन में अनुमान भी प्रस्तुत किया है। 'सत्यादि वाक्य विशिष्टार्थपरक नहीं हैं, क्योंकि वह लक्षण वाक्य है। प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्य के समान'।[3] इस प्रकार उन्होंने अखण्डार्थ का प्रतिपादन किया है। वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म साक्षात्कार को मानते हुए भी ब्रह्म को सर्वोपाधिरहित स्वयंज्योति कहा है। ब्रह्म स्वयंज्योति, स्वयं प्रकाश है, उसमें किसी भी प्रकार के विशेष धर्म नहीं हैं। विशेष धर्म मानने पर भी वे काल्पनिक हैं, अतः ब्रह्म में एवं वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थता बनी रहती है।[४] आचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अखण्डार्थ के समर्थन में जोरदार युक्तियों का अवतरण किया है।[५] उनका कहना है कि सत्यादि पदों द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति-भेद स्वीकार करते हुए लक्षणा से उनको शुद्ध ब्रह्मपरक मानने पर अखण्डार्थता में किसी प्रकार असंगति नहीं है। यद्यपि विशुद्ध ब्रह्म के साथ किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता फिर भी काल्पनिक सम्बन्ध को मानकर लक्षणा हो सकती है। भ्रमकाल में प्रतीत रजत का सम्बन्ध शुक्ति के साथ काल्पनिक ही होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण कल्पनाओं का आस्पद शुद्ध ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म सबका अधिष्ठान है।

वस्तुतः ब्रह्मलक्षण वाक्यों द्वारा निषेधात्मक दृष्टि से ब्रह्मेतर की व्यावृत्ति ही प्रधान लक्ष्य है। अतः एक अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त आध्यारोपित प्रपंच की सत्ता नहीं है। जो कुछ भी है एक ब्रह्म ही है। सत्यादि पदों द्वारा अखण्डार्थ में एक ब्रह्म के प्रतिपादन करने में तात्पर्य इतना ही है कि उन पदों द्वारा अभिप्रेत अर्थ ब्रह्म को कहीं स्पर्श न कर जाय। ब्रह्म में गुणतः भी द्वितीय भाव की शंका हमें न हो, तदर्थ अखण्डार्थ की स्वीकृति है। इसीलिए तात्पर्यतः वेदान्त वाक्य ब्रह्म का बोधन कराते हैं। ब्रह्म बोधक जितने प्रमाण एवं वाक्य हैं वे सब ज्ञातृनिष्ठ अज्ञान आवरण की निवृत्तिमात्र के लिए हैं। ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है, उसके प्रकाश के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में वास्तविक अर्थ में वृत्तिविषयता भी नहीं मानते, जो भी वृत्ति का विषय होगा, वह मिथ्या होगा। वेदान्त वाक्यों की अखण्डार्थता का प्रतिपादन इसलिए किया जाता है कि निषेधात्मक दृष्टि से ब्रह्म में धर्मों का निषेध करने पर भी कथन तो ब्रह्म का

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६६३ में उद्धृत।

२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६७४ में उद्धृत।

३. सत्यादि वाक्यं विशिष्टार्थपरत्वरहितं, लक्षणवाक्यत्वात् प्रकृष्ठप्रकाशादिवाक्यवत्।
वेदान्त कल्पतरु, पृ० ९५

४. भामती, पृ० ५७ कल्पतरु परिमल भी।

५. लघुचन्द्रिका, पृ० ६६५-६७४

ही होता है। इसीलिए पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर विधि-निषेध आदि किसी भी प्रकार से ब्रह्म को कथन का विषय नहीं बना सकते। फिर भी व्यवहारार्थ प्रतिपादन तो करना ही पड़ता है। इसीलिए कल्पतरुकार के अनुसार जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो ब्रह्म की साक्षात्कारात्मक वृत्ति की निवृत्ति के लिए भी एक ज्ञान की आवश्यकता होती है। उसके लिए फिर एक ज्ञान की आवश्यता होती है। इसीलिए अनवस्था भय से साक्षात्कार-वृत्ति साक्षात्कार अनन्तर स्वयं ही शान्त हो जाती है, माना जाता है।[1] जैसे ईंधन को जलाने के पश्चात् अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार साक्षात्कार वृत्ति भी अन्त में शान्त हो जाती है। वस्तुतः अद्वैत मतानुसार अखण्डार्थ में ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञातृ, प्रति-पादक, प्रतिपाद्य, विशेषण-विशेष्य लक्षण-लक्ष्य आदि भाव नहीं रह जाते। एक निर्विशेष ब्रह्म 'में सबका पर्यवसान हो जाता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में स्वगतः—स्व-जातीय-विजातीय भेद नहीं मानते। ब्रह्म इन भेदों से रहित एकमेवाद्वितीय है। जैसे एक वृक्ष को उदाहरणार्थ लिया जाये तो वृक्ष के पत्र-पुष्प आदि भेद को स्वगत भेद समझना चाहिए, क्योंकि यह वृक्षों के अंगों का भेद है वस्तुतः वृक्ष एक है, फिर भी उसके अंग नाना हैं। वृक्ष का अन्य वृक्षों से भेद स्वजातीय भेद है अर्थात् आम के वृक्ष से इमली के वृक्ष का भेद स्वजातीय भेद है, क्योंकि वृक्ष होने के कारण दोनों सजातीय हैं। शिलादि से वृक्ष का भेद विजातीय भेद है, क्योंकि शिलादि भिन्न-जातीय पदार्थ हैं।[2] ब्रह्म में अद्वैत वेदान्त के अनुसार उक्त तीनों भेद नहीं हैं। जबकि वैष्णव-दार्शनिकगण ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं मानते। अर्थात् गुणगत भेद भी ब्रह्म में नहीं है।[3]

'सत्यं ज्ञानं, अनन्तं, ब्रह्म' आदि वाक्यों को ब्रह्म का स्वरूपलक्षण कहा गया है। क्या वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सम्भव है? स्वरूप मात्र बोधक को स्वरूपलक्षण कहते हैं, जो कि यावत्द्रव्यभावी होता है। द्रव्य और द्रव्य के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। क्या उस स्वरूप को उस वस्तु को, उस वस्तु का लक्षण बनाया जा सकता है? स्वरूप लक्षण में उक्त सत्यादि को स्वरूपमात्र मानने पर वे लक्षण नहीं हो सकते, क्योंकि लक्ष्य-लक्षण-भाव स्वरूप में नहीं होता। अतः औपचारिक लक्ष्य-लक्षण मानना पड़ेगा। औप-चारिक लक्ष्य-लक्षण-भाव स्वरूप में यावत् द्रव्यभावी नहीं हो सकता। इसीलिए प्रस्ता-वित स्वरूप लक्षण में सत्यादियों को ब्रह्म में आरोपित मानना होगा। आरोपित मानकर ही लक्षण के लिए उनका प्रयोग सम्भव है। जब तक आरोपित मानकर के लक्ष्य से लक्षण को पृथक् नहीं करेंगे तब तक लक्षण का प्रयोग सम्भव नहीं है। पृथक् मानने का

---

१. निरुपाधिब्रह्मेति विषयीकुर्वाणवृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्य अप्यु-पाधित्वाविशेषात्। वेदान्त कल्पतरु, पृ० ५७

२. वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्र पुष्प फलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥
पंचदशी, पृ० ४६। विद्यारण्य, वाराणसी।

३. शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, पृ० १२६। डा० अभेदानन्द।

अर्थ सत्यादि आरोपित धर्म हुए, आरोपित धर्म ब्रह्मस्वरूप में यावत् द्रव्यभावी नहीं होते, इसीलिए सत्यादि को अयावत् द्रव्यभावी मानना होगा। इस प्रकार सत्यादि लक्ष्यैक देश में रहने के कारण ब्रह्म का स्वरूप लक्षण न होकरके तटस्थ लक्षण हो जाते हैं। लक्ष्यैक देश में होने के कारण वाद में आरोपित सत्यादि धर्मों का बाध भी हो जाता है। उपर्युक्त अर्थ में ब्रह्म का मात्र तटस्थ लक्षण ही बन सकता है, स्वरूप लक्षण नहीं। तात्पर्य इतना ही है कि स्वरूपमात्र लक्षण नहीं बन सकता, स्वरूप से हट करके आरोपित धर्म मानने पर वह तटस्थलक्षण हो जाता है।

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जगत्-जन्मादि का कारण मानकर तटस्थ लक्षण द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाता है। लक्षण की परिभाषा आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में दी है। 'जो सम्पूर्ण लक्ष्य में स्थित न होता हुआ भी व्यावर्तक होता है, अर्थात् लक्ष्य के एक देश में होता है, साथ में इतर व्यावर्तक भी होता है, वही तटस्थ लक्षण है'।[1]—जैसे गन्वधत्व पृथ्वी का लक्षण है। महाप्रलय में परमाणुओं में तथा उत्पत्तिकाल में घटादि में गन्ध नहीं रहती, फिर भी गन्धवत्व को नैयायिक पृथ्वी का लक्षण मानते हैं।[2] वादरायण ने 'जन्माद्यस्ययत' (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र द्वारा ब्रह्मका तटस्थलक्षण प्रस्तुत किया है। भाष्यकारों के अनुसार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वेदान्त वाक्यों का अनुसरण करते हुए सूत्रकार ने उक्त लक्षण ब्रह्म का प्रस्तुत किया है। ब्रह्म में जगत् जन्मादिकारणत्व यावत्द्रव्यभावी नहीं है। लक्ष्यैक देश में कहीं पर आरोपितरूप से जगत्कारणत्व है। इसलिए तटस्थतया ब्रह्म का प्रतिपादन अधिक संगत है। तटस्थ लक्षण में जिन धर्मों को मानकर तटस्थ लक्षण का विधान किया जाता है, उन धर्मों की स्थिति वस्तु में कदाचित् एवं कथंचित होती है। जैसे देवदत्त के गृह को खोजता हुआ कोई व्यक्ति आता है एवं पूछे जाने पर कोई देवदत्त को बतलाता है कि वह देवदत्त का घर है जिसके सामने गौ खड़ी है। देवदत्त के गृह के लिए गौ की पहिचान अनिवार्य नहीं है, गौ गृह के सामने सदा सर्वदा रहेगी, यह बात निश्चित नहीं है। फिर भी वह व्यक्ति देवदत्त के घर को जान जाता है अर्थात् गौ की पहिचान से वह देवदत्तके घर को पहचान लेता है। इस प्रकार गौ के साथ देवदत्त के गृह का अनिवार्य संसर्ग न होते हुए भी गौ उस मोहल्ले के इतर गृहों का व्यावर्तक होती है। साथ में गौ देवदत्त के गृह का ही बोधक होती है। इसे तटस्थ लक्षण समझना चाहिए। विद्यारण्यमुनि ने अपने ग्रन्थ विवरणप्रमेयसंग्रह में ब्रह्मके लक्षण के विषय में पूर्वपक्षियों के द्वारा उत्थापित आक्षेपों का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि जन्मादि को मानकर ब्रह्म का तटस्थ लक्षण सम्भव है, 'काकाधिकरणत्ववदुपपत्तेः'[3] अर्थात् काक आदि को चिन्ह मान

१. वेदान्त परिभाषा, पृ० १५९

२. न्याय के अनुसार, 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' इसी करण उत्पत्ति क्षण के घट में गन्धवत्व पृथ्वी का लक्षण घटित नहीं होता, फिर भी जाति घटित लक्षण मानकर गन्धत्व को पृथ्वी का लक्षणं माना जाता है।

३. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० ६४६। विद्यारण्यमुनि, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, संवत् १९९६

कर जिस प्रकार गृह का पहिचान हो जाता है, उसी प्रकार जन्मादि को मानकर ब्रह्म का लक्षण हो जायेगा। काक अधिकरणत्व लक्षण में काक अधिकरणत्व गृह के अन्तर्भूत नहीं होता, क्योंकि गृह के अन्तर्भूत मान लेने पर काक के उड़ जाने से गृह का एक भाग नष्ट हुआ है, ऐसी बुद्धि हो जायेगी, इसलिए काक अधिकरणत्व गृह के लिए औपाधिक मात्र है।[1] लक्ष्य का अंग नहीं है। केवल लक्षण के ही अन्तर्गत है। काक मात्र उपलक्षण होकर के ही गृह का लक्षण होता है। इसी प्रकार जन्मादि ब्रह्म के उपलक्षण हैं और जन्मादि धर्म ब्रह्म के औपाधिक धर्म हैं। वे धर्म लक्षण के अन्तर्गत हैं, न कि लक्ष्य के अन्तरगंत। जन्मादि धर्मों से ब्रह्म का संसर्ग नहीं है, इसलिये ब्रह्म में जन्मादिकारणत्व का अन्तभवि नहीं होता। साथ में जगत् प्रपंच की कारणता ब्रह्म की है, सिद्ध होता है। आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'कल्पतरु परिमल' में तटस्थ का लक्षण करते हुए कहा है कि लक्षण को सकल इतर का व्यावर्तक होना चाहिए, साथ में लक्ष्य-बोधन में समर्थ भी होना चाहिए। जगत् जन्मादि कारणत्व जो ब्रह्म का लक्षण है वह 'शाखाग्रे चन्द्रः' के समान तटस्थलक्षण है। 'शाखाग्रे चन्द्रः' वाक्य चन्द्र को अन्य तारों से व्यावृत्त करता है। इसमें इतर व्यावर्तकत्व है। साथ में चन्द्र का बोध भी हो जाता है।[2] इसीलिए इसे तटस्थ लक्षण का उदाहरण समझना चाहिए। तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत समस्त अध्यारोपित कारणता 'जगत्कर्तृत्व' जीवेश्वर विभागादि आते हैं। ये सब जितने भी विभाजन हैं ब्रह्म में तटस्थतया ही हैं।

ब्रह्म की जगत्कारणता—अद्वैत आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् कारण कहा है। ब्रह्म में जगत् कारणता तटस्थतया ही क्यों न हो, पर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई जगत् कारण नहीं है। यही अद्वैताचार्यों का मत है। ब्रह्म में आरोपित जगत्प्रपंच का निषेध है। यदि आरोपित जगत् प्रपंच किसी अर्थ में है तो ब्रह्म में ही स्थित है। यही अद्वैत सिद्धान्त है। अतः यह प्रश्न उठता है कि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को किस रूप में जगत् कारण मानते है? मुख्यतः घटोत्पत्ति के लिए उपादान एवं निमित्त दोनों की आवश्यकता होती है। मिट्टी घट का उपादान है, कुम्हार निमित्त कारण है। जगत्प्रपंच कार्य के लिए ब्रह्म उपादान कारण है या निमित्त कारण अथवा दोनों है? दोनों कारणों में से एक कारण मानने पर ब्रह्म की व्यापकता नष्ट हो जायेगी। और ब्रह्म को दोनों कारण मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप उठाते हैं।[3] इसके उत्तर में विद्यारण्य मुनि ने कहा है कि ब्रह्म उपादान एवं निमित्त दोनों ही कारण है। सूत्र में 'यतः' शब्द से यही अभिप्रेत है।[4] ब्रह्म निमित्त कारण है। इसके लिए 'यतोवा' आदि श्रुति प्रमाण हैं ही। ब्रह्म जगत्

---

१. काकाधिकरणत्वं हि न…अतो गृहस्याऽधिकरणत्वं नामौपाधिको धर्म—इत्यादि, वही पंचपादिका विवरण, पृ० ६२५, मद्रास।
२. सकलेतरव्यावृत्य लक्ष्य-बोधन समर्थं इह लक्षणं—शाखाग्रे चन्द्रः इतिवत् तटस्थ-लक्षणम्। कल्पतरु परिमल, पृ० ८४ निर्णय सागर, १६३८
३. ब्रह्मण्यंगीक्रियमाणं कारणत्वं कीदृशम्? किं निमित्तत्वमेव? उतोपादानत्वमेव, अथोभयम्? न तावत् प्रथमद्वितीयौ…प्रमाणाभावात् विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० ६४७
४. सूत्रगतया 'यतः' इतिपंचम्या द्विविध कारणत्वस्य विवक्षितत्वात्। विवरणप्रमेय संग्रह पृ० ६४८

का उपादान कारण है उसमें 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इदं सर्व यदयमात्मा,[१] आत्मैवेदं सर्वम्'[२] इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म अतिरिक्त वस्तु स्वीकृत नहीं है, इसीलिए अन्तिम कारणता ब्रह्म में ही जाती है। सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार एक मात्र परब्रह्म ही जगत्-योनि है। उनके अनुसार शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। चूंकि कूटस्थ ब्रह्म स्वरूपत: जगत् का कारण नहीं बन सकता, इसलिए माया कोअद्वैत वेदान्तियों ने द्वारकारण माना है। माया के बिना ब्रह्म में जीव-जगत् का विवर्तन सम्भव नहीं है। अप्पय दीक्षित ने संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि के मत को उद्धृत करते हुए सिद्धान्तलेशसंग्रह में कहा है 'केचित् आहु:शुद्धमेवोपादानम्'।[3] विवरणकार के अनुसार शुद्ध ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता अर्थात् परिणामी उपादान कारण ब्रह्म नहीं बन सकता। ब्रह्म को विवर्तकारण अर्थात् विवर्त कार्य का अधिष्ठान कहा जा सकता है। परिणाम को दृष्टि में रखते हुए माया को ही कारण कहना होगा। अप्पय दीक्षित ने विवरणकार के मत को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'सर्वज्ञत्वादि विशिष्टं माया शबलमीश्वर रूपमेव उपादानम्'।[४] अर्थात् सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट माया रूप उपाधि से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान है। परन्तु परिणामी उपादान के लिए माया को ही ब्रह्माश्रित रूप से कारण मानना होगा, क्योंकि जगत् परिणाम का आरोप ब्रह्म में सीधा नहीं माना जा सकता। अथवा संक्षेपशारीरककार के समान बीच में माया को माध्यम रखना होगा। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने माया को सहकारी कारण कहा है। ब्रह्मसूत्रभाष्यभामती के मंगल श्लोक में वाचस्पति मिश्र ने कहा है "अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्यप्रभवतोविवर्तायस्यैतेवियदनिल तेजोऽबवनय:।"[५] आचार्य शंकर के अनुसार माया शक्तिमान् ब्रह्म जगत् का कारण है। माया जगत् का उपादान है। उस उपादान का आश्रय ब्रह्म है, इसीलिए उपादान कारण है। सुरेश्वर आचार्य ने आचार्य शंकर का अनुसरण करते हुए बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक में अज्ञान को उपादान कारण तथा उस अज्ञान को आश्रित करके ब्रह्म को जगत् कारण कहा है।[६] माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है। इसीलिए शुद्ध ब्रह्म में आश्रित होने पर भी वह शुद्ध ब्रह्म को स्पर्श नहीं करती। इस प्रकार से ब्रह्म को ही निमित्त एवं उपादान दोनों ही कहा जा सकता है।[७] जिन आचार्यों ने शुद्ध ब्रह्म को उपादान नहीं माना, उनका तात्पर्य इतने से ही है कि अधिष्ठानता शुद्ध ब्रह्म की होने पर भी वह उपादानत्व कुक्षि में प्रवेश नहीं करता। वह अपृस्प्ट ही रहता है। इसी दृष्टि से शुद्ध

---

१. छान्दोग्य ६।८।७
२. बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।६
३. छान्दोग्य ७-२-१२
४. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ६२
५. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ६३
६. भामती, मंगल श्लोक, पृ० १
७. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक १।४।३७१
८. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य सूत्र १।४।२३

ब्रह्म की निमित्त एवं उपादान कारणता का भी निषेध किया जा सकता है, साथ में माया को माध्यम मानकर दोनों कारणताओं का आरोप उसमें किया भी जा सकता है। इसी-लिए पदार्थतत्वनिर्णयकार ने ब्रह्म और माया दोनों को ही जगत् उपादान कहा है।[1] ब्रह्म को शुद्ध बतलाने के लिए सिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द सरस्वती ने माया शक्ति को ही उपादान कारण कहा है, ब्रह्म को नहीं।[2]

इस प्रकार ब्रह्म की कारणता के विषय में मतभेद सा दीखता है, परन्तु बात एक ही है, अद्वैत वेदान्त के सामने एक ही समस्या है—ब्रह्म को कार्यकारणभाव से परे रख-कर किसी द्वितीय की स्वीकृति के बिना आरोपित प्रपंच की व्याख्या प्रस्तुत करना। इसी समस्या के समाधान में भिन्न-भिन्न युक्तियों से अद्वैताचार्यों ने कारणता की व्याख्या की है। माया के माध्यम से कारणता कहने का अर्थ है ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करना। साथ में माया का भी वास्तविक अर्थ में निषेध करना है।

परिणाम और विवर्तवाद—ब्रह्म की कारणता के प्रसंग में यह भी बात समझ लेनी चाहिए कि अद्वैतवादी जगत्-प्रपंच को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, साथ में माया का परिणाम मानते हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'उपादान समसत्ताक कार्यापत्ति' को विवर्त कहा है।[3] अप्पय दीक्षित ने उपादान कारण का समानधर्मि अन्यथाभाव को परिणाम उससे विलक्षण अन्यथा भाव को विवर्त कहा है।[4] सीधे अर्थ में विलक्षण भाव को विवर्त कहा जा सकता है। कारण गुणोंको लेते हुए परिवर्तन को परिणाम कहा जा सकता है। रज्जु-सर्प भ्रमस्थल में सर्प रज्जुगत अज्ञान का परिणाम है तथा रज्जु का विवर्त है। दूध जिस प्रकार दधि में परिणित हो जाता है, उसे परिणाम कहते हैं। परन्तु विभ्रम स्थल की वस्तु को विवर्त ही कहा जायेगा।

पूर्वोक्त अर्थों में सम्पूर्ण कार्य जगत् ब्रह्म का विवर्त है, क्योंकि ब्रह्म ही कार्य जगत् का अधिष्ठान है। ब्रह्म कारण के अतिरिक्त कार्य जगत् का अस्तित्व नहीं है।[5] इसी प्रकार रत्नप्रभाकार तथा न्यायनिर्णयकार ने भी अपनी टीकाओं में कार्य जगत् को कारण-अनन्य कहा है।[6] माया की दृष्टि से जगत् परिणाम है, इसलिए अद्वैत वेदान्त में इस प्रकार परि-

---

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ७४
२. सिद्धान्तमुक्तावली कृतस्तु-मायाशक्तिरेवोपादानं न ब्रह्म 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरम-बाह्यम्' 'नतस्यकार्यं कारणं च विद्यते' इत्यादि श्रुतेः। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ८०
३. वेदान्त परिभाषा पृ० ५८, पंचपादिका विवरण में भी—सतत्त्वतो अन्यथाभावः परिणामः, कहा है। पृ० ६३५ मद्रास
४. कारणसलक्षणो अन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्त इति वा, कारणभिन्न कार्यं परिणामः तदभेदं विनैव तदव्यतिरेकेन दुर्वचं कार्यं विवर्तः। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५८-६०
५. तथा च सर्वविकार जातं तस्मादवस्तु सत्। शांकर भाष्य, भामती तथा कल्पतरु परि-मल भी, पृ० ४५५
६. रत्नप्रभा-न्याय-निर्णय, सूत्र २।१।१३, पृ० ३७२-३७४

णाम एवं विवर्त दोनों वाद स्वीकृत हुए। माया की दृष्टि से परिणामवाद स्वीकृत हुआ तथा ब्रह्म की दृष्टि से विवर्तवाद। वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्मपरिणामवाद स्वीकार करते हैं तथा सांख्य दर्शन प्रकृति परिणामवाद को स्वीकार करता है। इन दृष्टिकोणों का खण्डन अद्वैताचार्यगण ब्रह्मसूत्र-भाष्य-टीकाओं में करते हैं, क्योंकि उनको ब्रह्म परिणामवाद स्वीकार नहीं है। इसी प्रकार न्याय दर्शन का मात्र निमित्त-कारणवाद भी अद्वैत वेदान्त को स्वीकार नहीं। न्याय दार्शनिक परमाणुओं को उपादान तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं। इस प्रकार के द्वैतवाद के अद्वैत वेदान्ती घोर विरोधी हैं।

ब्रह्म का ईश्वरभावः—अद्वैत वेदान्त में जब माया को उपादान कह दिया जाता है, तब ईश्वर को निमित्त कारण कह दिया जाता है। वस्तुतः ब्रह्म का ईश्वर भाव भी मिथ्या ही है। 'मायिनं तु महेश्वरम्' इस उक्ति के अनुसार ईश्वर की उपाधि माया है। विशुद्ध चेतन मायोपाधि से उपहित होकर ईश्वर कहलाता है।[1] माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही ईश्वर है। ईश्वर माया को अपने वश में करके स्थित होता है, इसलिए वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है। अप्पय दीक्षित ने सिद्धान्त-लेश-संग्रह में प्रकटार्थ विवरण के मतानुसार माया में चित् प्रतिबिम्ब को ही ईश्वर कहा है।[2] संक्षेपशारीरक कार के मत को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि 'कार्योपाधिरयं जीवः, कारणोपाधिः ईश्वरः'[3] वस्तुतः विशुद्ध चेतन महाकाश के समान एक है। घटादि से जिस प्रकार महाकाश सीमित हुआ सा लगता है, उसी प्रकार अविद्यादि उपाधि से विशुद्ध चेतन भी सीमित हुआ-सा लगता है। यह ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और जगत् का निमित्त कारण है। यही ईश्वर भक्तों द्वारा उपास्य भी है।[4] इसी ईश्वर के विषय में गीता में कहा गया है "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।"[5] यही ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का शासक है। परन्तु अद्वैत वेदान्त का ईश्वर न्याय का ईश्वर नहीं है, न्याय दर्शन का ईश्वर निमित्त कारणमात्र है। उपादान कारण अन्तिम रूप से परमाणु हैं। अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक रूप से स्वीकृत उपादान कारण माया तथा निमित्त कारण ईश्वर—दोनों ही अन्तिम सत्य नहीं हैं। ईश्वर का ईश्वरत्व मिथ्या है, किन्तु विशुद्ध चैतन्य के रूप में ईश्वर परम सत्य है। माया उपाधि को हटा देने पर चेतनांश में ईश्वर शुद्ध चित् ही तो रह जाता है। इसलिए शुद्ध चित् की दृष्टि से ईश्वर परम सत् है और माया की दृष्टि से वह प्रतीयमान सत् है। ईश्वर सर्वज्ञ इसलिए है क्योंकि वह माया का वशीभूत नहीं है। जीव अविद्या का वशीभूत होता है, इसलिए अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट होता है। ईश्वर माया को शक्ति के रूप में उपयोग में लाता है। जिस प्रकार घटाकाश अपने आप में शुद्ध रहता है, उसी प्रकार मायोपहित चेतन भी अपने आप में शुद्ध रहता है। ईश्वर भोक्ता नहीं, द्रष्टा है 'द्वासु-

---

१. मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वम्। संक्षेप शारीरक ३।१४८
२. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० ८२
३. वही पृ० ८५
४. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ८२
५. गीता १८।६१

पूर्णा' इत्यादि श्रुति द्वारा ईश्वर का द्रष्टृत्व सिद्ध है। चेतन का ईश्वरभावत्व अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का ईश्वरभावत्व, उसका तटस्थ लक्षण भी है, क्योंकि यावत् ब्रह्म में ईश्वरत्व की कल्पना नहीं की जाती। न्यायदार्शनिक ईश्वरसिद्धि में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं अद्वैत वेदान्ती श्रुति प्रमाण को प्रधान प्रमाण मानते हुए अनुमान प्रमाण भी स्वीकार करते हैं। ईश्वरसिद्धि में अकेले अनुमान प्रमाण पर्याप्त नहीं हैं। आचार्य शंकर ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रस्तुत किये जाने वाले सभी प्रमाणों पर विचार करते हुए उनकी निष्फलता को दर्शाते हैं।[1] वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म के जिस सगुण रूप को स्वीकार करते हैं, वह ईश्वर के रूप में अद्वैत वेदान्त में भी स्वीकृत है। इसीलिए इस दृष्टि से सगुण ब्रह्मवादियों के साथ अद्वैत वेदान्त का कोई विरोध नहीं है, किन्तु ब्रह्म के निर्विशेष रूप के विषय में वैष्णव वेदान्ती आपत्ति उठाते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी ईश्वर जीवकर्मसापेक्ष होकर ही सृष्टि का निर्माण करता है। ऐसा न करने पर ईश्वर के ऊपर वैषम्य और कठोरता का दोष दिया जा सकता है।[2] इसलिए जगत् की विषमता के लिए प्राणी स्वयं अपने कर्मों के कारण उत्तरदायी हैं, न कि ईश्वर। गीता में कहा है कि ईश्वर न किसीसे पाप लेता है और न किसी से पुण्य लेता है। अज्ञान के कारण जीव का ज्ञान ढका हुआ रहता है तथा कर्म के रहस्य को नहीं समझता।[3] वैष्णव दार्शनिकगण जिस प्रकार ईश्वर को भक्तवत्सल तथा भक्त द्वारा उपास्य मानते हैं, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्ती भी ईश्वर को भक्तवत्सल मानते हैं।

साक्षीस्वरूपविवेचन—सभी शरीरों में जीव से भिन्न रूप में उदासीन साक्षी चैतन्य होता है। जीव अन्तःकरणविशिष्ट होता है। अज्ञान से विशिष्ट होने के कारण वह प्रकाशक नहीं हो पाता। इसीलिए सूक्ष्म एवं स्थूल देहद्वयों का अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य के रूप में साक्षी चेतन माना गया है। साक्षी का अर्थ द्रष्टा मात्र है। 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इस परिभाषा के अनुसार जो द्रष्टा होता हुआ भी उदासीन होता है, वह साक्षी है। लोक में भी उदासीन द्रष्टा को साक्षी कहते हैं।[4] यह कूटस्थ चैतन्य साक्षी जीव कोटि में भी नहीं है और न ईश्वर कोटि में है। यह उदासीन एवं प्रकाशक है। विशुद्ध चैतन्य ही जीव के साथ अभिन्न रूप से दोनों शरीरों का अधिष्ठान बनकर साक्षी कहलाता है। जीव भोक्ता होता है, इसीलिए विकारों से सुखी-दुखी होता है। किन्तु साक्षी भोक्ता नहीं होता द्रष्टामात्र होता है। यद्यपि जीव और साक्षी का भेद ज्ञात नहीं रहता, फिर भी साक्षी बिम्ब रूप है, जीव प्रतिबिम्ब रूप। अध्यास के कारण दोनों एक से लगते हैं। रंगमंच का प्रदीप जिस प्रकार सभी को प्रकाशित करता है, पर किसी भी अभिनेता के अभिनय से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार साक्षी सब कुछ

---

1. Indian philosophy Vol II, page 542 Dr. Radhakrishnan.
२. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य २।१।३४
३. गीता ५।१५
४. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १८०

देखता हुआ भी जीवगत सुख-दुःखों से प्रभावित नहीं होता।[1] यह स्वयंज्योति स्वयंप्रकाश है। सुषुप्तिकाल में भी साक्षी जाग्रत रहता है। इसी कारण जाग्रत काल में सुषुप्ति का भी स्मरण हो आता है—कि 'मैं कुछ नहीं जानता था'। आचार्य चित्सुख के अनुसार जीवत्व, ईश्वरत्व आदि धर्मों से रहित उन-उन जीवों से तादात्म्य होकर प्रत्येक शरीर में भेद को प्राप्त होकर शुद्ध चेतन ही साक्षी रूप में प्रतीत होता है। वह ईश्वर कोटि में इसलिए नहीं आता, क्योंकि ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। इसीलिए वह उदासीन नहीं होता।[2] कौमुदीकार एवं तत्वशुद्धिकार ने भी उदासीनस्वरूप साक्षी को माना है।[3] वस्तुतः अद्वैत वेदान्ती अनावृत साक्षी को जीव के द्रष्टा के रूप में मानते हैं। जीव अविद्या से ग्रसित होने के कारण स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का द्रष्टा नहीं हो पाता। साक्षी के रूप में विशुद्ध चेतन ही जीव के साथ अभिन्न रूप से दोनों शरीरों का प्रकाशक होता है। यह जीव और शुद्ध चैतन्य में मध्यस्थता करता है। प्रत्येक शरीर में साक्षी एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न सा लगता है।

वस्तुतः ब्रह्म एक ही है। वह विशुद्ध एवं निर्विशेष है। इसी कारण मुमुक्षु के लिए जगत् की व्याख्या प्रस्तुत करने हेतु उसे ब्रह्म, ईश्वर, साक्षी, जीव आदि नाना रूपों में बतलाया जाता है। इन सभी रूपों में अविद्यांश मिथ्या है तथा चेतनांश शुद्ध ब्रह्म है। वस्तुतः ब्रह्म में अंश नहीं होता, फिर भी समझने के लिए तथा समझाने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किए बिना उपाय नहीं है। पंचदशी में विद्यारण्यमुनि ने नित्य शुद्ध चैतन्य को अविद्या उपाधि भेद से ब्रह्मचैतन्य, कूटस्थ चैतन्य, ईश्वर चैतन्य एवं जीव चैतन्य-चतुर्विध रूप से वर्णित किया है।[४] संक्षेप शारीरककार के अनुसार जीव, ईश्वर और ब्रह्म-ये तीन विभाजन शुद्ध चेतन के हैं। विद्यारण्य मुनि कूटस्थ साक्षी चेतन को छोड़कर चार रूपों में चैतन्य का विश्लेषण करते हैं। एक ही महाकाश जिस प्रकार उपाधि भेद से घट के अन्दर सीमित होकर घटाकाश, घट मध्य में स्थित जल में प्रतिबिम्बित होकर जलाकाश, आकाश में मेघों में प्रतिबिम्बित होकर मेघाकाश एवं अनन्त, अपरिच्छिन्न नीलाकाश महाकाश के रूप में दिखाई देता है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहों का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य साक्षी है। अपरिच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है तथा ब्रह्माश्रित अनादि माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान के कारण साक्षी चैतन्य की दृष्टि से ओझल रहता है। सदानन्द ने वेदान्त सार में शुद्ध चैतन्य के चार विभाग करके बतलाया है कि जो अनुपहित चैतन्य है, वह तुरीय चैतन्य है। उसी को शिवं, अद्वैतं चतुर्थम् कहा है। विशुद्ध सत्व प्रधान माया को उपहित करके ईश्वर होता है जो कि सर्वज्ञ है।[५] सूक्ष्म-शरीर का आधारभूत समष्टि अज्ञान में उपहित चैतन्य सूत्रात्मा

---

१. पंचदशी, नाटक दीप प्रकरण १०-११
२. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १८४
३. वही, पृ० १८४ एवं १८६
४. पंचदशी ६।१८
५. वेदान्तसार, पृ० २३

या हिरण्यगर्भ है तथा जाग्रत् अभिमानी चैतन्य वैश्वानर या विराट् है।[1] इस प्रकार चार विभाजन होने पर भी चारों में एक ही शुद्ध चैतन्य की अनुवृत्ति है, इसीलिए वही अविद्या के माध्यम से एकमात्र अधिष्ठान है। वस्तुतः अध्यारोप की व्याख्या करने के लिए शुद्ध ब्रह्म की ये श्रेणियाँ या विभाजन दिखलाया गया है। इन अध्यारोपों से शुद्ध ब्रह्म में किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो अस्पृष्ट रहता है, क्योंकि आत्म-अनात्मा आदि भाव, ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव भी आत्मा में कल्पित हैं। आत्मा इनसे विवर्जित है। परमार्थतः आत्मा का न निरोध है न उत्पत्ति है नहीं जीवभाव है, वह तो एक शाश्वतरूप है।[2]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्गुण ब्रह्मवाद में सम्पूर्ण विरोधों का अवसान हो जाता है। निर्गुण ब्रह्म सत्यस्य सत्यम् है। सत्य का रूपान्तर नहीं होता। अद्वैत के अनुसार जिसका रूपान्तर होता है वह सत्य नहीं है, वह मिथ्या है। आत्मा या ब्रह्म के विषय में नाना मतों को देखते हुए ऐसा लगता है कि वास्तविक बात कुछ और ही है। उपनिषदों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। कहीं पर प्राण को, मन को, विज्ञान को भी आत्मा कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार क्रमशः निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए अन्न आदि को भी आत्मा या ब्रह्म कहा गया है। तात्पर्यनिर्णय करने पर समस्त वेदान्त वाक्यों का निर्गुण ब्रह्म में ही अवसान है। सत् एक है, उसको विद्वान नाना रूपों में कहते हैं। नामरूप काल्पनिक हैं, कथनमात्र है। कहा भी है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" ऋग्वेद १-१६४।४६।

---

१. वेदान्तसार, पृ० १६

२. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता॥
माण्डूक्य कारिका २।३२

द्वितीय अध्याय

अद्वैत वेदान्त में जीव

जीव का स्वरूप—परब्रह्म अद्वैत चिदानन्दस्वरूप है। जो देहाभिमानी अहं-प्रत्ययगम्य है, वह प्रकृत आत्मा नहीं है, वह अविद्या कल्पित अर्थात् अविद्या में प्रतिविम्बित चैतन्य है, जिसे जीव कहते हैं।[1] तत्वविवेककार एवं प्रकटार्थ विवरणकार-दोनों के अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है। अप्पय दीक्षित ने सर्वज्ञात्म मुनि के मत को उद्धृत करते हुए 'कार्योपाधिरयं जीवः' ऐसा कहा है।[2] अविद्या प्रतिबिम्ब जीव है, इसका समर्थन विवरणकार ने भी किया है।[3] सूर्य जिस प्रकार विभिन्न जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर जीव भावापन्न होता है।[4] परमेश्वर का माया में प्रतिबिम्बित ईश्वरभाव जिस प्रकार मिथ्या है, उसी प्रकार जीवभाव भी मिथ्या है। वस्तुतः परमात्मा शुद्धअंश में जीवाभिन्न है। वह असीम, अनन्त होते हुए भी सीमित के समान, अभिन्न होकर भी भिन्न के समान, अकर्ता होकर भी कर्त्ता के समान, अभोक्ता होकर भी भोक्ता के समान, अज्ञाता होकर भी ज्ञाता के समान, मन-वाणी के द्वारा अगोचर होकर भी अहं-प्रत्ययगोचर होकर जीव-भावापन्न हो जाता है। अनन्त महाकाश जिस प्रकार घटादि उपाधिभेद से सखण्ड एवं भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार अखण्ड चैतन्य भी अविद्या उपाधियोग से इन्द्रिय, मन एवं शरीर के धर्मों से विशिष्ट होकर प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य ही अहं-अभिमानी जीव कहलाता है।[5] ब्रह्म के जीवभाव की व्याख्या में अद्वैत वेदान्तियों में मतभेद दिखाई देते हैं। इनमें से अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद उल्ले-

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ८२
२. वही, पृ० ८५
३. पंचपादिका विवरण, पृ० २६४
४. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पृ० २ ३ ५०
५. अध्यास भाष्य भामती, पृ० ३८

खनीय हैं।

अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद—अवच्छेदवादी के मत में अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन ही जीवात्मा है। यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है। इसी कारण जीवात्मा भी नाना है। इस मत में जीव घटाकाश के समान तथा ब्रह्म महाकाश के समान है। अवच्छेदवाद के समर्थन में अवच्छेदवादी 'अंशोनाना व्यपदेशात्' (ब्रह्म सूत्र २।३।४३) यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं। उपनिषद् में कहीं-कहीं पर जीव का ब्रह्माग्नि के स्फुलिंग के रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार से अवच्छेदवाद मान लेने पर ब्रह्म-जीव में उपास्य-उपासक भाव भी बन सकता है।

प्रतिबिम्बवादी जीव को शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब मानते हैं और अपने मत के समर्थन में 'आभास एव च' (ब्रह्मसूत्र २।३।५०) यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं। इस सूत्र के अनुसार जीव ब्रह्म का अभास है अर्थात् प्रतिबिम्ब है। ब्रह्म बिम्ब है, जीव प्रतिविम्ब है। जिस प्रकार सूर्य और जलस्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब में भेद नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्म प्रतिबिम्ब जीव में भेद नहीं है। फिर भी प्रतिविम्ब के आधार के नाना होने से जिस प्रकार प्रतिबिम्बभाव से सूर्य नना हो सकता है, उसी प्रकार नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित ब्रह्म भी नाना जीव रूप से प्रतीत होता है। प्रतिबिम्ववादी 'अंशो नाना' इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए इव सूत्र को भी अपने ही समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। सूत्र के शांकर भाष्य में 'अंश इस अंशः' न हि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति' २।३।४३, अर्थात् अवयवरहित शुद्ध चैतन्य का अंश सम्भव नहीं हैं, इसलिए जीव को प्रतिबिम्ब ही मानना चाहिए। ब्रह्म के साथ जीव का अंशांशीभाव सम्बन्ध सम्भव नहीं है। 'आभास एव च' इस सूत्र में 'एव' शब्द के होने के कारण प्रतिबिम्बवाद ही समर्थित होता है। आचार्य गोविदानन्द ने शांकरभाष्यरत्नप्रभा में 'एव' शब्द के ऊपर जोर देकर सूत्रकार द्वारा प्रतिबिम्बवाद ही अभिप्रेत है, समर्थन किया है।[1]

आचार्य सुरेश्वर के मत में बिम्ब और प्रतिविम्ब अभिन्न नहीं, प्रतिविम्ब बिम्ब की छाया अर्थात् आभास है। मुख की छाया मुख से भिन्न है, इस प्रकार ब्रह्म की छाया अर्थात् आभास ब्रह्म से भिन्न है। छाया सत्य नहीं, मिथ्या है। इसलिए प्रतिबिम्ब भी सत्य नहीं, मिथ्या है। समष्टि माया का आभास ईश्वर एवं व्यष्टि अविद्या का आभास जीव है।

प्रतिबिम्बवाद की विस्तृत व्याख्या तथा विभिन्न आचार्यों के मत—प्रतिबिम्बवादी उक्त आभासवाद में अरुचि प्रकट करते हैं।[2] उनके अनुसार जीव की व्याख्या प्रतिबिम्बवाद से अधिक संगत हो सकती है। दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखप्रतिबिम्ब वस्तुतः मुख से पृथक् वस्तु नहीं है। इस प्रकार बुद्धिदर्पण में प्रतिबिम्बित चित् प्रतिबिम्ब चिदात्मा से भिन्न नहीं है। विम्ब से प्रतिविम्ब को पूर्णतः यदि भिन्न माना जाय, तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव ही नहीं वन सकता। इसलिए प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न नहीं

---

१. रत्नप्रभा, सूत्र २।३।५०, गोविन्दानन्द कृत भाष्य।

२. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० २३२

मानना चाहिए । इस मत में जब 'दर्पण में मुख नहीं है,' ऐसा करके बाध-ज्ञान का उदय होता है, तो उस समय मुख के साथ दर्पण के सम्बन्ध का ही बाध होता है । इससे प्रति-बिम्ब से बिम्ब भिन्न नहीं सिद्ध होता । यहाँ पर शंका हो सकती है कि जैसे दर्पणगत मुखप्रतिविम्ब ज्ञानशून्य होता है, उसी प्रकार जीव भी ज्ञानशून्य होगा ।[1] अर्थात् जीव अपने आत्मा के साथ अपना भेद नहीं जान सकता, क्योंकि वह प्रतिबिम्ब है, जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब । दर्पण में स्थित जो मुखप्रतिबिम्ब है, वह मुख के साथ अपना अभेद नहीं समझ सकता । क्योंकि वह अचेतन है । प्रतिबिम्ब को चेतन नहीं मान सकते, क्योंकि चेतन मानने पर मुख में चेष्टा हुए विना ही प्रतिबिम्ब में चेष्टा होने लगेगी, परन्तु मुख में चेष्टा हुए बिना प्रतिबिम्ब में चेष्टा नहीं होती । जीव में चैतन्य गुण जीव-भाव के समय में भी होता है । इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि दृष्टान्त सर्वांश में नहीं दिया जाता । दृष्टान्त से इतना ही लेना चाहिए कि प्रतिबिम्ब और बिम्ब में जिस प्रकार भेद नहीं है, प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्ब ही है, उसी प्रकार अन्तःकरण आदि उपा-धियों को छोड़ने पर जीव ब्रह्म ही है । दर्पण में स्थित मुख प्रतिबिम्ब को मुख से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर मुख के बिना भी प्रतिबिम्ब की स्थिति की आपत्ति होगी । कुछ अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार प्रतिबिम्बबोध पूर्णतया भ्रान्तिमात्र है । जब प्रतिबिम्ब गृहीत होता है तब नेत्र रश्मि दर्पण से टकराकर वापिस आकर पुनः बिम्ब-रूप मुख का ही ग्रहण कराती है । ग्रहण मुख का ही होता है । परन्तु प्रतिबिम्बग्रहण का भ्रम होता है ।[2] इसी कारण प्रतिबिम्ब विपरीत रूप में गृहीत होता है । अवच्छेदवाद में प्रतिबिम्बवादी दोष देते हुए कहते हैं कि जब चैतन्य अन्तःकरण द्वारा परिच्छिन्न होता है तब वही परिच्छिन्न चैतन्य मृत्यु के पश्चात् नहीं रह सकता । जिस प्रकार घट को इधर-उधर ले जाया जा सकता है । उसी प्रकार अन्तःकरण का परलोकगमन सम्भव है, किन्तु घट को स्थानान्तरित करने पर घट के अन्दर स्थित पूर्वाकाश नहीं रहता, अपितु जहाँ पर घट को ले जाया गया वहाँ का आकाश घट के अन्दर होता है, क्योंकि आकाश का गमन-आगमन सम्भव नहीं ।[3]—इसी प्रकार शरीरपात के अनन्तर अन्तःकरण जब परलोकगमन करता है तब इहलोक में अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन के साथ परलोकगमन नहीं करता, क्योंकि महाकाश स्थानीय चेतन का गमनागमन सम्भव नहीं है । परलोक-गामी अन्तःकरण परलोकस्थ चैतन्य प्रदेश को ही अवच्छेद करेगा, इस लोक के चैतन्य प्रदेश को नहीं । ऐसी स्थिति में इहलोक-परलोक चैतन्य भागों के भिन्न-भिन्न होने के कारण अन्तःकरण के एक होने पर भी जीव भिन्न-भिन्न होंगे तथा प्रतिकर्मव्यवस्था नहीं बनेगी । इससे कृत-नाश एवं अकृत-आगम दोष होगा ।[4] एक जीव शुभ कर्म करके भी परलोक में जीव भिन्न हो जाने के कारण उस शुभ कर्म का फल नहीं पा सकेगा, इसी

---

१. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० २२९
२. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० ३१७ पंचपादिका विवरण भाव प्रकाशिका, पृ० २८५,-२८६
३. सिद्धान्तलेश संग्रह में उद्धृत, पृ० ११८
४. कृतहानाकृताभ्यागम प्रसंगात् । सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० २८५-८६

प्रकार अशुभ कर्म के लिए भी समझना चाहिए। यदि इह लोक परलोक में चैतन्य में काल्पनिक भेद नहीं मानेंगे तो जीवेश्वर भेद करना भी कठिन होगा। जिस प्रकार इह-लोक परलोक में एक चैतन्य है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में एक ही चैतन्य होने के कारण प्रतिकर्म-व्यवस्था नहीं बन पायेगी। जो चैतन्य राम के अन्तःकरण द्वारा परिच्छिन्न हुआ है, वही चैतन्य श्याम के भी अन्तःकरण द्वारा परिच्छिन्न होगा। इस प्रकार सुख-दुःख-भोग में अव्यवस्था होगी। प्रतिबिम्बवादियों का कहना है कि प्रतिबिम्ब-वाद में इस प्रकार के दोष नहीं दिये जा सकते। उनका कहना है कि अवच्छेदवाद में जिस प्रकार अवच्छेद्य के गमनागमन की आपत्ति होती है, प्रतिविम्बवाद में उसकी सम्भावना नहीं।[1] प्रतिविम्बवाद में बिम्ब एक है, इसीलिए भिन्न-भिन्न अन्तःकरण रूप दर्पणों में एक ही बिम्बभूत चैतन्य के नाना प्रतिबिम्ब हो सकते हैं। फिर भी नाना प्रतिबिम्ब एक बिम्ब से अभिन्न हैं। अतः वे प्रतिबिम्ब अन्तःकरण भेद से नाना लगने पर भी वस्तुतः एक ही हैं। इस मत में शुद्ध चैतन्य बिम्ब स्थानीय है। वह किसी भी उपाधि से परि-च्छिन्न नहीं होता।

कुछ लोग ईश्वर को भी शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब मानते हैं और जीव को भी। कुछ लोग ईश्वर को बिम्ब और जीव को प्रतिबिम्ब कहते हैं। प्रकाशात्मयति के अनुसार ईश्वर बिम्ब स्थानीय है और जीव उसका प्रतिबिम्ब। अविद्या में चैतन्य का आभास ही जीव है।[2] उनके अनुसार जीवेश्वर भेद-साधक उपाधि अज्ञान है। अनादि अज्ञान के बिना जीवेश्वर भेद नहीं होता। अज्ञान के विनाश होने पर जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ब्रह्म के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ अविद्या ही है। एक उपाधि में एक ही प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। दो प्रतिबिम्बों के लिए दो उपाधियां चाहिए, परन्तु ऐसा समभव नहीं। इसलिए जीव और ईश्वर-दोनों ही प्रतिबिम्ब हैं, यह मत नहीं माना जा सकता। ईश्वर बिम्ब है, जीव प्रतिबिम्ब, इस प्रकार का सिद्धान्त ही ठीक है। बिम्ब होने के कारण ईश्वर में स्वातन्त्र्य आदि गुणों के होने में असंगति भी नहीं है और इस प्रकार जीव ईश्वराधीन भी रहेगा।[3] इसी से ईश्वर को बिम्ब मानने से स्वतन्त्र ईश्वर के लिए 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' २।१।३३, इस सूत्र की भी संगति बैठ जाती है। लोक में भी दर्पण में पड़े हुए अपने प्रति-बिम्ब के ऋजु-वक्र आदि भावों को देखकर बिम्बभूत व्यक्ति खेलता है, प्रसन्न होता है। वैसे ही ब्रह्म अविद्या में प्रतिबिम्बित अपने ही रूप जीवों को देखकर खेलता है। इसी अर्थ में अर्थात् ईश्वर स्वतन्त्रतापूर्वक सृष्टिलीला रचता है, इस अर्थ में ईश्वर बिम्ब और जीव प्रतिबिम्ब, यह सिद्धान्त अधिक संगत लगता है। प्रतिबिम्व ईश्वरवादियों के अनु-सार ईश्वर की स्वतन्त्रता की कल्पना क्लिष्टकल्पना होगी।[4] जो लोग अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं, उनके सिद्धान्त की व्याख्या सुसंगत नहीं है, अथवा

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह पृ० ८६
२. वही, पृ० १०२
३. वही, पृ० १०४
४. वेदान्त कल्पतरु पृ० ४८२

उनके सिद्धान्त की व्याख्या कि जीव अविद्या प्रतिबिम्बित चैतन्य है, इस मत के अनुसार हो जायेगी। अविद्या में चित् प्रतिबिम्ब ही जीव है, फिर भी भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों के साथ तादात्म्य-अध्यास होने के कारण उन-उन अन्तःकरणप्रयुक्त जीवों में सुख-दुःख, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म सम्भव हो सकते हैं। इन धर्मों केलिए अन्तःकरण ही विशेष अभिव्यक्ति का स्थान है। अन्तःकरण अविद्या का ही परिणाम है। इसीलिए अविद्या में प्रतिबिम्ब चेतन जीव है, इसकी व्याख्या अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, इस प्रकार करने पर भी किसी प्रकार की असंगति नहीं है।[1]

बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न या अभिन्नत्व का विचार—प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न या अभिन्न है? सत्य या मिथ्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ अद्वैत वेदान्ती प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न कहते हैं। भेद की जो प्रतीति होती है, वह भ्रमात्मक है। इस मत के अनुसार बिम्ब-अभिन्न होने के कारण प्रतिबिम्ब भी सत्य है। अनुमान के रूप में प्रतिबिम्ब की सत्यता की सिद्धि इस प्रकार होगी—'बिम्ब के समान प्रतिबिम्ब भी सत्य है, प्रतिबिम्ब से अभिन्न होते हुए भी बाधाभाव होने के कारण'। इस प्रकार अभिन्नतया प्रतिबिम्ब सत्य सिद्ध होता है। कुछ आचार्यों के मत में बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब अभिन्न नहीं हैं।[2] बिम्ब सत्य है, प्रतिबिम्ब मिथ्या है। उनके अनुसार मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में है, ग्रीवा में स्थित मुख दर्पणस्थ मुख नहीं हो सकता। ग्रीवास्थ मुख और दर्पणस्थ मुख परस्पर विपरीत होते हैं। जो लोग 'दर्पण में अपना मुख देखा है', ऐसा अभेद कथन करते हैं, वह कथन भ्रमपूर्ण है। और भी बात यह है कि छोटे दर्पण में मुख बड़ा होने पर भी छोटा ही दिखाई देगा। इस प्रकार प्रतिबिम्बभेदवादी के अनुसार प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न ही सिद्ध होता है। इसीलिए अद्वैत विद्याचार्य प्रतिबिम्ब को मिथ्या ही कहते हैं। विवरणाचार्य आदि के अनुसार दर्पण को देखकर मनुष्य कहता है कि 'मेरा मुख मलिन है, मेरा मुख दीख रहा है', इत्यादि, इस प्रकार बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद व्यवहार से सिद्ध होता है कि प्रतिबिम्ब बिम्बाभिन्न है। भेद-व्यवहार औपचारिक है।[3]

विवरण अनुसारी आचार्यों का और भी कहना है कि प्रतिबिम्ब यदि बिम्ब से भिन्न हुआ एवं मिथ्या हुआ तो 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्यों में प्रतिपादित जीव ब्रह्मैक्य की सिद्धि कैसे होगी?[4] इन वाक्यों में जीव को ब्रह्म ही कहा गया है। और ब्रह्म होने कारण जीव वस्तुतः नित्य शुद्ध स्वरूप है। ऐसे जीव को बिम्ब से प्रतिबिम्ब को भिन्न मानकर मिथ्या कह देने पर श्रुति वाक्यों की असंगति होगी, इसीलिए प्रतिबिम्ब को बिम्बाभिन्न मानना चाहिए तथा उसे सत्य मानना चाहिए। विवरणाचार्य के इस मत का अनुसरण विद्यारण्य मुनि आदि आचार्य भी करते हैं।

प्रतिबिम्बभिन्नवादी अद्वैतविद्याआचार्य आदि का कहना है कि पूर्वोक्त प्रतिबिम्ब

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृष्ठ १०५
२. सिद्धान्त लेश संग्रह, श्लोक २१, पृ० ३२१
३. सिद्धान्त लेश संग्रह, अच्युत ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित सम्वत् २०११, पृ० ३२२ में टिप्पणी भी देखें।
४. पंचपादिका, पृ० १०८

अभिन्न एवं सत्यवाद को मानने पर जीव प्रतिबिम्बतया सत्य सिद्ध होगा। जबकि अहं-बुद्धि-गम्य जीव अध्यस्त होने के कारण मिथ्या हुआ करता है।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवगत शुद्ध चेतन ही ब्रह्म है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यों द्वारा लक्षणा से उसी का शुद्ध चेतन से अभेद कहा गया है, न कि अध्यस्त अहं के साथ। अध्यस्त अहन्तादि धर्मों की व्यावृत्ति करके ही जीवब्रह्माभेद सिद्ध होता है, इस प्रकार जीव को अध्यस्ततया मिथ्या भी कहा जा सकता है तथा शुद्ध चैतन्यतया ब्रह्माभिन्न होने के कारण सत्य भी कहा जा सकता है। इसीलिए पूर्वोक्त प्रतिबिम्ब सत्य एवं प्रतिबिम्ब मिथ्यावाद में विशेष कोई असंगति नहीं है। दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब पृथक् रूप से मिथ्या है, और बिम्ब रूप से सत्य है। इसलिए उक्त दोनों मतों में हमें बहुत सैद्धान्तिक मतभेद नहीं दीखता।

नीरूप का प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव—अवच्छेदवाद के समर्थक आचार्य कहते हैं कि जिसका रूप नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। जलाशय आदि में सूर्य-चन्द्र आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है। नीरूप कूटस्थ ब्रह्म के प्रतिबिम्ब की कल्पना निराधार है। इस पर प्रतिबिम्बवादी का कहना है कि जिस प्रकार नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब जल में पड़ सकता है, उसी प्रकार अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी पड़ सकता है। अवच्छेदवादियों का कहना है कि जलाशय आदि में प्रकाश के प्रतिबिम्ब को ही आकाश का प्रतिबिम्ब लोग समझते हैं। प्रतिबिम्बवादियों का उत्तर है कि प्रतिबिम्ब आरोपित रूपवान पदार्थ का भी पड़ सकता है। इसलिए 'आकाश नीला है' इत्यादि आरोपित नीलाकाश का प्रतिबिम्ब जलाशय में पड़ सकता है एवं देखा जाता है।[1] आकाश के अमूर्त होने पर भी रूप का भ्रम होता है और उस आरोपित रूपवान् आकाश का प्रतिबिम्ब जलाशय में दीखता है तथा मेघ एवं नक्षत्र आदि से युक्त आकाश का जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसीलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अमूर्त द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता।[2] दूसरा आक्षेप प्रतिबिम्बवाद में यह किया जा सकता है कि प्रतिबिम्ब का आधार क्या है? प्रतिबिम्बवादी आचार्यगण "ब्रह्मैवअविद्याप्रतिबिम्बितमिति" कहते हैं।[3] परन्तु अविद्या जो आधार है, उसका तो अवश्य रूप होना चाहिए। वायु में किसीका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता और निराधार प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। इसीलिए अवच्छेदवाद ही स्वीकार करना चाहिए। भामतीकार वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवादी प्रतीत भी होते हैं। घटाकाश आदि दृष्टान्तों से अवच्छेदवाद का अधिक समर्थन होने लगता है। अवच्छेदवाद के अनुसार अन्तःकरण विशेषण बनता है। विशेषण ही अवच्छेदक होता है।[4] जीव को घटाकाश के समान कहने पर

---

१. कल्पतरु परिमल, अप्पय दीक्षित, पृ० ७, ८
२. विवरण प्रमेय संग्रह, विद्यारण्यमुनि, पृ० २३१
३. पंचपादिका विवरण एवं चित्सुखाचार्य की तात्पर्य दीपिका, पृ० ७०७
४. ईश्वर को जब मायोपहित कहा जाता है तब माया उपाधि होती है, विशेषण नहीं और जब चैतन्य को अन्तःकरण विशिष्ट अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न कहा जाता है, तब अन्तःकरण विशेषण होता है, उपाधि नहीं। उपाधि और विशेषण में अन्तर है।

जिस प्रकार घट के सहित आकाश का वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं होता, आकाश एक असीम महाकाश है, उसी प्रकार अन्तःकरण के साथ महाचैतन्य का वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं होता। अविद्या के तिरोहित होते ही जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। वाचस्पति मिश्र प्रतिबिम्बवाद के अनुकूल भी युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। "अवस्थितेरिति-काशकृत्स्नः" १।४।२२ ब्र० सू०, इस सूत्र की भाष्य-टीकाओं में जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्पष्ट शब्दों में कहा है। उनका कहना है कि निर्मल बिम्ब से प्रतिबिम्ब वस्तुतः अभिन्न होने पर जिस प्रकार नीलाकाश आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न लगते हैं तथा उपाधियों की मलिनता एवं स्वच्छता के कारण प्रतिबिम्ब भी मलिन एवं स्वच्छ लगने लगते हैं, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य बिम्बरूप एक एवं स्वच्छ है और उससे अभिन्न प्रतिबिम्ब रूप जीव भी स्वच्छ एवं शुद्ध है, फिर भी भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होने के कारण वह अशुद्ध सा लगने लगता है। उसमें काल्पनिक भेदबुद्धि होने लगती है। अन्तःकरण, अविद्या आदि को गुहा कहा गया है और उन गुहाओं में प्रतिबिम्बित जीव नाना रूपों से प्रतिभात होता है। वस्तुतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब, चेतन और जीव अभिन्न हैं।[1] वाचस्पति मिश्र 'अंशो नाना', इस सूत्रभाष्य-टीका में प्रतिबिम्बवाद के समर्थन में युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।[2] दर्पण को हटा लेने पर जिस प्रकार प्रतिबिम्ब बिम्ब रूप में हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के विलीन होने पर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।[3] ब्रह्म सूत्र २।२।२८ में भामती एवं कल्पतरु में जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, इस मत का ही समर्थन हुआ है। ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री की समाप्ति में अप्पय दीक्षित ने अपने वेदान्त-कल्पतरु परिमल में अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद—इन दोनों के ऊपर विचार प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों वादों में से कौन सा अधिक आचार्यों द्वारा अधिक अभिप्रेत है, इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए अप्पय दीक्षित ने दोनों वादों का निपुणता से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। दोनों के पक्ष में एवं विपक्ष में अनुकूल तथा प्रतिकूल युक्तियों को प्रस्तुत किया है। प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध जो आरोप किया जाता है कि नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, इसके खण्डन में अप्पय दीक्षित कहते हैं कि जिसका रूप नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, यह कथन समीचीन नहीं है। उनका कहना है कि रूप का तो कोई रूप नहीं होता, गुण का कोई गुण नहीं होता, फिर भी अरूप रूप का दर्पण

विशेषण विशेष्य के स्वरूप में प्रविष्ट होकर विशेष्य को अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है जैसे नीलोत्पल, दण्डी-पुरुष आदि उदाहरणों में। इनमें विशेषण विशेष्य को विशिष्ट बनाता हुआ अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है। उपाधि वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् करती है, परन्तु वह उपाधि वस्तु के स्वरूप में प्रवेश नहीं करती। वह व्यावर्तक अवश्य होती है जैसे रक्तस्फटिक में। इसमें रक्तता स्फटिक में सर्वदा नहीं रहती है। न ही उसका स्वाभाविक धर्म है, परन्तु वह स्फटिक का इतर व्यावर्तक अवश्य होती है।

१. भामती, पृ० ४२१
२. भामती, २।३।४३
३. भामती, पृ० ६२३

में प्रतिबिम्ब क्यों पड़ता है ? यदि अविच्छेदवादी यह कहें कि अरूप के प्रतिविम्ब पड़ने पर भी रूप गुण है, द्रव्य ही और गुण के प्रतिबिम्ब पड़ने में कोई असंगति नहीं है, किन्तु ब्रह्म द्रव्य पदार्थ है तथा रूपशून्य है, इसीलिए ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।[1] इसके उत्तर में अप्पय दीक्षित कहते हैं कि अरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, यह कहना संगत नहीं है। कहा यह जा सकता है कि अरूप द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी कारण उसके प्रतिबिम्ब का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। अरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं है।[2] वस्तु के अस्तित्व में प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण नहीं है। अरूप द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी अन्य प्रमाणों से उसका अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार अरूप द्रव्य के प्रतिबिम्ब का भी अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। श्रुति प्रमाण बल से आत्मा के प्रतिबिम्ब मान लेने में कोई बाधा नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी यह बतायें कि द्रव्य क्या है ? यदि गुणाश्रय या गुणाधिकरण को द्रव्य कहा जाय तब एक, दो आदि में एकत्व एवं द्वित्व संख्या के रहने के कारण वे भी द्रव्य हो जायेंगे, क्योंकि संख्या गुण है। इसीलिए गुणाश्रय एक एवं दो आदि हुए।

अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा नित्य है, इसलिए गुणाश्रय न होने के कारण नैयायिकों का द्रव्य-लक्षण उसमें नहीं घटता। इसीलिए प्रतिवादी आत्मा को द्रव्य नहीं कह सकते। शब्द नीरूप है फिर भी प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब शब्द का होता है। इसी प्रकार नीरूप चैतन्य का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है। उक्त प्रकार से अप्पय दीक्षित प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करते हैं। "आभास एव च, अतएव चोपमासूर्यकादिवत्" आदि सूत्रों से प्रतिबिम्बवाद का ही समर्थन होता है। इसलिए प्रतिबिम्बवाद सूत्रकार आदि द्वारा समर्थित है, ऐसा अप्पय दीक्षित आदि विद्वानों के विचारों द्वारा प्रतीत होता है। उन्होंने कल्पतरु परिमल में कई स्थलों में प्रतिबिम्बवाद की ओर झुकाव दिखाया है।[3] अप्पय दीक्षित ने प्रतिबिम्ब पक्ष का उपपादन करके अवच्छेदवाद के साथ भी सूत्र का कोई विरोध नहीं है, इसमें भी प्रमाण देने की चेष्टा की है। अविच्छेदवादी के अनुसार "न स्थानतोऽपि" ब्र० सू० ३।२।११, इत्यादि सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार ने स्वयं प्रतिबिम्बाद का निराकरण किया है। "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" ३।२।१९ ब्र० सू०, इस सूत्र भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि जल में सूर्य का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है तब वहाँ पर सूर्य मूर्तिमान द्रव्य है तथा सूर्य जल से बहुत दूर देश में स्थित है, इस प्रकार दूर स्थित मूर्तिमान पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसा दृष्टान्त से प्रतीत होता है। चिदात्मा सर्वव्यापी है तथा सर्वान्तर्यामी है, इसीलिए चिदात्मा के लिए दूर और निकट कुछ नहीं है। वह तो सर्वत्र पहुँचा हुआ है। चिदात्मा अमूर्त है, इसलिए सूर्य प्रतिबिम्ब वाला दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है। उन्होंने भाष्य में कहा है "सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादि प्रतिबिम्बोदयः, नत्वात्मा मूर्तो न वास्मात् पृथग्भूतो विप्रकृष्ट देशाश्चोपाधयः,

---

१. कल्पतरु परिमल, पृ० ८

२. रूपवतः प्रतिबिम्ब इति न नियमः। कल्पतरु परिमल, पृ० ७

३. कल्पतरु परिमल, पृ० १५६, १५७

सर्वगत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च । तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति' (ब्र० सू० पृ० ७१०) अप्पय दीक्षित ने सूत्र १।२।४ की कल्पतरुपरिमल टीका में भाष्यकार के इस विचार को उद्धृत किया है कि सूर्यादि दृष्टान्तों का तात्पर्य है कि जिस प्रकार सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होकर ह्रास, कम्पन आदि उपाधि धर्मों का आधीन होता है, ऐसा लगता है, वैसे ही शुद्ध चेतन अन्तःकरण आदि से परिच्छिन्न होकर अन्तःकरणस्थित सुख-दुःख, शोक-मोह आदि धर्मों का आधीन होता है।[१] ब्रह्म सूर्य के समान प्रतिबिम्बित होता है, यह दृष्टान्त का तात्पर्य नहीं है। इस प्रकार अप्पय दीक्षित यद्यपि स्पष्ट रूप से अपने विचार किसी एक पक्ष में नहीं देते हैं फिर भी पूर्वोक्त विचारों से तथा उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि वे प्रतिबिम्बवाद के ही पक्षपाती हैं। आचार्य पद्मपाद ने प्रतिबिम्ब पक्ष को ही ग्रहण किया है। उन्होंने कहा है कि बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न वस्तु नहीं है।[२] विद्यारण्य मुनि ने भी विवरणप्रमेयसंग्रह में जीव के घटाकाश के समान उपाधि अवच्छिन्न होने का निषेध किया है। इस प्रकार वे भी प्रतिबिम्ब पक्ष के ही समर्थक हैं।[३]

आचार्य शंकर प्रतिबिम्ब पक्ष का समर्थन इसलिए करते हैं कि इस पक्ष में प्रतिबिम्ब की मलिनता से बिम्ब अर्थात् मौलिक वस्तु अछूती रह जाती है। जिस प्रकार दर्पणों के भेद के कारण प्रतिबिम्बों में भेद होते हैं, बिम्ब एक ही होता है, उसी प्रकार परब्रह्म एक है।

हमने पहले ही यह निवेदन कर दिया था कि अवच्छेद पक्ष एवं प्रतिबिम्ब पक्ष-दोनों में कोई महान् अन्तर नहीं है। दृष्टान्त रूप में सूक्ष्म विचार करने पर दोनों पक्षों में कुछ अन्तर भी दिखाई दे, पर द्राष्टान्तिक रूप में एक ही बात अभिप्रेत है कि जीव रूप में शुद्ध चेतन सुखी-दुःखी होता-सा लगने पर भी वस्तुतः वह निर्लेप है—जिस प्रकार घटाकाश अथवा जल में स्थित सूर्य प्रतिबिम्ब। घटाकाश पक्ष में भी आकाश निर्लेप है। सूर्य प्रतिबिम्ब पक्ष में भी सूर्य निर्लेप है। दृष्टान्त को सर्वांश में न लेकर अभिप्रेत अंश में लेना चाहिए। इसलिए अवच्छेद पक्ष में भी हमें किसी प्रकार की असंगति नहीं दिखाई देती। दोनों ही पक्षों में प्रतिकर्म-व्यवस्था की भी असंगति की कोई बात नहीं है। अन्तःकरणों के भिन्न-भिन्न होने के कारण प्रतिबिम्ब पक्ष में भी सर्वगत एक चैतन्य होने पर भी प्रतिकर्म-व्यवस्था होने में कोई बाधा नहीं है।[४] इसी प्रकार अवच्छेद पक्ष में भी समझना चाहिए।

कुछ अद्वैत आचार्य जीव के स्वरूप के विषय में अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद, इनमें से किसी भी मत का अनुमोदन नहीं करते। उनका कहना है कि जिस प्रकार कुन्ती पुत्र कर्ण कुन्ती पुत्र रहकर भी राधेय अर्थात् राधापुत्र कहलाया, उसी प्रकार परब्रह्म भी स्वयं अविकृत परब्रह्म रहकर भी अपनी अविद्या के प्रभाव से अपने आप को जीव रूप में

---

१. वही, पृ० १५७
२. पंचपादिका, पृ० १०४
३. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० २३२
४. पंचपादिका विवरण, पृ० २४६

प्रकट करता है। जीव वस्तुतः शुद्ध चेतन का न अवच्छिन्न है, न प्रतिबिम्ब है,[1] क्योंकि परमात्मा वस्तुतः जीव होकर विकृत नहीं होता। वह अविकारी परब्रह्म रंगशाला में अभिनय के समान सुखी-दुःखी होने का अभिनय करता है। वस्तुतः वह सदापूर्ण, नित्य, शुद्ध वस्तुस्वरूप है। इस विषय में और भी दृष्टान्त अद्वैत आचार्यगण दिया करते हैं। उदाहरणार्थ जिस प्रकार कोई राजपुत्र बाल्यकाल से खोया हुआ व्याधकुल में प्रतिपालित होता है एवं अपने आप को व्याधपुत्र समझता है, राजपुत्र नहीं समझता। स्वयं उच्चकुल उत्पन्न तथा शूरवीर है, यह भूल जाता है। ऐसी स्थिति में किसी सत्यवादी पुरुष द्वारा उसके वास्तविक परिचय का उद्‌घाटन करने पर उसका वास्तविक स्वरूप उसको स्मरण हो आता है। तब वह समझता है कि 'मैं राजपुत्र हूँ, शूरवीर हूँ।' इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः वह व्याधपुत्र नहीं था, वह राजपुत्र ही था। वह अपने स्वरूप को भूला हुआ था और व्याधों के साथ उनके सुख-दुःखों में सुखी-दुःखी हुआ करता था। जब उसको ज्ञान हुआ तो अपने स्वरूप को जान गया। इसी प्रकार परमेश्वरस्वरूप जीव भी अपने स्वरूप को भूलकर अविद्याग्रस्त हो रहा है। जब गुरु-उपदेश से अविद्या का विनाश होगा तब वह 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करेगा। वस्तुतः वह जीव नहीं होता, अविद्या के कारण अपने आपको ऐसा समझने लगता है।[2] कुछ लोग एक और दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार एक सिंह शावक भेड़ों में खोया जाता है और उन्हीं के साथ पोषित होकर अपने आपको भेड़ ही समझता है तथा भेड़ों के समान मिमीयाता है, सिंह और व्याघ्रों से डरता है, उन्हें देखकर डर से भागता है। किसी दिन एक सिंह ने उसे समझाया कि तू तो हमारे ही समान सिंह है। तू भेड़ों में क्यों रहता है? विश्वास दिलाने के लिए कुएँ में उसको उसका प्रतिबिम्ब दिखाया तब वह अपने स्वरूप को समझकर सिंह के समान दहाड़ता हुआ भेड़ों के शिकार में लग गया। इसी प्रकार जीव के विषय में भी समझना चाहिए।

जीव का परिमाण—अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव वस्तुतः शुद्ध चैतन्य ही है, यह बात इससे पूर्व कही जा चुकी है। इस कारण वस्तुतः जीव का कोई परिमाण नहीं हो सकता फिर भी जिस प्रकार अपरिमित आकाश को परम महत् अर्थात् विभु कह दिया जाता है, उसी प्रकार जीव भी विभु परिमित है। जीव के परिमाण के विषय दार्शनिकों में मतभेद है। न्याय दार्शनिक अद्वैत वेदान्त के समान जीव को विभु परिमाण मानते हैं। जैन दार्शनिकगण जीव को देह परिमित मानते हैं। वैष्णव वेदान्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि दार्शनिकगण जीव का परिमाण अणु मानते हैं। इनके मत में मात्र परमेश्वर ही विभु हैं।

देह परिमित जीववाद का खण्डन :—जैन दार्शनिक जीवात्मा को देह परिमित के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार जीवात्मा जैसा शरीर ग्रहण करता है, उस सम्पूर्ण शरीर में उतने ही परिमाण में परिमित होता है। चींटी के शरीर में चींटी के परिमाण के बराबर तथा हाथी के शरीर में हाथी के शरीरपरिमाण के बराबर बन जाता

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ११६

२. वही, पृ० ११६ पर टिप्पणी।

है। इस प्रकार शरीर के अनुकूल जीव का संकोच-विकास होता है। जैन दर्शन के इस मध्यम परिमित जीववाद का अद्वैत वेदान्त तथा वैष्णव वेदान्तियों ने एवं न्याय दार्शनिकों ने भी खण्डन किया है। आचार्य शंकर ने 'एवं चात्मा कात्स्न्र्यम्' सूत्र २।२।३४ के भाष्य में इस देह परिमित जीव-वाद का प्रत्याख्यान किया है।[1] जैन दार्शनिक आत्मा का विनाश नहीं मानते। ऐसी स्थिति में वे आत्मा अर्थात् जीवात्मा का मध्यम परिमाण स्वीकार नहीं कर सकते। जीव नाना देह धारण करता है। नाना जन्मों में भ्रमण करने वाला जीव जब चींटी का शरीर छोड़कर हाथी के शरीर में प्रवेश करता अर्थात् हाथी के रूप में जन्म लेता है, उस समय जीवात्मा को जो कि चींटी परिमाण था; हस्तिपरिमाण बनना होगा। निरवयव जीव छोटा-बड़ा कैसे हो सकता है? बढ़ना-घटना तो भौतिक वस्तुओं में ही सम्भव है। इसलिए चींटी-शरीर वाला अथवा मनुष्य-शरीरवाला जीव अन्य जन्मों में हस्तिशरीर धारण नहीं कर सकता।[2] अन्य जन्म की बात छोड़ भी दी जाय, इसी जन्म में बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक शरीर की अभिवृद्धि होती है। शरीर परिमित जीव को मानने पर शरीर की अभिवृद्धि के साथ जीव की भी अभिवृद्धि होगी। अभिवृद्धि अवयवी की ही होती है। अवयवी अनित्य होता है। जीव को इस प्रकार अनित्य मानने पर कृतनाश एवं अकृत आगम का दोष होगा। अर्थात् शरीपात अनन्तर उस जीव के न रहने के कारण उसे अपना कर्मफल नहीं मिल सकेगा तथा पूर्व कर्मफल के बिना नया जीवन प्राप्त होने लगेगा।[3] जैन दार्शनिकों का कहना है कि जिस प्रकार प्रदीप विशाल गृह को आलोकित करता है, साथ में छोटे गृह में रखने पर उस गृह को भी आलोकित करता है, उसी प्रकार मध्यम परिमाण रहता हुआ जीव छोटे-बड़े सभी शरीरों को प्रकाशित कर सकता है।[4] अद्वैत वेदान्ती का कहना है कि प्रदीप का दृष्टान्त संगत नहीं है, क्योंकि प्रदीप छोटे गृह में रखने पर अधिक प्रकाश फेंकता है जबकि बड़े गृह में उसका प्रकाश कम हो जाता है। बड़े गृह में प्रकाश अधिक स्थान में फैलने के कारण कम लगता है। छोटे स्थान में कम स्थान होने के कारण अधिक प्रकाश फैलता है। इस दृष्टान्त को मानने पर हस्तिशरीर में ज्ञान का प्रकाश कम होना चाहिए और चींटी शरीर में अधिक। परन्तु ऐसा होता नहीं है। ऐसा होने पर कीट-पतंग बड़े-ज्ञानी हो जायेंगे और मनुष्य कीट-पतंगों से कम ज्ञानी होंगे। इसलिए जीव प्रदीप के समान संकोच-विकासशील है, ऐसा नहीं माना जा सकता। और भी बात यह है कि जब जीव पतंग का शरीर छोड़कर अगले जन्म में हस्तिशरीर प्राप्त करता है, उस समय हस्तिशरीर के बराबर जीवात्मा में नये अवयवों का संयोग होगा। ये नये अवयव आयेंगे कहाँ से? पुनः जब पतंग शरीर में

---

१. शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते। शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नो असर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। ब्र० सू० शांकर भाष्य पृ० ५६२

२. मनुष्यकाय परिमाणो हि जीवो न हस्तिकायं कृत्स्नं…' भामती पृष्ठ ५६२, ५६३

३. सर्वदर्शनसंग्रह—शांकर दर्शन, पृ० ७८१

४. भामती, पृ० ५६३।

जन्म लेगा तो वे अवयव घटेंगे कैसे ?[१] जीव भौतिक पदार्थ नहीं है। अवयवों का आगमन और गमन भौतिक पदार्थ में ही सम्भव हो सकते हैं। इस प्रकार अवयवों के संयोग एवं वियोग के कारण जीव का स्वरूप-निर्धारण नहीं हो पायेगा। जीवात्मा में अवयव मानने पर सभी अवयवों में जीवात्मा की चेतना रहती है, मानना पड़ेगा। यदि सभी अवयवों में चेतना मानी जाय तब कुछ अवयवों के वियोग से चेतना की भी कमी हो जायेगी।[२]

मुक्ति-अवस्था में जीव का शरीर नहीं होता। शरीर के विना वह अपने स्वरूप में विराजमान होता है। उस अवस्था में जीवात्मा का क्या परिमाण होगा ? उस समय चींटी का परिमाण नहीं रहेगा और न ही हाथी का। ऐसी स्थिति में भी जीवात्मा का परिमाण-निर्धारण नहीं हो पायेगा। जैन दार्शनिकगण मुक्ति-अवस्था में जीव के परिमाण को नित्य परिमाण कहते हैं। नित्य परिमाण तो तब कहा जाय जबकि परिमाण का निर्धारण हो जाय। इस प्रकार जैन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित जीव का मध्यम परिमाणवाद युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। अद्वैत आचार्योंने मध्यम परिमाणवाद का जोरदार खण्डन किया है। यहाँ तक कि रामानुज आदि वैष्णव दार्शनिकों ने भी इस सिद्धान्त का अपने-अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है। उनकी खण्डन युक्तियाँ भी पूर्वोक्त प्रकार की ही हैं।[३]

जीवविषयक अणुपरिमाण का खण्डन—रामानुज, मध्व तथा निम्बार्क आदि दार्शनिक जीव को अणुपरिमित मानते हैं। उपनिषदों में जीव के लिए 'अणु' शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है "एषोऽणूरात्माचेतसावेदितव्यो…इत्यादि, मुण्डक उपनिषद् ३।१।९, बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीव…इत्यादि श्वेताश्वर उपनिषद् ५।९", आदि उपनिषदों के अनेक स्थलों में जीव को अणु कहा गया है। अणु जिस प्रकार अति-सूक्ष्म होता है, उसी प्रकार जीव भी सूक्ष्म है। उसे बालाग्रशतभाग का भी शत भाग कहा गया है। उपनिषदों में जीव के विषय में कहा गया है कि वह शरीर से निर्गत होकर परलोकगमन करता है। पुनः परलोक से आगमन करता है। अर्थात् शरीर से शरीरान्तर को जाता है।[४] इस प्रकार गमनागमन आदि अणुपरिमित जीव का ही सम्भव है, विभु परिमाण जीव के लिए गमनागमन सम्भव नहीं, क्योंकि आकाश का गमनागमन नहीं हुआ करता। जो सर्वव्यापी है, उसके विषय में गमनागमन कथन निरर्थक है। वह तो सर्वदेश में पहले से ही स्थित है। गति सीमित की ही हो सकती है। उपनिषदों में तथा ब्रह्मसूत्र में भी जो जीव के विषय में गति का उल्लेख मिलता है,[५] उससे यह सिद्ध होता

---

१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती, पृ० ५६४
२. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती, पृ० ५६३
३. मनुजशरीरपरिमाणोजीवोमातंगदेहं कृत्स्नं प्रवेष्टुं न प्रभवेत्…इत्यादि, सवदशन-संग्रह, रामानुज दर्शन, पृ० १८४
४. बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।२, कौषीतकी उपनिषद् १।२ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।६
५. उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्, ब्रह्म सूत्र २।३। १८

है कि जीव अणुपरिमित है।[1] अद्वैत सिद्धिकार ने जीव अणुत्ववाद को पूर्व पक्ष के रूप में अनुमान द्वारा प्रस्तुत किया है:—जैसे 'जीव व्यापक नहीं है, उत्क्रान्तिमान् होने से, गतिमान् होने से, क्रियावान् होने से, पक्षी के शरीर के समान'।[2] अर्थात् जीव की उत्क्रान्ति होती है; जीव गतिमान् है, जीव क्रियावान् है, इसलिए व्यापक नहीं है। जिस प्रकार पक्षी का शरीर गतिशील है, क्रियावान् है और वह व्यापक भी नहीं होता, उसी प्रकार जीव के विषय में भी समझना चाहिए। व्यापक होने पर उसमें गति आदि सम्भव नहीं।

उक्त जीवाणुत्ववाद का अद्वैत वेदान्तियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है। आचार्य शंकर ने 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यापदेशः प्राज्ञवत्' २।३।२९ सूत्र के भाष्य में उक्त अणुवाद का खण्डन किया है।[3] उनका कहना है कि जीवात्मा को अणु परिमाण मानने पर वह सर्वांग शरीर में व्याप्त नहीं रह सकता। चेतना जीवात्मा का गुण है और वह सम्पूर्ण गुणी में व्याप्त रहती है। चेतना की उपलब्धि सम्पूर्ण शरीर में होती है। सर्दी, गर्मी की अनुभूति सर्वांग शरीर में होती है। यदि जीव अणुपरिमाण होता तो उसकी स्थिति शरीर के किसी एक अंग में होती तथा सम्पूर्ण शरीर में चेतना की उपलब्धि सम्भव न होती। गुण कभी भी गुणी को छोड़कर नहीं रहता,[4] इसलिए जीवात्मा को अणु नहीं कहा जा सकता। श्रुति में जीव को कहीं पर अणु कहा है, तो कहीं पर 'स वा एष महानज आत्मा' बृ० उपनिषद् ४।४।२२,' 'महतो महीयान्' कठ उपनिषद्, इत्यादि श्रुतियों द्वारा जीव को महान् अर्थात विभु भी कहा गया है। इससे जीव विभु है, यह सिद्ध होता है। यदि जीवाणुत्ववादी यह कहे, कि प्रदीप प्रभा के समान एक स्थान में रहता हुआ भी जीव की चेतना सर्व शरीर में हो सकती है, तो भी संगति नहीं बैठती।[5] प्रदीप प्रभा स्वयं द्रव्य है। प्रदीप की ज्वाला तथा प्रदीप की प्रभा दोनों द्रव्य हैं। उनमें गुण-गुणी भाव नहीं है। जहाँ प्रदीप की प्रभा होती है वहाँ भी तेज द्रव्य होता है अन्यथा पृथ्वी को छोड़कर गन्ध रहने लग जायेगी। और गुण-गुणी का जो अनिवार्य सम्बन्ध है, वह भंग होगा। इसी प्रकार अणुत्ववादी चन्दन बिन्दु का दृष्टान्त देते हैं। चन्दन बिन्दु जिस प्रकार शरीर के एक अंश में रहकर भी सम्पूर्ण शरीर में सुगन्ध एवं शीतलता से आनन्द का संचार करता है, उसी प्रकार जीव भी शरीर के एक अंश हृदय में स्थित रहकर सम्पूर्ण देह में चेतना का संचार करता है। इसलिए अंगुष्ठ मात्र पुरुष होता हुआ भी उसकी चेतना सर्व शरीर में हो सकती है।[6] न्यायमत के अनुसार चन्दन गन्धवत्द्रव्य है, गन्ध उसका गुण है। जहाँ चन्दन होगा वहाँ चन्दन की गन्ध भी होगी। इस प्रकार

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ३९८
२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८५१
३. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य, भामती भी, पृ० ६०९-६११
४. गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत। ब्रह्म सूत्र-शांकरभाष्य, पृ० ६०९
५. तेषामणुत्वेऽपि ज्ञान सुखादीनां प्रदीपप्रभान्यायेन······सुखानुपलब्धिः। सिद्धान्तलेश-संग्रह, पृ० ३९८-३९९
६. ब्रह्मसूत्र-माध्वभाष्य, सूत्र २।३।२३

गन्ध गुण चन्दन को छोड़कर नहीं रह सकता। यदि चन्दन की सुगन्धि सर्व शरीर में उपलब्ध है तो सूक्ष्म रूप से चन्दन के कण भी सर्व शरीर में व्याप्त होंगे, क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रहता। इस नियम के अनुसार पार्थिव द्रव्य चन्दन को छोड़कर गन्ध गुण नहीं रह सकता, इसीलिए चन्दन का दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है। चेतना गुण चैतन्य आत्मा को छोड़कर नहीं रह सकता। घट को छोड़कर घट का रूप कभी भी पृथक् नहीं रह सकता। अतः यह मानना होगा कि जीव की व्याख्या अणु परिमित करके नहीं हो सकती।[1]

इसी प्रकार पुष्प गन्ध का दृष्टान्त भी जीवाणुवाद को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। जब पुष्प को छोड़ करके अन्यत्र गन्ध मिलती है, गन्ध के साथ उन-उन स्थलों में पुष्प रेणु भी घ्राण का विषय बनते हैं, अत्यन्त सूक्ष होने के कारण पुष्प रेणु प्रत्यक्ष नहीं होते। द्रव्यनिराश्रित गन्ध का ग्रहण वहाँ पर भी नहीं होता। आचार्य शंकर ने 'व्यतिरेको गन्धवत्' २।३।२६ ब्र० सू० भाष्य में तथा अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि में युक्ति और तर्कों से पुष्परेणु वाले दृष्टान्त का खण्डन किया है।[2] यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है कि आत्मा निरवयव तत्त्व है। दृष्टान्तों में जिन तत्वों का उल्लेख है, वे सावयव द्रव्य हैं। इसलिए भी दृष्टान्त निरवयव आत्मा की चेतना की व्याख्या स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। जीवाणुत्ववादी कहते हैं कि स्पर्शेन्द्रिय सर्व शरीर व्यापी है। आत्मा अणुपरिमित होने पर भी चन्दन आदि के स्पर्श में स्पर्शेन्द्रिय के माध्यम से चन्दन आदि के स्पर्श को हृदय में स्थित होकर भी ग्रहण कर सकती है। स्पर्शेन्द्रिय के साथ चन्दन का संयोग होता है तथा आत्मा के साथ स्पर्शेन्द्रिय का। इस प्रकार समग्र शरीर में चन्दनहेतुक सुखस्पर्श की उपलब्धि होने में बाधा नहीं है। इसके उत्तर में विभुत्ववादी कहते हैं कि वृहत् एवं अणु के संयोग होने पर अणु परिमित वस्तु बृहत् वस्तु को व्याप्त नहीं कर सकती। वृहत् वस्तु के किसी अंश में अणु परिमित वस्तु का संयोग होगा। जब पैर के नीचे कांटा लगता है, उस कंटक संयोग से पैर के तले में कष्ट होता है। कष्ट समग्र शरीर में नहीं होता।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि अणुत्व का संयोग बृहद् वस्तु के साथ सर्वव्यापी नहीं होता। ऐसी स्थिति में अणु जीवात्मा की सर्वशरीर व्यापी स्पर्शेन्द्रिय के संयोगहेतुक सर्वशरीर व्यापी उपलब्धि नहीं मानी जा सकती। चेतना की उपलब्धि सर्वशरीर में होती है। इसीलिए जीव को विभु ही मानना पड़ेगा। आत्मा को अणु मानने पर अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का आक्षेप है कि एक ही समय में पैर में सुख और सिर में कष्ट का अनुभव नहीं हो सकेगा।[4] अद्वैतवाद के अनुसार जीवात्मा विभु है तथा चेतना आत्मस्वरूप है। समग्र शरीर में चेतना की उपलब्धि होने का अर्थ है कि समग्र शरीर में आत्मा का अस्तित्व।

जीव विभु परिमित है—हमने पूर्व ही निवेदन किया था कि उपनिषदों में जीव अणु परिमित और विभु परिमित प्रतिपादक वचन मिलते हैं। कहीं पर अंगुष्ठ परिमित

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८५३
२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८५३
३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य तथा भामती, पृ० ६०९
४. अद्वैतसिद्धि तथा लघु चन्द्रिका, पृ० ८५३

पुरुष आत्मा है जो कि हृदय के अन्दर रहता है, कहा गया है। कहीं पर अणु और महत् से महत्तर जीव को कहा गया है।[1] इन सब परस्पर विरोधी श्रुतिवाक्यों की मीमांसा अचार्य शंकर ने तथा उनके अनुयायी टीकाकारों ने ब्रह्मसूत्र २।३।१९-२८ में की है। उन लोगों का जीव परिमाण के विषय में मूल वक्तव्य यह है कि जीवात्मा के अणुपरिमाण के समर्थन में अणुवादियों ने जो तर्क प्रस्तुत किये है, विश्लेषण करने पर वे टिकते नहीं। अद्वैत के अनुसार परमेश्वर एवं जीवात्मा में वस्तुतः भेद नहीं है। जो कुछ भी भेद दिखाई देता है, वह अन्तःकरण उपाधि के कारण है। परमात्मा विभु परिमाण है, इसलिए वस्तुतः जीव भी विभु परिमाण है। उपनिषदों में जहाँ-जहाँ पर जीव को अणु परिमित कहा गया है, वहाँ उपाधि को लेकर के ही ऐसा कहा गया है। श्वेताश्वतर में स्पष्ट भाषा में कहा है 'बुद्धेर्गुणेनातम गुणेन चैव आराग्र मात्रो ह्यवरोऽपिद्दष्टः ६।८' अर्थात् अणुत्व बुद्धि का गुण है, उसको आत्मा में आरोपित करके आत्मा का गुण कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा विभु है, फिर भी आराग्र परिमित-सा लगता है। उपनिषदों में हृदय को गुहा तथा जीव देह को ब्रह्मपुर कहा है। ब्रह्मपुर में दहर आकाश है, ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है।[2] वह दहर आकाश अति सूक्ष्म है। सूक्ष्म दहर आकाश जीव चैतन्य की उपाधि है, इसीलिए उपाधि की सूक्ष्मता के कारण जीव को भी अणु कहा जाता है। उपाधि के कारण ही जीव को अंगुष्ठ मात्र भी कहा जाता है। परिमलकार अप्पय दीक्षित ने दहर शब्द के द्वारा औपाधिक अणुत्व का ही प्रतिपादन हुआ है, ऐसा परिमल में दहर अधिकरण की व्याख्या के प्रसंग में कहा है। स्वाभाविक रूप से जीव व्यापक है, यही तात्पर्य है।[3] जीवविषयक उत्क्रान्ति भी स्वाभाविक नहीं है, अपितु औपाधिक है। आत्मा में वस्तुतः गमन-आगमन सम्भव नहीं हैं। प्राण-उपाधिवश उत्क्रान्ति आदि आत्मा में मानी जाती हैं।[4]

आत्मा के परिमाण के विषय में न्याय-वैशेषिक भी विभुवादी हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। अद्वैत वेदान्ती आत्मा के परिमाण के विषय में न्याय-वैशेषिकों का ही अनुसरण करते हैं। वैष्णव वेदान्तियों को मध्यम परिमाण तथा विभु परिमाण पसन्द नहीं हैं। शास्त्रप्रमाण खोजने पर दोनों ही प्रमाण मिलते हैं। ऐसी स्थिति में जीव के परिमाण के विषय में क्या निष्कर्ष निकाला जाय? अद्वैत वेदान्तियों ने तथा वैष्णव वेदान्तियों ने भी जैन दर्शन अभिप्रेत मध्यम परिमाण का खण्डन किया है। क्या जैन दार्शनिक जीवात्मा के विषय में वैसा ही परिमाण मानते हैं, जैसा कि घटादि भौतिक वस्तुओं का? ऐसा निश्चित ही नहीं मानते। आत्मा अभौतिक तत्व है। अभौतिक तत्व जब किसी शरीर के साथ संयुक्त होता है तब उसे उस शरीर का परिमाण मान लेने में क्या उसमें अवयव मानने पड़ेंगे? जो बात भौतिक वस्तुओं के विषय में अर्थात् भौतिक परिमाण के विषय में लागू

---

१. अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। श्वेताश्वर उप० ३।१३ तथा नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। मुण्डक उपनिषद् १।१।६

२. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, पृ० २८९-२९०

३. तत्र प्रथमं ब्रह्मणो दहर शब्देनाणुत्वमुक्त्वा तस्योपाधिकमणुत्वं, स्वाभाविकंतु व्यापकमिति। कल्पतरु परिमल, पृ० २९८

४. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, पृ० ६१० तथा ६११

की जाती है, क्या वे ही बातें अभौतिक तत्व के विषय में भी लागू की जायेंगी ? हमारे विचार से आत्मा के अभौतिक तत्व होने के कारण तद्विषयक परिमाण का विवाद ही खड़ा नहीं होना चाहिये। आत्मा के विषय में मध्यम परिमाण, अणु परिमाण तथा विभु परिमाण भी औपाधिक माना जाना चाहिये, क्योंकि परिमाण वस्तुतः भौतिक पदार्थ का ही हो सकता है। आत्मा का जब परिमाण हो ही नहीं सकता, तब आत्म-विषयक तीनों ही परिमाण आरोपित हैं। आर्थात् काम चलाऊ हैं। जिस प्रकार रामानुज आदि द्वारा प्रतिपादित जीवविषयक अणुत्ववाद आरोपित है, उसी प्रकार महत् परिमाण भी आरोपित ही समझना चाहिए, क्योंकि महत् परिमाण युक्त जितने भी तत्व हमें दिखते हैं, अर्थात् प्रतीत होते हैं वे सब भौतिक तत्व हैं —जैसे आकाश काल, दिक्। अद्वैत के अनुसार आत्मा अतिभौतिक है, इसीलिए आत्मा में जो विभु-परिमाण है, वह विभु परिमाण आत्मा को परिमित नहीं करता है। अपरिमित का परिमाण कैसे ? इसीलिए अणुवादी को भी यही कहना है कि आत्म-विषयक अणु परिमाण आरोपित है। किन्हीं भौतिक तत्वों के सम्पर्क में आकर आत्मा अणु परिमित होती है। इस अर्थ में अर्थात् भौतिक तत्वों के सम्पर्क में आने पर जीवात्मा को अणु परिमाण से अवच्छिन्न अद्वैत वेदान्ती भी मानने को तैयार हो जायेंगे, क्योंकि अध्यस्ततया आत्मा में अणुत्वादि भी सम्भव हैं। अध्यास को लेकर आत्मा में शरीर परिमाण अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी सम्भव है, क्योंकि अध्यस्त व्यक्ति 'मैं साढ़े तीन हाथ का हूँ' इस प्रकार अहं-प्रत्यय द्वारा देहपरिमाण का बोध करता है। इसके विपरीत विभु परिमाण का बोध हमें नहीं हो पाता। अर्थात् जीवात्मा के विषय में विभु परिमाण की उपलब्धि नहीं होती। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि युक्ति से आत्म-विषयक विभु परिमाण की सिद्धि न होती हो। तात्पर्य इतना ही है कि वस्तुतः आत्मा अपरिमित है। अपरिमाण का नाम यदि विभु परिमाण दिया जाता है, तब तो कोई बात नहीं, पर यह बात ध्यान में रखनी है कि आकाशविषयक विभु परिमाण में हम आकाश को किसी न किसी प्रकार परिमित करके बुद्धिगम्य बनाने का प्रयास करते हैं। आकाश के दृष्टान्त से आत्म-विषयक किसी प्रकार विभ्रम नहीं होना चाहिये। आत्म-विषयक विभु परिमाण में अन्तःकरण आदि उपाधि को मानकर प्रतिकर्म-व्यवस्था तथा व्यक्तिभेद निमित्त सुख-दुःखादि की व्यवस्था हो जाती है। इसी कारण भैरवदत्त के दुःख में यज्ञदत्त दुःखी नहीं होता तथा यज्ञदत्त के सुख में सुखानुभूति भैरवदत्त को नहीं होती, जबकि अद्वैत के अनुसार आत्मा विभु है। आत्मा वस्तुतः विभु है और स्वरूपतः विभु है, औपाधिक अणुत्व, मध्यम परिमाणत्व तथा अंगुष्ठमात्रत्व आदि उपाधिविशिष्ट परिमाणों को तो अद्वैत आचार्य भी स्वीकार करते हैं—जैसा कि ब्रह्मसूत्र परिमल पृ० २९८ से हमने अप्पय दीक्षित का उद्धरण इतः पूर्व दिया है।

एक-जीववाद तथा अनेक-जीववाद—जीव के विषय में न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग तथा वैष्णव वेदान्तीगण नाना जीववादी हैं। इन दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीव हैं। असंख्य जीव अपने कर्मफल के अनुसार जन्म-मरण के चक्र में नाना योनियों में भ्रमण करते हैं तथा मुक्ति अवस्था में इन दार्शनिकों के अनुसार जीव अपना व्यक्तित्व ईश्वर तथा अन्य जीवों से भिन्न बनाये रखता है। अनीश्वरवादी सांख्य

भी जीव को नाना मानते हैं। यद्यपि सांख्य दर्शन के अनुसार अन्तःकरण आदि उपाधि रहित अर्थात् प्रकृति से विविक्त पुरुष सब एकजातीय हैं, तथापि सांख्य उन्हें नाना मानता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है। इसलिए व्यावहारिक रूप में जीवभाव को स्वीकार किया जाता है। यह जीव एक है या अनेक, इस विषय में अद्वैत आचार्यों में मतभेद है। कुछ अद्वैत आचार्य अविद्या को एक मानते हैं तथा उनके अनुसार एक अविद्या से उपहित चेतन एक ही जीवभावापन्न होता है, इसीलिये वे लोग एक जीव-वाद के पक्षपाती हैं। अन्य अद्वैत आचार्य अविद्या के एकहोते हुए भी नाना अन्तःकरणों को लेकर एक ही शुद्ध चेतन के नाना जीवभावों को स्वीकार करते हैं। इस मत को अनेक-जीववाद कहते हैं।

एक-जीववाद—एक जीववादी के अनुसार एक अविद्या में उपहित चैतन्य ही जीव है। नाना जीव जो कि दिखाई देते हैं, वे सब स्वप्नों में देखे जाने वाले प्राणियों के समान वस्तुतः निर्जीव हैं। मानो एक जीव को स्वप्न में नाना जीवों का दर्शन हो रहा हो। यह समस्त जगत् भी उसी एक जीव का सपना है। जब तक अविद्या का विनाश नहीं होता, स्वप्न नहीं टूटता। अविद्या के विनाश होते ही नाना जीव-जगत् का दर्शन समाप्त हो जाता है। तथा अविद्या में उपहित एक जीव मुक्त हो जाता है। जीव-जगत् का सम्पूर्ण व्यवहार जब तक अविद्या का नाश नहीं होता, तभी तक है।[1] इस मत में एक-जीव होने के कारण वद्ध-मुक्त-व्यवस्था भी स्वप्न में ही है। यदि कोई प्रश्न करे कि एक जीववाद में द्वितीय कोई नहीं है तो एकमात्र जीव को ब्रह्मविद्या का उपदेश कौन करेगा? और उपास्य पृथक् न होने के कारण उपासक एवं उपास्य भाव कैसे हो पायेगा? इसके उत्तर में एक-जीववादी का कहना है कि जिस प्रकार स्वप्न में सभी व्यवहार देखे जाते हैं, उसी प्रकार कल्पित गुरु-शिष्य भाव, उपासक-उपास्यभाव, आदि समस्त व्यवहार हो सकते हैं। शास्त्र में शुक-मुक्ति आदि जो सुना जाता है, वह भी कल्पित ही समझना चाहिए। एक जीववादी का परामर्श है कि इस सिद्धान्त में जितने भी प्रकार की शंकायें उत्पन्न होती हैं उन सबका समाधान अर्थात् शंकारूपी पंक का प्रक्षालन स्वप्नदृष्टान्तरूप जलधारा से कर लेना चाहिए।[2] इस एक-जीववाद में कुछ अद्वैत आचार्य सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ को ही प्रधान जीव कहते हैं। अन्य सभी जीवों को जीवाभास मानते हैं। वह हिरण्यगर्भ शुद्ध ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार चित्रपट में लिखित मनुष्यमूर्ति के वस्त्र वस्तुतः वस्त्र नहीं होते, वस्त्राभास होते हैं, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के प्रतिबिम्बभूत समस्त जीव जीवाभासमात्र हैं, मुख्य जीव नहीं। इस जीववाद को 'सविशेष-अनेक-शरीरैक-जीववाद' कहते हैं।[3] इस

---

१. केचिदाहुः एको जीवः चैकमेव शरीरं सजीवम्...इत्यादि,
सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १२१

२. अत्र च संभावितसकलशंकापंकप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्त सलिलधारयैव कर्त्तव्यमिति।
वही, पृ० १२१

३. वही, पृ० १२२, १२३

मत में यह आपत्ति हो सकती है कि यदि सभी शरीरों में एक ही जीव अधिष्ठित है तो एक शरीर का सुख-बोध अन्य शरीरों में क्यों नहीं उत्पन्न होता ? राम के शरीर में जो जीव है, श्याम के शरीर में भी वही जीव है, ऐसी स्थिति में जो राम को सुख-दुःख-बोध होता है, वही सुख-दुःख-बोध श्याम को क्यों नहीं होता ? एक जीववादी का उत्तर है कि देहान्तर में सुख-दुख की उपलब्धि का प्रतिवन्धक वहाँ पर भिन्न शरीर है। शरीर-भेद होने के कारण एक शरीर का सुख-दुःख बोध दूसरे शरीर में नहीं होता। इस बात को अनेक-जीववादी को भी स्वीकार करना होगा। अनेक जीववादी के अनुसार भी एक ही जीव जो पूर्व जन्म में किसी अन्य शरीर को लेकर था, वही इस जन्म में राम के शरीर में है। पूर्व जन्म में जो जीव था, वही जीव जब इस जन्म में राम के शरीर में है तो जीव के एक होने पर राम के शरीर में स्थित जीव अपने पूर्वजन्म के सुख-दुःखों का बोध क्यों नहीं करता ? अथवा पूर्व जन्म की बातों को क्यों नहीं स्मरण करता ? यहाँ पर एक ही उत्तर हो सकता है कि शरीर-भेद होने के कारण अनुभव-भेद होता है। दूसरी बात एक और है कि एकजीववादी के अनुसार जीव विभु परिमित है, इसलिए वह एक शरीर में सीमित नहीं है। ऐसी स्थिति में राम के शरीर में सुख-दुःख-बोध श्याम के शरीर में स्थित जीव को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर अनेक-जीववादी भी नहीं दे सकते। इसलिए शरीर-भेद को अन्य के सुख-दुःख-बोध होने में प्रतिबन्धक मानना ही होगा।[1]

संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने एक-जीववाद का समर्थन करते हुए भी बद्ध-मुक्त व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। सर्वज्ञात्ममुनि प्रतिविम्बवादी हैं। उनके अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है। अविद्या एक है, इसलिए अविद्या प्रतिबिम्ब जीव भी एक है। एक अविद्या में नाना प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकते। परन्तु अन्तःकरण नाना हैं तथा अविद्या में कल्पित हैं। अन्तःकरणों द्वारा अविद्या में प्रतिबिम्बित एक जीव भी भिन्न-भिन्न जीवों के रूप में प्रतिभासित होता है और इस प्रकार जिस अन्तःकरण में ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, उसी अन्तःकरण में अविद्या का नाश होता है तथा वह जीव मुक्त होता है। अन्य अन्तःकरणों में स्थित जीव मुक्त नहीं होते। इसी प्रकार सुख-दुःख की व्यवस्था भी अन्तःकरण के भेदों को मानकर हो जाती है। अन्तःकरणों को मानकर उपास्य-उपासक आदि भाव भी बन जाते हैं।[2]

इस प्रकार एक-जीववाद में भी काल्पनिक बद्ध-मुक्त-व्यवस्था तथा सुख-दुःखानुभूति में किसी प्रकार की असंगति नहीं होती तथा 'अथब्रह्मैव संसरति ब्रह्मैवमुच्यते' इत्यादि श्रुति भी चरितार्थ होती है।

अनेक-जीववादः—अनेक-जीववादी अद्वैताचार्यगण एक जीववाद के द्वारा दी गयी बद्धमुक्ति की व्यवस्था की युक्ति से असन्तुष्ट होकर अनेकजीववाद के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्मात्मैक्य-बोध तथा मुक्ति के लिए शास्त्रों का उपदेश है। इसलिए उपास्य-उपासक-भाव आदि व्यवस्थाओं को कल्पना कहकर समाप्त नहीं

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १२४
२. संक्षेप शारीरक, श्लोक २।१६३

किया जा सकता। श्रुति में 'तद्योदेवानां प्रत्युबुध्यत स एव तदभवत्' अर्थात् देवताओं के बीच में जिस देव ने आत्मा का साक्षात्कार किया है, वह ब्रह्मरूप हो गया है, वह मुक्त हो गया है, इत्यादि मुक्ति के विषय में प्रमाण मिलते हैं तथा स्मृति में भी 'यद्गत्वा न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम' (गीता)[1] मुक्ति के विषय में कहा गया है। इसलिये श्रुति-स्मृति-शास्त्रों में प्रतिपादित बद्धमुक्त-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अनेक-जीववाद अधिक संगत है। 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ब्र० सू० ४।२।१२' इस सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने भी जीवविषयक बन्धनमुक्ति का समर्थन किया है। एक-जीववादी अद्वैताचार्य सर्वज्ञातममुनि, मधुसूदन सरस्वती आदि प्रमुखाचार्यों को भी अन्तःकरण उपाधि को लेकर ही सही, औपाधिक अनेक-जीववाद तो स्वीकार करना ही पड़ा है। उन लोगों ने भी अन्तःकरण को जीव का विशेष अभिव्यक्ति-स्थान स्वीकार किया है। जीव-भेद जब प्रत्यक्ष अनुभूत है तब प्रत्यक्ष-सिद्ध अनेक जीव मान लेने में क्या दोष है? इस मत में भी अज्ञान को वस्तुतः एक मानने पर बद्धमुक्त-व्यवस्था का समाधान नहीं हो पाता। इसीलिए अविद्यांश स्वीकार किया जाता है। अज्ञान एक होने पर भी वह निरंश नहीं है। अज्ञान के अंश से बद्धमुक्ति की व्यवस्था हो जाती है। आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति स्वीकार की है। जीवन्मुक्ति अवस्था में अज्ञान का लेश रह जाता है। उस अज्ञान के लेश के कारण शरीर चलता रहता है। एक जीव के मुक्त होने पर अविद्या एकांश में नष्ट होती है। अन्यांशों में अविद्या के बने रहने से जीव-जगत् भाव भी बना रहता है।[3] जिस उपाधि को अथवा अन्तःकरण को लेकर ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, उसी उपाधिगत जीव की मुक्ति होती है, अन्य की नहीं। अज्ञान के साथ सम्पर्क ही बन्धन है और अज्ञानसम्पर्कविच्छेद ही मुक्ति है। इसीलिए एक अज्ञान पक्ष में भी अज्ञान के साथ जिस जीव का सम्बन्ध होता है, वह बद्ध और जिसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, वह मुक्त होता है। जिस प्रकार घटत्वजाति समस्त घटों में होती है, उसी प्रकार अज्ञान एक होकर भी समस्त अन्तःकरणों में विद्यमान होता है। जिस प्रकार एक घट के नष्ट होने पर उस घट में घटत्व नहीं रहता, अपितु अन्य घटों में रहता है, उसी प्रकार एक जीवगत अज्ञान के नष्ट होने पर अन्य जीवों में अज्ञान बना ही रहता है। इस प्रकार एक अज्ञान पक्ष में जीवन्मुक्ति तथा बद्धभाव की व्यवस्था हो जाती है। जो आचार्यगण अज्ञान को नाना मानते हैं, उनके अनुसार नाना अज्ञानों में से एक के नष्ट होने से एक जीव मुक्त होता है, शेष बन्धन में रहते हैं।

वस्तुतः एक-जीववाद तथा अनेक-जीववाद में कोई महान् अन्तर नहीं है। ये दोनों ही वाद अविद्याविषयक सिद्धान्त को लेकर प्रवृत्त हुए हैं। शुद्ध चैतन्य एक है तथा वास्तविक रूप से अविद्या भी एक है। जो लोग अविद्या को नाना मानकर नाना अविद्याओं में प्रतिविम्बित एक शुद्ध चैतन्य को नाना जीवों में मान लेते हैं, उनके अनुसार प्रत्येक अविद्या

---

१. गीता १५।६

२. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ९७७ सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १२५, १२६

३. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० १२६

को एक अन्तःकरण मानकरके उससे सीमित चेतन को जीव कहने पर उसकी मुक्तिमें दूसरों की मुक्ति का प्रसंग नहीं होगा। अविद्या को नाना मानने वाले आचार्य भी वस्तुतः अर्थ में एक ही मानते हैं। जो लोग अविद्या को एक मानते हैं वे भी सम्पूर्ण अन्तःकरणों में उसको व्यापक मानते हैं। इसलिए भी अन्तःकरणों को लेकर भी जीव-भेद की व्यवस्था हो जाती है। चाहे एक अविद्या मानकर उसे खण्ड-खण्डरूप में विभाजित मानें, चाहे अखण्डरूप से सभी अन्तःकरणों में उसे व्यापक मानें, दोनों स्थितियों में जीव-भेद, बद्ध-मुक्त-व्यवस्था आदि में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। इसीलिए एक जीववादी भी औपाधिक रूप से अनेक-जीववाद को स्वीकार करते हैं। तथा अनेक-जीववादी को भी वास्तविक रूप से एक-जीववाद को स्वीकार करना पड़ता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार दोनों वादों में समन्वय हो जाता है। उन्होंने भामती में कहा है कि आत्मा के एक होने पर भी उन-उन बुद्धि-भेदों के कारण भिन्न-भिन्न लगता है, शुद्ध होने पर भी अशुद्ध लगने लगता है, मुक्त होने पर भी बद्ध लगता है। अविद्या को एक मानने पर भी सांख्य के प्रधान के समान सर्व जीवों में उसे एक नहीं कहते जिससे कि बद्ध मुक्त व्यवस्था न हो सके। प्रत्येक जीव में अविद्या-भेद औपाधिक रूप से मान लेने पर किसी भी प्रकार की असंगति नहीं है।[1] वास्तविक अर्थ में शुद्ध चेतन ही अविद्या के माध्यम से नाना जीवों में प्रतीत होता है। नानात्व अविद्या में अध्यस्त है। इसीलिए नाना जीव अविद्या में कल्पित हैं। फिर भी व्यावहारिक रूप से नाना जीवों को मान लेने से अद्वैतवाद में असंगति नहीं होती। पारमार्थिक रूप से न एक जीव है और न नाना जीव हैं। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ है। नानात्व, एकत्व और नाना जीववाद, एक-जीववाद मात्र व्याख्या-कौशल है।

जीव कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व :—अद्वैत वेदान्ती जीवात्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व आदि को आध्यासिक मानते हैं। आध्यासिक होने के कारण वे वस्तुतः आत्मा के धर्म नहीं हैं, अपितु मिथ्या हैं। जीवात्मा के कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्मों के विषय में अद्वैत वेदान्तियों के मत का वैष्णव वेदान्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि सभी ने खण्डन किया है। वैष्णव दार्शनिकगण आत्म-विषयक कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि को वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा यथार्थ रूप में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व गुण वाला है। रामानुज आचार्य ने अपने श्रीभाष्यजिज्ञासाधिकरण के महासिद्धान्त में आत्मा के ज्ञातृत्व आदि गुणों को वास्तविक सिद्ध किया है। उनके अनुसार आत्मा ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्ता है।[2] रामानुज के समान निम्बार्क दार्शनिकगण भी आत्मा के उक्त गुणों को यथार्थ मानते हैं। आचार्य माधवमुकुन्द ने भी अपने परपक्षगिरिवज्र ग्रन्थ में अहमर्थ के अनात्मत्व का खण्डन किया है तथा आत्म-विषयक कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा ज्ञातृत्व को यथार्थ बतलाया है एवं उनके अध्यस्त होने का खण्डन किया है।[2] द्वैत वेदान्ती जयतीर्थ ने वादावली में तथा व्यासराज ने न्यायामृत में उक्त कर्तृत्व-ज्ञातृत्व-अध्यासवाद का जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान किया है। इन सभी दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा में अहमर्थ स्वाभाविक

---

१. वेदान्त-प्रक्रिया-प्रत्यभिज्ञा, भामती प्रस्थान परीक्षा, पृ० ४०७

२. श्रीभाष्य, महासिद्धान्त पक्ष द्रष्टव्य।

है, मिथ्या नहीं। इसी प्रकार ज्ञानकर्तृत्व आदि भी आत्मा में स्वाभाविक गुण हैं। जीव-कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व अद्वैत वेदान्त के अनुसार मिथ्या हैं। आचार्य शंकर ने अहं-मम आदि लोक-व्यवहार अध्यासपूर्वक हैं, ऐसा अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहा है।[1] उनके अनुसार अहं-व्यवहार भी अध्यासपूर्वक है, इसलिए अहं आत्मा नहीं है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में आत्मा के उक्त गुणों को अध्यस्त ही कहा है। उन्होंने अनेक युक्ति तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि कर्तृत्व आदि गुण अन्तःकरण उपाधि के कारण हैं। वास्तविक अर्थ में उन गुणों का सम्बन्ध शुद्ध आत्मा से नहीं है। शुद्ध आत्मा तो आकाश के समान निर्लेप है।[2] यदि अहमर्थ आत्मा का वास्तविक स्वरूप होता तो सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में उसका अभाव न होता। अद्वैतवाद के अनुसार अहं-प्रत्यय-गम्य आत्मा वस्तुतः अनात्मा है। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अनुमान द्वारा अहमर्थ को अनात्मा सिद्ध किया है। अनुमान इस प्रकार है—'अहमर्थः अनात्मा, अहं-प्रत्यय-विषयत्वात्, शरीरवत्,'[3] अर्थात् अहं पद से जो अर्थ बोधित होता है वह आत्मा नहीं है क्योंकि वह अहं का विषय है—जैसे शरीर। शरीर में अहं शब्द का प्रयोग होता है और शरीर अनात्मा भी है, इसलिए अहं पद-वाच्य आत्मा वस्तुतः आत्मा नहीं है, वह अनात्मा ही है, इसी प्रकार अद्वैतसिद्धिकार ने अहं पदार्थ को आत्मा से भिन्न रूप में अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। अनुमान इस प्रकार हैः—'अहमर्थः आत्मान्यः, अहं शब्दाभिधेयत्वात्, अहंकार शब्दाविधेयवत्'।[4] अर्थात् अहं पदार्थ आत्मा से भिन्न है, क्योंकि वह अहं ज्ञान का विषय है। जिस प्रकार अहंकार शब्द के द्वारा मैं स्थूल हूँ, में कृश हूँ, इस प्रकार अहं-प्रत्यय से शरीर का बोध होता है, आत्मा का नहीं, क्योंकि अहं-प्रत्यय-गम्य अध्यस्त आत्मा को आत्मा नही कहा जा सकता; जिस प्रकार शरीर में अहं बुद्धि आत्मा नहीं है, उसी प्रकार अहंकार भीं आत्मा नहीं है। शरीर को आत्मा भौतिकवादी ही कह सकते हैं। अभौतिकवादी कोई भी दार्शनिक शरीर को आत्मा नहीं कह सकते। इसीलिए अहं शब्द वाच्य आत्मा वास्तविक आत्मा से भिन्नहै। वह वास्तविक आत्मा नहीं है। वैष्णव दार्शनिकगणों का कहना है कि अद्वैत वेदान्ती अहंकार के साथ चैतन्य का अध्यास मानते हैं। अध्यास के पश्चात् मिथ्या अहंकार की उत्पत्ति होती है। इसलिए अद्वैत वेदान्ती को मानना होगा कि शुद्ध चैतन्य अध्यस्त अहंप्रत्यय का विषय होगा। जब वह अहं प्रत्यय का विषय होगा तो अनात्मत्व उसमें भी सिद्ध होने लगेगा। इसलिए प्रथम अनुमान दूषित होता है। अद्वैतवादी का उत्तर है कि शुद्ध चैतन्य कभी भी अहं-प्रत्यय का विषय नहीं होता। अधिष्ठान रूप में उसके साथ अहं का मिथ्या संसर्ग भाग-त्याग-लक्षणा से माना जाता है, इसलिए शुद्ध चैतन्य अनात्म

---

१. परपक्षगिरिवज्र, अहमर्थानात्मत्वोक्तिनिरसनं तथा कर्तृत्वाध्यास निरसनम् प्रकरण द्रष्टव्य।
२. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य, पृ० १६, १७
३. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६०७।६१२
४. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६०२, ६०१
५. अद्वैतसिद्धि पृ० ६०२

नहीं होता । इस प्रकार द्वितीय अनुमान में भी हेतु में वैष्णव वेदान्तीगण हेत्वाभास दोष देते हैं । वैष्णव आचार्यगण नाना युक्ति-तर्कों द्वारा आत्मा को ज्ञाता, कर्ता तथा अहं-पद-वाच्य सिद्ध करते हैं । परन्तु अद्वैतवेदान्ती आत्मा के उन गुणों को युक्ति-तर्कों द्वारा अध्यस्त ही सिद्ध करते हैं । अद्वैत वेदान्तीगण कहते हैं कि अन्तःकरण के साथ शुद्ध चैतन्य का अध्यास होने के कारण बुद्धि स्थित कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि का आत्मा में आरोप होता है । बस्तुतः कर्तृत्व आदि बुद्धि एवं मन के धर्म हैं ।[1] इसी कारण अज्ञानवश लोग अकर्ता आत्मा को कर्ता समझ बैठते हैं । आध्यासिक ज्ञातृत्व को लेकर आत्मा को ज्ञाता समझने लगते हैं। वस्तुतः ज्ञातृत्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है । आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है । जीवात्मा में जो अहंकार है, उसके दो अंश हैं, अधिष्ठान रूप में शुद्धचिदंश तथा अन्तःकरण रूप में अविद्या परिणाम अचिदंश । अद्वैत वेदान्ती के अनुसार कर्तृत्व का सम्बन्द्ध अन्तःकरण के साथ है । बुद्धि में चिदध्यास होने के कारण जीवात्मा अपने आप को अहं-कर्ता के रूप में समझने लगता है ।[2] पद्मपाद आचार्य ने पंचपादिका में कहा है कि जिस प्रकार पद्मराग मणि में जपाकुसुम की प्रतिबिम्बभूत लालिमा मिथ्या है, उसी प्रकार आत्मा का अहं-कर्तृत्व मिथ्या है । दूसरे स्थान में पंचपादिका में ही उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि में जपाकुसुम के सान्निध्य से लालिमा आती है, उसी प्रकार अन्तःकरण-उपराग से आत्मा में अहं-कर्तृत्व है । वस्तुतः वह मिथ्या ही है ।[3]

इस विषय में प्रश्न हो सकता है कि 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' ब्र० सू० २।३।३३, 'ज्ञोऽत एव' ब्र० सू० २।३।१८, 'अनुज्ञापरिहारोदेहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्' ब्र० सू० २।३।४८, इन सूत्रों में सांख्योक्त अचेतन बुद्धि के कर्तृत्व का खण्डन किया गया है तथा चेतन जीव को कर्ता सिद्ध किया गया है। ऐसी स्थिति में यह क्यों कहा जा रहा है कि बुद्धि का कर्तृत्व आत्मा में आरोपित होता है । क्या ऐसा कहने में पूर्वोक्त सूत्रभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध नहीं होता ? इस पर अद्वैत वेदान्तियों का उत्तर है कि 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इस सूत्र-भाष्य में जीव का कर्तृत्व अवश्य बतलाया गया है; परन्तु यह नहीं कहा गया कि कर्तृत्वं स्वाभाविक धर्म है । परवर्ती सूत्र 'यथा च तक्षोभ-यथा' ब्र० सू० २।३।४० इसके सूत्रभाष्य में आध्यासिक आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, इस बात का समर्थन 'न स्वाभाविकं कर्तृत्वं आत्मनः सम्भवति' अर्थात् आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व सम्भव नहीं है, ऐसा कहकर किया गया है ।[4] आत्मा का कर्तृत्व नाना युक्तियों द्वारा उक्त सूत्र भाष्य में आध्यासिक सिद्ध किया गया है । आत्मा का कर्तृत्व यदि स्वभाविक होता तो उसका कर्तृत्व कभी नष्ट नहीं होता तथा आत्मा की मुक्ति सम्भव न होती ।[5] आचार्यशंकर ने कर्तृत्व आदि को दुःख-रूप कहा है। कर्तृत्व गुण है, गुण अर्थात्

१. मनसः कर्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति, अद्वैतसिद्धि, पृ० ६१२
२. पंचपादिका पृ० ३२ मद्रास ।
३. पंचपादिका, पृष्ठ १००,१०१, मद्रास ।
४. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, पृ० ६१६
५. कर्तृत्व स्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः सम्भवति, अग्नेरिवोष्ण्यात्, ब्र० सू० शांकर भाष्य, पृ० ६१६

धर्म के होने पर दुःख भी अवश्य होगा। यदि कर्तृत्व स्वाभाविक है तो दुःख से विमुक्ति नहीं हो सकेगी। एक प्रश्न और होता है कि यदि कर्तृत्व आदि बुद्धि से सम्बन्धित है तो उससे जीवात्मा को क्यों दुःख होता है? और मुक्ति की भी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि अध्यास के कारण जीव बुद्धि के धर्मों को अपने में मानता है। इस मिथ्याध्यास से ही मुक्त होना है। यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि कर्तृत्व का आश्रय वस्तुतः आत्मा नहीं है। गीता में कहा गया है कि त्रिगुणमयी प्रकृति सर्व प्रकार कर्म-सम्पादन करती है। अहंकार के द्वारा जिसका चित्त विभ्रान्त है वह 'मैं कर्ता हूं' ऐसा समझता है। जो शुद्ध आत्मा को कर्ता के रूप में देखता है, उसकी दृष्टि अज्ञान द्वारा आवृत्त है। वह तत्वदर्शी नहीं है।[1] आत्मा के स्वाभाविक कर्तृत्व का उपपादन करने के लिए वैष्णव दार्शनिकगण अनुमान का प्रयोग करते हैं। अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्व पक्ष के रूप में अनुमान प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है। अनुमान इस प्रकार है—'आत्मा मोक्षसाधनविषयकृतिमान्, तत्फलान्वयित्वात्, सम्मतवत्।'[2] अर्थात् आत्मा मोक्ष साधन-विषयकर्तृत्ववाला है, क्योंकि उसके फल से आत्मा ही सम्बन्धित है। इस अनुमान में यदि आत्मा का कर्तृत्व अर्थात् कृतिमत्व आध्यासिक माना जाये तो अद्वैतवादी को किसी प्रकार आपत्ति नहीं है। किन्तु स्वाभाविक कृतिमत्व आत्मा में नहीं माना जा सकता। लघुचन्द्रिकाकार ने उक्त अनुमान के हेतु को व्यभिचारी हेतु कहा है। हेतु के व्यभिचारी होने पर अनुमान दूषित हो जाता है।

आत्मा के कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी शास्त्र में वचन मिलते हैं तथा अकर्तृत्व के सम्बन्ध में भी वचन मिलते हैं। इसलिए शास्त्रवचन-सामंजस्य के लिए आत्मा के कर्तृत्व को आरोपित मान लेना ही संगत होगा; ऐसा मानने पर अकर्तृत्व तथा आरोपित कर्तृत्व की भी सिद्धि हो जाती है।

आत्मा का कर्तृत्व जिस प्रकार भ्रान्तिकल्पित है, उसी प्रकार ज्ञातृत्व भी भ्रान्तिकल्पित है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सुषुप्ति अवस्था में अहं-ज्ञान नहीं रहता, किन्तु आत्मा का अस्तित्व रहता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा में ज्ञातृत्व आगन्तुक धर्म है। ज्ञातृत्व अन्तःकरण के संसर्ग से आत्मा में आरोपित है। अद्वैत वेदान्ती के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है; अपितु आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसलिए आत्मा को ज्ञाता नहीं कहा जाता। ज्ञाता कहने पर ज्ञान और ज्ञानाश्रय में भेद सिद्ध होगा। यह बात अद्वैत वेदान्ती को अभीष्ट नहीं है। अद्वैत वेदान्ती ज्ञान एवं आत्मा में भेद नहीं करते। इसलिए व्यावहारिक ज्ञान, कर्तृत्व आदि धर्मों को आत्मा में निषेध करते हैं तथा जीवगत शुद्ध चेतन को ब्रह्म से अभिन्न कहकर ब्रह्मात्म-ऐक्य का प्रतिपादन करते हैं।

जीव कर्तृत्व स्वतन्त्र या ईश्वर अधीन—अद्वैत वेदान्त के अनुसार कर्तृत्व आदि अध्यास के कारण हैं, यह बात कही जा चुकी है। अद्वैत वेदान्त ईश्वरवादी दर्शन है। ब्रह्मसूत्र परात्तुतच्छ्रुतेः २।३।४१, इस सूत्र में कहा गया है कि जीव को जो कर्तृत्व प्राप्त

---

१. गीता ३।२७ एवं १८।१६
२. अद्वैतसिद्धि, लघुचन्द्रिका, पृ० ६११

होता है वह परात् अर्थात् ईश्वर से प्रेरित है। आचार्य शंकर ने भाष्य में कहा है कि जीव को शुभ-अशुभ कर्म करने में ईश्वर प्रेरित करता है। स्वतन्त्र रूप से जीव कर्मफल का नियन्ता नहीं है।[1] इसी अभिप्राय से उपनिषद् में भी कहा गया है कि परमेश्वर जिसको उर्ध्व-गामी करने की इच्छा करता है, उसको उत्तम कर्मों में नियोजित करता है तथा जिसको अधोगामी करने की इच्छा करता है, उसको असाधु कर्मों में नियोजित करता है।[2] परमेश्वर न किसी का शत्रु है, न मित्र। वह राग-द्वेष से ऊपर है। इसलिए परमेश्वर किसी के प्रति शुभ और अशुभ कर्म नहीं करता, यह भी कहा जाता है। क्योंकि परमेश्वर किसी का पक्षपाती नहीं है। वह फलानुसार सबको नियोजित करता है। परन्तु उपरोक्त सूत्र तथा श्रुति वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि 'परमेश्वर अपनी इच्छा से किसी को ऊपर बढ़ाता है तो किसी को अधोलोक की ओर धकेलता है।' ऐसा होने पर एक तो ईश्वर के ऊपर पक्षपातित्व दोष आयेगा तथा जीव की कर्म-स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में जीव कर्म में क्यों प्रवृत्त होगा? साथ में ईश्वर न्यायी भी नहीं रह पायेगा। इस प्रकार ईश्वर में सर्वेश्वरत्व तथा करुणापरकत्व आदि भावों का अभाव मानना पड़ेगा। इसका उत्तर अद्वैत-वादी ईश्वर जीव-कर्म-सापेक्ष होकर के ही शुभ-अशुभ फलों को देता है, यह कहकर के देते हैं। अर्थात् ईश्वर स्वयं में राग-द्वेष आदि से शून्य है। वह साधु और असाधु कर्मों में निज कर्मानुसार (जीव के अपने कर्मानुसार) उसे प्रवृत्त करता है। इस प्रकार उक्त अर्थ में जीव-कर्म अर्थात् जीव की कर्म स्वतन्त्रता ईश्वर आयत्त है। ईश्वर प्रयोजक कर्ता और जीव प्रयोज्य कर्ता है। इस पर भी प्रश्न हो सकता है कि सर्व प्रथम जब जीव अविद्याग्रस्त होकर जीव-भाव को प्राप्त करता उस समय किस कर्म के अनुसार ईश्वर ने जीव को प्रेरित किया? इसका उत्तर यही होगा कि कर्म एवं कर्मफल की परम्परा अनादि है। इसीलिए सर्वप्रथम का प्रश्न नहीं उठता। जब परम्परा चली आ रही है अर्थात् अनादि परम्परा है, तब ईश्वर जीव के कर्म के अनुसार ही जीव को प्रेरित करता है। इसमें असंगति नहीं है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, ऐसा सिद्धान्ततः लगता है, किन्तु जब वह कर्मों की अनादि परम्परा में जकड़ा हुआ है तो उस अनादि श्रृंखला से वह किस प्रकार मुक्त हो सकता है? कर्मों की अनादि श्रृंखला जीव के भावी कर्मों पर प्रभाव डालेगी। भावी कर्मों का निर्धारण पूर्व कर्मों को देखकर ईश्वर करेगा। ऐसी स्थिति में न ईश्वर को स्वतन्त्रता है कि वह अपनी कृपादृष्टि से सबको शुभ कर्म में प्रेरित करे और न ही जीव को स्वतन्त्रता है कि कर्मों की पूर्व श्रृंखला कैसी भी रही हो, अब वह अच्छे कर्मों को ही चुनेगा। उसका चयन पूर्व श्रृंखला से प्रभावित न होकर नहीं रहेगा। ईश्वर का विधान भी उक्त श्रृंखला से अप्रभावित न होगा। इस प्रकार अनादि कर्म परम्परा अधीन होता हुआ जीव ईश्वर इच्छाधीन भी है, पर ईश्वर इच्छा जीव के कर्मानुसार ही है। चूंकि सृष्टि ईश्वर की लीला है और जीव कर्म की अनादि परम्परा भी ईश्वर की लीला है, ईश्वर स्वयं लीलाधीन है, वह भी लीलापूर्वक ही है,

---

१. ब्र० सू० पृ० ६१९, ६२०

२. एष ह्येव साधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येव असाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषते। कौषीतकी उपनिषद्, ३।८

अर्थात् लीलया-लीलाधीन है, इसीलिए ईश्वर न्याय करते हुए भी स्वतन्त्र है। वह वैसा ही स्वतन्त्र है जैसा कि बालक अपने खिलौने के संसार को मिटा भी सकता है, बना भी सकता है। वह उतना पराधीन नहीं है जितना कि मिल-मालिक माल निर्माण के लिये मजदूरों के अधीन होता है। इधर जीव भी अपने कर्म की अनादि शृंखला में आवद्ध रहता हुआ भी स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि इस कर्म शृंखला में जो कर्म आते हैं उनका निर्माण उसने स्वयं किया था। इसीलिए वह वैसा ही स्वतन्त्र है जैसा कि स्वयं बन्धन का फन्दा बनाकर उसमें कोई आवद्ध होता हो और सोचता हो कि मैं इतना स्वतन्त्र हूँ कि मैं बंधने में भी स्वतन्त्र हूँ। अर्थात् बन्धन में आने के लिए उसने जो कर्म किये थे वे कर्म उसने स्वयं किये थे, वे कर्म किसी और के किये हुये नहीं हैं। इसीलिये वह स्वतन्त्र है। ऐसा कहा जाता है कि कर्मों को करने में जीव स्वतन्त्र है, वस्तु स्थिति यह है कि किसी कर्म के चयन करने में नाना प्रकार के कारण होते हैं। जिनसे प्रभावित होकर जीव को अपने मार्ग का चयन करना पड़ता है। उसके सामने विकल्प कई हो सकते हैं और इसी कारण मार्ग-चयन में उसको स्वतन्त्र कहा जाता है, परन्तु विकल्पों में से मार्ग चयन करने में वह बहुत-से अज्ञात कारणों से प्रभावित होता है। उसकी विचार-बुद्धि भी बहुत-से अज्ञात कारणों से प्रभावित रहती है। इस प्रकार प्रभाव की भी सुदूरपूर्व परम्परा जब चली आ रही है फिर किस अर्थ में जीव को स्वतन्त्र कर्ता कहा जाता है? अद्वैत वेदान्ती ईश्वर-इच्छाधीन होते हुए भी जीव को स्वतन्त्र कर्ता मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर इच्छातन्त्र में रहकर कर्म करना भी स्वतन्त्रता है। इस प्रकार सीमिततन्त्रता ही स्वतन्त्रता होगी। विचार करने पर ऐसा ही लगता है कि कार्य-क्षेत्र में कभी-कभी हम कर्म चयन में स्वतन्त्र से लगते हैं, किन्तु सुदूर पूर्व प्रभावों का हमें ज्ञान नहीं रहता, इसीलिए ऐसा लगता है। वस्तुतः सीमित अर्थ में स्वतन्त्रता ही जीव की स्वतन्त्रता हमें लगती है।

जीव की अवस्थाएँ—श्रुति में जीव की चार अवस्थाएँ बतलाई गयी हैं। १. जाग्रत् अवस्था का जीव, २. स्वप्न अवस्था का जीव, ३. सुषुप्ति अवस्था का जीव और ४. तुरीय चेतन। माण्डूक्य उपनिषद् में इन अवस्थाओं का विशेष वर्णन है, इन अवस्थाओं का अकार, उकार, मकार आदि रूपों में भी वर्णन किया गया है। अन्तिम अवस्था तुरीय चेतन को अक्षर कहा गया है। अन्तिम अवस्था प्रपंचोपशम शिवाद्वैत की अवस्था है। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में स्थित जीव का वर्णन किया है। जाग्रत् अवस्था में स्थूल शरीर अभिमानी जीव विश्व कहलाता है। वह घट-पटादि बहिर्विषयक ज्ञानसम्पन्न होता है। स्वप्नावस्था में जीव सूक्ष्म शरीर का अभिमानी होता है तथा जाग्रत अवस्था के सूक्ष्म संस्कार उसमें होते हैं। उसे तैजस कहा गया है। सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाता है।[1] अन्तिम अवस्था तुरीय है। वह अवस्थायों से ऊपर सबका अधिष्ठान है। वह पंचकोशों से अतीत है। आचार्य विद्यारण्यमुनि ने पंचदशी के पंचकोशविवेक प्रकरण में तथा सदानन्द यति ने वेदान्त-

---

१. वहिः प्रज्ञो विर्भुविश्वोह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः।
धनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्थितः॥ माण्डूक्य कारिका १ गौड़पाद।

सार में पंचकोशों का विस्तृत वर्णन किया है। जाग्रत् अवस्था का जीव अन्नमय कोश में आबद्ध है। स्वप्नावस्था का जीव प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों में आबद्ध है। सुषुप्ति अवस्था का जीव आनन्दमय कोश में आबद्ध है। तुरीय चेतन सभी कोशों से मुक्त है। वह पंचकोशातीत है। यद्यपि पूर्वोक्त तीन अवस्थाएँ तुरीय चेतन की ही जीवभावापन्न अवस्थाएँ हैं, फिर भी तुरीय चेतन उन अवस्थाओं से प्रभावित नहीं है। इन तीन अवस्थाओं से तथा पंचकोशों से विविक्त तुरीय चेतन वस्तुतः ब्रह्माभिन्न है। विवेकपूर्वक जब अन्वय-व्यतिरेक से जाग्रत् आदि अवस्थाओं का तथा पंचकोशों का बाध कर दिया जाता है तब एकमात्र तुरीय चेतन ही अवशिष्ट रहता है। विद्यारण्य मुनि ने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में अन्वय-व्यतिरेक से एक ही संवित् रूप आत्मा की स्थिति को प्रतिपादित किया है।[1] वस्तुतः आत्मसंवित्रूप जीव तीनों अवस्थाओं में एक ही है। जो जाग्रत् अवस्था में बोधस्वरूप आत्मा है, जाग्रत् विषयों के बाध होने के पश्चात् स्वप्न में वही बोधस्वरूप आत्मा अवस्थित रहती है। स्वप्न अवस्था की व्यावृत्ति होने पर सुषुप्ति में वही बोधस्वरूप आत्मा की अनुवृत्ति रहती है, इसी प्रकार इन तीनों अवस्थाओं की व्यावृत्ति होने पर एकमात्र तुरीय चेतन ही अवशिष्ट रहता है। वह जाग्रत् अवस्था के अन्नमय कोश से, तथा स्वप्न अवस्था के प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से एवं सुषुप्ति अवस्था के आनन्दमय कोश से भी परे है। वह शिवस्वरूप है। अवस्थाओं और कोशों की व्यावृत्ति से उसकी व्यावृत्ति नहीं होती। सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति ही रहती है। वही वस्तुतः जीव का स्वरूप है। जीव और शिव में कोई अन्तर नहीं है। अविद्या की निवृत्ति के साथ-साथ सर्वत्र शिव की ही अनुवृत्ति दिखाई देती है। यही अद्वैत की अवस्था है।

भेद-खण्डन—अद्वैत वेदान्त में द्वैत को मिथ्या कहा गया है। 'नेह नाना' आदि श्रुति वाक्यों के आधार पर अद्वैत वेदान्ती जीवेश्वर भेद, जीव-जीव भेद, जीव-जगत् भेद आदि का प्रत्याख्यान करते हैं। उनका कहना है कि विचार करने पर भेद की सिद्धि सम्भव नहीं है इसलिए भेद को मिथ्या मानना पड़ेगा।[2] वैष्णव वेदान्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि दार्शनिक भेद को सत्य मानते हैं। उनके अनुसार जीवेश्वर भेद जीव-जीव भेद, जीव-जगत् भेद आदि उतना ही सत्य है जितना कि ईश्वर। रामानुज ने श्रीभाष्य में, माध्व दार्शनिक जयतीर्थ ने वादावली में, व्यासराज ने न्यायामृत में, निम्बार्क सम्प्रदाय आचार्य माधव मुकुन्द ने परपक्षगिरिवज्र में तथा केशव काश्मीरी ने वेदान्त कौस्तुभप्रभा में भेदमिथ्यात्व का जोरदार खण्डन सबल युक्ति-तर्कों से किया है। अद्वैत वेदान्ती चित्सुखाचार्य ने तत्त्व प्रदीपिका में, नृसिंह आश्रम ने अद्वैत दीपिका में एवं वेदान्ततत्त्वविवेक में, आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ने न्यायमकरन्द में, मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में एवं अद्वैतरत्नरक्षण में तथा गौड़ ब्रह्मानन्द ने लघुचन्द्रिका में भेद का उसी

---

१. पंचदशी १।३,४,५

२. खण्डनखण्डखाद्यकार ने खण्डन के चतुर्थ परिच्छेद में भेद का तार्किक खण्डन किया है। खण्डनखण्डखाद्य पृ० ५७४ शारदा टीका भी, द्वितीय भाग, वाराणसी, १९४०

प्रकार से जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान किया है।

वैष्णव दार्शनिकगण जीवब्रह्म भेद में 'द्वासूपर्णा' इत्यादि श्रुतिप्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। श्रुतिप्रमाण के साथ-साथ जीव में भेद, वस्तु-वस्तु में भेद तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण से भी जीव-ब्रह्मभेद की सिद्धि हो जाती है। वैष्णव वेदान्तियों के विरुद्ध भेद के खण्डन में अद्वैतसिद्धि में कहा गया है कि जीवेश्वर भेद प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि दो तत्त्वों में भेद को समझने के लिए दोनों तत्त्वों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है, इसीलिए जीवेश्वर भेद प्रत्यक्ष नहीं हो सकता[1] अनुमान प्रमाण द्वारा भी जीवेश्वर भेद सिद्ध नहीं हो सकता। अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्व पक्ष की ओर से भेदसिद्धि में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करके खण्डन किया है। अनुमान इस प्रकार है। 'जीवेश्वरौ, भिन्नौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहनतुहिनवत्'।[2] अर्थात् जिस प्रकार शिशिर और अग्नि परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के धर्म भिन्न हैं, शिशिर ठण्डा है, अग्नि गर्म है, इसी प्रकार जीव और ईश्वर दोनों भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के धर्म भिन्न हैं। ईश्वर सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से सम्पन्न है। ईश्वर नित्यानन्द स्वरूप है। जीव अल्पज्ञ तथा दुःखी है। इसलिए दोनों भिन्न सिद्ध होते हैं। अद्वैत सिद्धिकार ने इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष दिया है। दुःखादि धर्म जो जीव में बतलाये गए हैं, अद्वैत वेदान्त के अनुसार औपाधिक हैं। ये अन्तःकरण के धर्म हैं जोकि संसर्ग अध्यास के कारण जीव में प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि भी धर्मरूप नहीं हैं। ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप है, इसीलिए गौड़ ब्रह्मानन्द ने कहा है कि उक्त अनुमान से जीव-ब्रह्म में वास्तविक भेद सिद्ध नहीं होता, अपितु औपाधिक धर्म से औपाधिक भेद सिद्ध होता है।[3] औपाधिक भेद जीव-ईश्वर में तो अद्वैतवादी भी मानते हैं। तात्त्विक भेद तो है नहीं, इसीलिए औपाधिक भेद को मान लेने के कारण अनुमान सिद्धसाधनदोष से दूषित है, एवं तात्त्विक भेद न होने के कारण साध्यविकलता भी है।[४] इसी प्रकार 'ब्रह्म जीव से भिन्न है, सर्वज्ञत्व होने से' इत्यादि अनुमान में अप्रसिद्ध-विशेषणत्व का दोष दिया जायेगा। जीव-ब्रह्म-भेद का नाना युक्ति-तर्कों से खण्डन करके अद्वैतसिद्धिकार परस्पर जीवों में भेद का भी खण्डन करते हैं। एक जीव से दूसरा जीव भिन्न है, इसके लिए पूर्व पक्ष के रूप में अनुमान प्रस्तुत करके अद्वैतसिद्धिकार ने तथा लघुचन्द्रिकाकार ने खण्डन किया है। जीव-भेद को न मानने पर अर्थात् चैत्र और मैत्र में भेद न मानने पर पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप यह है कि चैत्र को जब सुख या दुःख होगा, उसका अनुसन्धान मैत्र में भी होने लगेगा। मैत्र के स्मरण करने से सबका स्मरण करना हो जाएगा। इस आक्षेप का उत्तर पूर्ववत् उपाधि-भेद को मानकर दिया जाता है। चैत्र और मैत्र में वास्तविक जीव एक होने पर भी अन्तःकरण उपाधि के नाना होने ने कारण चैत्र के सुख-दुःख का मैत्र को अनुसन्धान नहीं होगा

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८१० तथा लघु चन्द्रिका भी।

२. अद्वैतसिद्धि, जीवब्रह्मभेदानुमानभंगप्रकरण, पृ० ८११।

३. लघुचन्द्रिका, पृ० ८११

४. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८११

और मैत्र के स्मरण करने से सबका स्मरण करना नहीं हो जाएगा। औपाधिक जीवभेद अद्वैत वेदान्त को स्वीकार है।[1] इसी प्रकार 'द्वासुपर्णा' आदि श्रुति द्वारा व्यावहारिक भेद का ही कथन हुआ है, न कि वास्तविक भेद का। 'षड्विध तात्पर्य लिंग' विचार करने पर भेद श्रुतियों का पर्यवसान अभेद अर्थ में ही होता है। इसलिए भेद श्रुतियों को व्यावहारिक भेद के समर्थक ही मानना चाहिए, न कि पारमार्थिक भेद के समर्थक। इस प्रकार भेद श्रुतियों में आप्रमाणिकत्व भी नहीं आ सकेगा।[2]

अद्वैतसिद्धिकार के समान ही नृसिंहाश्रम ने अद्वैत-दीपिका में भेद का नाना प्रकार युक्ति तर्कों द्वारा प्रत्याख्यान किया है।[3] इसी प्रकार नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक ग्रन्थ में भी जीवेश्वरभेद का खण्डन करके औपाधिक भेद ही सिद्ध किया है। उनका कहना है कि आत्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है। उनमें भेद तो घटाकाश आदि भेद के समान औपाधिक हैं।[4]

इस प्रकार अद्वैतवादी आचार्य जीवेश्वर-भेद, जीव-जगत्-भेद, जीव-जीव-भेद तथा घट-पट-भेद आदि भेदों को अपारमार्थिक कहते हैं। वे भेद स्वीकार नहीं करते, ऐसी बात नहीं। जो कुछ भी भेद दिखाई देते हैं उनका प्रत्याख्यान वे नहीं करते, किन्तु उनके पारमार्थिकत्व का खण्डन करते हैं। कुछ दार्शनिक सामान्य का खण्डन करके विशेषों पर जोर देते हैं। कुछ दार्शनिक विशेषों का खण्डन करके सामान्य पर जोर देते हैं। अद्वैत वेदान्ती सामान्य पर जोर देते हैं। उनके अनुसार सामान्य के बिना विशेषों का अस्तित्त्व सम्भव नहीं। इसीलिए विशेष प्रतीयमान हैं, वास्तविक नहीं। वे विशेषों को उड़ाते नहीं हैं। विशेषों को औपाधिक तथा सामान्याश्रित मानते हैं। स्वतन्त्र सत्ता न रहने के कारण विशेषों को वास्तविक द्रव्यत्व का स्तर प्राप्त नहीं है, जैसा कि प्लैटो यूनिवर्सल की दृष्टि से पार्टिकुलर्स PARTICULARS को आभास SHADOW कहते हैं। न्याय-वैशेषिक विशेष और सामान्य दोनों को समान रूप से सत् का स्तर देते हैं। रामानुज आदि दार्शनिक विशेष-विशिष्ट सत् को सत् कहते हैं, जबकि अद्वैत वेदान्ती सामान्य को ही अर्थात् सर्वावस्था में सर्वत्र जिसकी अनुवृत्ति है, कहीं पर जिसकी व्यावृत्ति नहीं है, उसी को सत् कहते हैं। विशेष तो सामान्य में गुथे हुए हैं—जैसा कि गीता में कहा है 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' गीता ७।७।

जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध—(तत्त्वमसि)—इससे पूर्व यह विवेचन किया जा चुका है कि जीव और ब्रह्म में वास्तविक कोई भेद नहीं है। भेद आध्यासिक है। इसीलिए जीव-ब्रह्म में किसी प्रकार सम्बन्ध की कल्पना की जाए, तो वह वास्तविक सम्बन्ध न होकर

---

१. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका, जीवपरस्परभेद अनुमानभंगप्रकरण, पृ० ८१४
२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८२२, ८२३
३. अद्वैतदीपिका, द्वितीय परिच्छेद द्रष्टव्य, नृसिंहाश्रम।
४. स आत्मा परस्मान्नभिद्यत इतिवक्ष्यते। भेदस्तूपाधित एव···तादृशस्य च भेदस्य घटाकाशादिभेदस्येवौपाधिकत्वात्। वेदान्ततत्त्वविवेक, पृ० ३६६, नृसिंहाश्रम, मैसूर।

काल्पनिक सम्बन्ध ही होगा। रामानुज दर्शन में स्वीकृत जीव-विशेषण-विशिष्ट ईश्वर अद्वैत में नहीं माना गया है। विशेषण को यहाँ पर विशेष्य ने आत्मसात् कर लिया है। न ही माध्व के समान जीव को वास्तविक भिन्न माना गया है। निम्बार्क वेदान्त में स्वीकृत भेदाभेदवाद भी अद्वैत में स्वीकृत नहीं हुआ है। निम्बार्क के अनुसार किसी अर्थ में जीव ब्रह्म से अभिन्न है और किसी अर्थ में भिन्न भी है। इसलिए वे भेदाभेदवाद को स्वीकार करते हैं। भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं। इसलिए उनके मत को औपाधिक भेदाभेदवाद कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव ब्रह्म का अभेद-सिद्धान्त 'अयमात्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा समर्थित होता है। तत्वमसि वाक्य में जीव को अर्थात् त्वम् को तत् कहा गया है। अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि उक्त तत्त्वमसि वाक्य द्वारा वास्तविक अर्थ में जीवब्रह्म अभेद सिद्धान्त की स्थापना हो जाती है। 'तत्वमसि' में तत्, त्वं, असि ये तीन पद हैं। असि पद तत् और त्वं को सम्बन्धित करता है। 'तत्' पद से सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट ईश्वर का तथा 'त्वं' पद से अल्पज्ञत्वादि-विशिष्ट जीव का साधारणतया बोध होता है, क्योंकि जीव और ईश्वर के धर्म भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार इस महावाक्य से जीव ब्रह्म ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्ती सामानाधिकरण्य द्वारा जीव-ब्रह्मैक्य की सिद्धि करते हैं। भिन्न-भिन्न अर्थ वाले समान विभक्तिक पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्य-बोध कराने वाला सम्बन्ध सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' में तत् पद का तत्काल तद्देश विशिष्ट अर्थ है एवं एतद्पद का एतद्काल एतद्देश विशिष्ट अर्थ है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ होने पर भी 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में दोनों पद एक ही देवदत्तपिण्ड का बोध कराते हैं। यह सामानाधिकरण्य से ही होता है। पदों में विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध तथा तृतीय प्रकार सम्बन्ध लक्ष्य-लक्षण भाव भी होता है। 'तत्वमसि' वाक्य में लक्षणा द्वारा तत् और त्वं में अखण्डार्थ का बोध होता है, न कि संसर्गार्थ का। संसर्गार्थबोध में बोधक शब्द संसर्ग विशिष्ट होते हैं। अखण्डार्थ में ऐसा नहीं होता। 'तत्वमसि' वाक्य का वाच्यार्थ जीव-ब्रह्मैक्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। वाच्यार्थ से जीव-ब्रह्म भेद की ही सिद्धि होती है। पर इस वाच्यार्थ को छोड़ा नहीं जा सकता। अद्वैत वेदान्ती के लिए वाच्यार्थ का भी उपयोग है। वाच्यार्थ से जीव-ब्रह्म में औपाधिक भेद सिद्ध होता है, जो कि उपास्य-उपासक भाव आदि के लिए आवश्यक है, किन्तु वाच्यार्थ ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः जीव ब्रह्म एक है। इस ऐक्य की सिद्धि नाना श्रुतियों से होती है। तत्वमसि से भी ऐक्य-सिद्धि करना है। परन्तु ऐक्य-सिद्धि करने में वाच्यार्थ असफल होता है। जहाँ पर वाच्यार्थ अशक्त हो जाता है, वहा पर लक्षणा को अवसर मिलता है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में जिस प्रकार तत्काल आदि विशिष्ट पूर्व दृष्ट देवदत्त एतद्काल में तत्काल को लेकर नहीं आ सकता, फिर भी एकपिण्डबोध होता है। यहाँ पर अभिधा से एकत्व सम्भव नहीं है, इसलिए लक्षणा द्वारा ऐक्य-सिद्धि की जाती है। लक्षणा में भी तीन प्रकार की लक्षणायें होती हैं। १. जहल्लक्षणा, २. अजहल्लक्षणा, ३. जहदजहल्लक्षणा—ये तीन भेद लक्षणा के हैं।[1]

---

१. वेदान्तसारः, महावाक्यार्थ प्रकरण। सदानन्द यति।

लक्षणा का अर्थ—जहल्लक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग कर तत् सम्बन्धित अर्थ का ग्रहण किया जाता है—जैसे 'गंगायां घोषः' में मुख्यार्थ प्रवाह को त्यागकर गंगा शब्द से तीर अर्थ लिया जाता है। 'तत्वमसि' वाक्य में ऐसी लक्षणा नहीं करनी है। 'तत्वमसि' वाक्य में तत् और त्वं को पूर्णरूप से नहीं त्याग करना है। न ही यहाँ पर अजहल्लक्षणा ही हो सकती है। अजहल्लक्षणा में जैसे—'शोणोधावति' में शोण अर्थात् लाल वर्ण दौड़ नहीं सकता। इसलिए लालवर्ण-विशिष्ट प्राणी दौड़ रहा है, अर्थ किया जाता है। यहाँ पर शोण अर्थ को ग्रहण करता हुआ विशिष्ट को लिया गया है। तत्वमसि में तत् और त्वं पदों का इस प्रकार लक्षणा से अर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थ करने पर जीव-ब्रह्म की ऐक्य-सिद्ध नहीं हो सकती, अतः 'तत्वमसि' में जहदजहल्लक्षणा स्वीकार करनी होगी। जहदजहल्लक्षणा में एक भाग का त्याग तथा एक भाग का ग्रहण किया जाता है। जैसे'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में तत् देश, तत् काल का त्याग करके तथा एतद्देश एतद्काल का भी त्याग करके मात्रतद् और एतद् को ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार एक पिण्ड देवदत्त का बोध भाग-त्याग-लक्षणा से हो जाता है। 'तत्वमसि' में भी तत् शब्दसे बोधित सर्वज्ञत्व आदि उपाधिको त्याग करके मात्र अनुपहित शुद्ध चैतन्य को ही लक्ष्यार्थ में लेना है तथा वाच्यार्थ में बोधित सूक्ष्म-कारण शरीरों के अभिमानी जीव का अल्पज्ञत्व, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि उपाधि भागको त्यागकर लक्षणा से शुद्ध चैतन्य को लेना है। इस प्रकार दोनों अनुपहित चैतन्य एक ही हैं।[1] इस अर्थ में जीव-ब्रह्म-ऐक्य-सिद्धि में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। अर्थात् जीवेश्वर की भिन्न-भिन्न उपाधियों को लेकर जीवेश्वर भेद की भी औपाधिक रूप से सिद्धि हो जाती है तथा चैतन्याँश को लेकर अभेद की भी सिद्धि हो जाती है। वास्तविक अभेद एवं आध्यासिक भेद सिद्ध होने के कारण अभेद एवं भेद प्रतिपादक श्रुतियों की भी संगति बैठ जाती है। तत्वमसि के द्वारा जिस प्रकार जीवेश्वर ऐक्य-सिद्धि की जाती है, उसी प्रकार अन्य अभेद परक श्रुतियों से भी लक्षणा द्वारा जीवेश्वर ऐक्य-सिद्धि होती है, समझना चाहिए। औपाधिक भेद न मानने पर अभेद का कथन संभव नहीं है, क्योंकि दो वस्तुओं में अभेद का प्रतिपादन किया जाता है। साथ में दो वस्तुएँ दो हैं, इसलिए अभेद संभव नहीं है, अतः अभेद कथन व्यर्थ हो जाता है। इसलिए औपाधिक भेद का अध्यारोप करके उसके बाद उसका अपवाद करके लक्षणा द्वारा अभेद की सिद्धि हो जाती है।

बद्ध एवं मुक्त जीव--अनादि अध्यास के कारण जीव का अपना शुद्धस्वरूप प्रकट नहीं होता। अनादि अज्ञान ही इस अध्यास का कारण है। अज्ञान के बन्धन में बँधा हुआ जीव अपने स्वरूप को न जानकर अन्तःकरण के धर्मों को अपने में आरोपित करता है तथा सुखी-दुःखी होता है। शरीर के धर्मों को 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूं', इत्यादि रूपों में आत्मा में आरोपित करता है तथा शरीर की कृशता को देखकर अपने को दुःखी, शरीर की स्वस्थता को देखकर अपने को सुखी अनुभव करता है। वस्तुतः आत्मा अपने स्वरूप में विशुद्ध है। वह वैसे ही विशुद्ध है जैसे दर्पण के मलिन होने पर भी बिम्बभूत मुख मलिन नहीं होता। जलस्थित सूर्य प्रतिबिम्ब में कम्पन एवं वक्रादि दीखने पर भी सूर्य उन कम्पन आदि धर्मों

१. अद्वैतसिद्धि । तत्त्वमसि-आदि वाक्यार्थनिरूपणप्रकरण द्रष्टव्य ।

से निर्लेप रहता है । इसी प्रकार जीव अपने चैतन्य रूप में परब्रह्म है, अतः वह शुद्ध है। अनादि अज्ञान एकमात्र बन्धन का कारण है। अज्ञान मिथ्या है। इस कारण अज्ञानजन्य बन्धन भी मिथ्या है । अज्ञान की दो शक्तियां हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति के कारण जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता । आवरण-शक्ति जीव के स्वरूप को आवृत कर लेती है। विक्षेप शक्ति 'मैं ईश्वर नहीं हूँ', 'अल्पज्ञ जीव हूं' 'मैं देवदत्त हूँ' इत्यादि विक्षेपों को जन्म देती है। दोनों शक्तिवाली अविद्या के विनाश से ही मुक्ति सम्भव है। अविद्या का विनाश ज्ञान से ही हो सकता है। आचार्य चित्सुख ने अविद्या के लक्षण में अविद्या को 'यद्विज्ञानेन विलीयते' कहा है।[1] अर्थात् अज्ञान का नाश ज्ञान से ही हो सकता है। जिस प्रकार रज्जु-सर्प भ्रमस्थल में रज्जुविषयक अज्ञान का नाश रज्जुविषयक ज्ञान से होता है और उस ज्ञान से अज्ञान की विक्षेपशक्ति से जन्य सर्पभ्रम भी दूर हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश ब्रह्म विषयक ज्ञान से होता है, इसलिए ब्रह्मसूत्रकार ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' १।१।१, सूत्र द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन किया है। ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या के विक्षेपजनित अहं कर्ता, अहं भोक्ता, अहं सुखी, अहं दुःखी, आदि मिथ्या व्यवहारों का बाध सम्भव है।

आचार्य गोड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में कहा है कि 'अनादिमाययासुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।' माण्डूक्य करिका १।१६, अर्थात् जीव अनादि माया में सोया हुआ है, जब ब्रह्मज्ञान से वह जाग जाता है, तब अज्ञान निद्रा से रहित अद्वैत ब्रह्मतत्व को जान जाता है। ज्ञान के बिना मुक्ति का कोई और उपाय नहीं है। कर्म ही बन्धन का कारण है। कर्म से ही आगे फल होते हैं। अच्छे और बुरे—दोनों ही फल कर्म द्वारा प्रसूत होते हैं। सम्पूर्ण अच्छे बुरे कर्मों का नाश ज्ञानरूप अग्नि से ही सम्भव है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि ज्ञान-रूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[2] मुक्ति कुछ नवीन प्राप्ति नहीं है। यदि कुछ पाना भी है तो जानने को ही पाना कहना होगा। उसी को होना भी कहा जा सकता है। घट जब टूट जाता है तो घटाकाश महाकाश ही हो जाता है, उसी प्रकार अविद्याजन्य अन्तःकरण के नाश होने पर जीवचैतन्य महाचैतन्य हो जाता है। हो जाता है न कहकर पहिले से ही है, कहा जा सकता है। ब्रह्मात्म-ऐक्य की प्राप्ति ही परमपुरुषार्थ है। मुक्ति को अद्वैत वेदान्तियों ने आनन्दस्वरूप कहा है। सांख्य के अनुसार कैवल्य ही मुक्ति है। बौद्धदर्शन में निर्वाण को मुक्ति कहा है। अद्वैत के अनुसार मुक्ति अभावरूप नहीं है। अभावरूप होने पर उसे परम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। मुक्ति में आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति तथा आत्यन्तिक आनन्दप्राप्ति होती है, कहा गया है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, इसलिए ब्रह्मरूप होना आनन्दस्वरूप होना है। यह आनन्दप्राप्ति क्षणिक नहीं, अपितु नित्यानन्द-प्राप्ति है।[3]

---

१. चित्सुखी, पृ० ५७

२. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुते तथा। गीता ४।३७

३. वेदान्तसार, पृ० ११, १२

मुक्ति दशा में जीव चैतन्य रूप हो जाता है या ईश्वर रूप ? इस प्रश्न को अद्वैत आचार्यों ने उठाया है। एक-जीववाद के अनुसार मूल अज्ञान एक है, इसीलिए मुक्ति अवस्था में अज्ञानकल्पित जीवेश्वर विभाग आदि का विनाश हो जाता है, अतः निर्विशेष चैतन्यरूप से जीव की स्थिति हो जाती है।[1] अनेक-जीववाद में भी मुक्त जीव प्रतिबिम्ब के विनाश के साथ-साथ शुद्ध चैतन्यरूप हो जाता है। जो लोग ईश्वर को बिम्ब रूप मानते हैं तथा जीव को प्रतिबिम्ब एवं दोनों में अनुस्यूत चैतन्य को शुद्ध चैतन्य मानते हैं, उनके अनुसार प्रतिबिम्बभूत जीव के मुक्त होने पर बिम्बरूप में अर्थात् ईश्वर रूप में उसकी अवस्थिति होती है। जिस प्रकार अनेक दर्पणों में एक मुख प्रतिबिम्बत होने पर उनमें से एक दर्पण के हटाने पर उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब बिम्ब रूप से अवस्थित होता है। उसी प्रकार एक जीव के मुक्त होने पर वह बिम्बभूत ईश्वर रूप में अवस्थित होता है। इस मत में जीव मुक्त होते जाते हैं तथा ईश्वर रूप होते जाते हैं। जब तक सम्पूर्ण जीव की मुक्ति नहीं होती तब तक बिम्बरूप से ईश्वर की अवस्थिति होती है।[2] मुक्त जीव भी ईश्वर भावापन्न होते जाते हैं। मुक्त पुरुष ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि गुणों से सम्पन्न होता है। सभी जीवों की मुक्ति होने पर बिम्बभूत ईश्वर की अविद्या का विलय हो जाता है तथा ईश्वर भी शुद्धचैतन्यरूप हो जाता है। अप्पय दीक्षित ने इसी मत को संगत बतलाया है। उनके अनुसार सूत्र-भाष्यों द्वारा इसी मत का समर्थन हुआ है। ईश्वरभूत मुक्त जीव में सत्य संकल्पत्वादि गुणों का भी वर्णन किया गया है।[3] अद्वैतसिद्धिकार ने मुक्त पुरुष में परमानन्द प्राप्ति का समर्थन किया है। अद्वैत वेदान्ती सुख को दुःख का अभावरूप नहीं मानते। उनके अनुसार सुख अपने आप में अस्तिरूप है। दुखाभावरूप मानने पर मुक्ति भी बौद्धों के निर्वाण के समान हो जायेगी।[4] शंकराचार्य ने मुक्ति का स्वरूप निर्धारण करते हुए इसे नित्यतृप्त स्वयंज्योतिस्वभाव कहा है। उनका कहना है कि मुक्ति की स्थिति में धर्म-अधर्म तथा धर्म-अधर्म के कार्य सुख-दुःखों के साथ तीनों कालों में सम्बन्ध नहीं रहता। मुक्त पुरुष वस्तुतः अर्थ में अशरीरभाव को प्राप्त कर लेता है।[5]

जीवन् मुक्त और विदेह मुक्त जीव—अविद्या की निवृत्ति ही मुक्ति है और वह स्थिति ब्रह्मात्मऐक्य बुद्धि से होती है। यह मुक्ति वस्तुतः प्राप्त की प्राप्ति है, नवीन प्राप्ति नहीं। जैसे गले में स्थित हार के खो जाने का विभ्रम हो जाने पर किसी के द्वारा 'यह तुम्हारे गले में हार है', ऐसा कहे जाने पर जैसा कि पहले से ही स्थित हार की प्राप्ति वस्तुतः प्राप्त की ही प्राप्ति है, नवीन प्राप्ति नहीं, इसी प्रकार अद्वैत के अनुसार मुक्ति को समझना चाहिए। मुक्ति इस मत में उत्पाद्य नहीं है, न ही संस्कार्य है। ऐसा मानने

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५३३
२. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५३५
३. वही, पृ० ५४१
४. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८८८-८९०
५. ब्रह्मसूत्र १।१।४

पर मुक्ति अनित्य हो जायेगी।[1]

अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति पर विचार हुआ है। गीता में ब्राह्मी स्थिति के रूप में जीवन-मुक्ति का वर्णन हुआ है, जिसका समर्थन आचार्य शंकर ने भी किया है। विदेह-मुक्ति ब्रह्मनिर्वाण को कहा है। इस प्रकार आचार्य शंकर के द्वारा जीवन्मुक्ति एवं विदेह-मुक्ति—मुक्ति की दोनों अवस्थाएँ स्वीकृत हुई हैं।[2] स्थितप्रज्ञ की स्थिति भी जीवन्मुक्ति की स्थिति ही है, जिसका वर्णन गीता में किया गया है।[3] अद्वैत-सिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि में जीवन-मुक्ति का ससर्थन किया है। उन्होंने कहा है कि तत्त्व-ज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर भी पूर्व संस्कार के कारण मुक्त पुरुष की शरीरावस्थिति बनी रहती है। जिस प्रकार दण्ड घुमाना छोड़ देने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक घूमता रहता है एवं जिस प्रकार सर्पभ्रम समाप्त होने पर भी भय, कम्पन्न आदि कुछ समय तक बने रहते हैं, उसी प्रकार मुक्त पुरुष भी प्रारब्ध कर्म-क्षय होने तक अपने शरीर को धारण करता है।[4] सदानन्द यति ने वेदान्तसार में तथा धर्म-राजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में जीवन-मुक्ति का समर्थन किया है।[5] आचार्य शंकर गीता ४।३।७ श्लोक की व्याख्या में कहते हैं कि ज्ञान होने पर वह ज्ञान रूपी अग्नि प्रारब्ध कर्म को छोड़कर सभी कर्म को भस्म कर देती है। जो प्रारब्ध कर्मफल देने के लिए प्रवृत्त हो चुके हैं, उनका नाश इस शरीर के द्वारा भोग करने पर ही होगा।[6] इस प्रकार जीवन्मुक्त शरीरपात तक प्रारब्ध कर्म के बल पर शरीर धारण करता है, परन्तु वह ब्रह्मा-नन्द में विचरण करता है। प्रारब्ध कर्म के क्षय भोग द्वारा होने पर विदेह-मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शंकर द्वारा जीवन-मुक्ति-एवं विदेह मुक्ति दोनों ही स्वीकृत हैं। आचार्य मण्डन मिश्र जीवन-मुक्ति की व्याख्या से संतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार पूर्ण-रूप से ज्ञानोदय होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है तथा अज्ञान के बिना शरीरधारण सम्भव नहीं है। अतः शरीर का पात हो जाता है एवं विदेह-मुक्ति हो जाती है। जहाँ पर ज्ञानोदय के बाद शरीर चलता रहता है, वहाँ पर मण्डन मिश्र के अनुसार पूर्णरूप से ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं मानना चाहिए। ज्ञानोदय के बाद भी ज्ञान के परिपक्व न होने तक, कुम्हार के चक्र घुमा चुकने के बाद भी चक्र-भ्रान्ति के समान, शरीर कुछ समय तक चलता रहता है।[7] इसी को कुछ लोग जीवन्मुक्ति कहते हैं।[8] मण्डनमिश्र इसे जीवन्-

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० १२५
२. एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ···ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। गीता २।७२ शांकर भाष्य भी द्रष्टव्य।
३. गीता २।५६
४. अद्वैत सिद्धि, पृ० ८९०
५. वेदान्तसार। जीवन्मुक्ति लक्षणप्रकरण तथा वेदान्त परिभाषा प्रयोजन परिच्छेद द्रष्टव्य।
६. येनकर्मणा शरीरमारब्धं तत् प्रवृत्तफलत्वात् उपभोगेन एव क्षीयते। गीता शांकर-भाष्य ४।३७ एवं ब्रह्मसूत्र ४।१।१५, ४।१।१९
७. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३१
८. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३२

मुक्ति न कहकर साधक की उन्नत अवस्था कहते हैं। स्थितप्रज्ञ की अवस्था भी साधक की उन्नत अवस्था ही है। विचार करने पर मण्डन और अन्य आचार्यों द्वारा मानी गयी मुक्ति की स्थिति में कोई असंगति नहीं है। जीवन्मुक्ति को चाहे उन्नत अवस्था कह दिया जाये, चाहे जीवन्मुक्ति कह दिया जाये, वह विदेह-मुक्ति की पूर्वावस्था है। विदेह-मुक्ति शरीरपातानन्तर होती है जबकि जीवन्मुक्ति अवस्था में भी शरीर-अध्यास न रहने के कारण मुक्त पुरुष विदेह-भाव को प्राप्त कर लेता है।

जीवन्मुक्ति अवस्था में कुछ आचार्यों के अनुसार अविद्या का लेश रह जाता है, जिस कारण जीवन-मुक्त का शरीर बना रहता है—जैसे लहसुन का पात्र अच्छी तरह धोने पर भी लहसुन की गन्ध को कुछ समय तक बनाये रखता है, उसी प्रकार अविद्या-लेश रह जाता है।[1] परन्तु सर्वज्ञात्मा के अनुसार अविद्या का ज्ञान के साथ समूल नाश हो जाता है, क्योंकि ज्ञान अज्ञान परस्पर विरोधी हैं, इसीलिए दोनों साथ में नहीं रह सकते। उनके अनुसार जीवन-मुक्तिप्रतिपादक शास्त्रों को अर्थवाद समझना चाहिए।[2] क्योंकि ज्ञान के होते ही अविद्या के नाश होने के कारण विदेह-मुक्ति हो जाती है।

अविद्या-निवृत्ति को ब्रह्मसिद्धिकार आत्मस्वरूप समझते हैं।[3] आनन्दबोधाचार्य अविद्या निवृत्ति को सत् से भिन्न, असत् से भिन्न, सदसद् से भिन्न एवं अनिर्वचनीय से भिन्न, पंचम मानते हैं।[4] कुछ लोग अविद्या-निवृत्ति को अविद्या के समान अनिर्वचनीय कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार अभाव अधिकरणस्वरूप है। इसलिए अविद्या निवृत्ति भी ब्रह्मरूप है, यह मण्डन मिश्र का मत समीचीन लगता है। ऐसा मानने पर पूर्णाद्वैतवाद में किसी प्रकार की असंगति हमें नहीं दीखती। जो लोग अविद्या-निवृत्ति को अनिर्वचनीय मानते हैं, उनके अनुसार भी अनिर्वचनीय अविद्या की निवृत्ति भी वस्तुतः ब्रह्माभिन्न है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार बन्धन अज्ञान के कारण है। अज्ञान अनादि है, किन्तु उसका नाश होता है। अज्ञान के नाश होने पर प्रारब्ध कर्म के अनुसार कुछ समय तक शरीर चलने को जीवन्मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्त जीव ही आदर्श जीव है। जीवन्मुक्ति के बाद शरीरपातानन्तर विदेह मुक्ति होती है। इतना होने पर भी वस्तुतः अर्थ में जीव न बन्धन में फँसता है और न मुक्त होता है। वह तो बिम्बभूत सूर्य के समान सब समय निर्लेप है। शुद्ध चेतन है।

---

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५१२

२. वही, पृ० ५१३, ५१४

३. आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५१४

४. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० ५१६

तृतीय अध्याय

अविद्या के लक्षण और स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व अविद्या का कार्य है। अविद्या ही इस विश्व का उपादान है। अविद्या के कारण ही विशुद्ध चैतन्य भी जीवभावापन्न-सा होता है। अद्वैतब्रह्मवाद की सिद्धि में अविद्या के सिद्धान्त की मुख्य भूमिका है। इस अनादि अविद्या के लक्षण करते हुए आचार्य चित्सुख ने तत्त्व प्रदीपिका ग्रन्थ में कहा है—

अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्रज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥

जो अनादि एवं भावरूप है तथा तत्त्वज्ञान से जिसका विनाश हो जाता है, पण्डितगण उसे अज्ञान कहते हैं।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिर्वत्या अविद्या है'[1] अर्थात् 'अनादि' भावरूप एवं ज्ञानविनाश्य अविद्या है'। अमलानन्द स्वामी के शब्दों में वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी 'भाव रूपा मताऽविद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह।'[2] अविद्या अनादिभावरूप ही है। इस प्रकार अविद्या के लक्षणों में विशेषकर हमें तीन विशेषण पद मिलते हैं—अर्थात् अविद्या (१) अनादि (२) भावरूप एवं (३) ज्ञाननाश्य है। उक्त अज्ञानलक्षणोक्त 'अनादि' विशेषण द्वारा परवर्तीज्ञाननाश्य पूर्ववर्ती ज्ञान में अतिव्याप्ति का निषेध किया गया है। पूर्ववर्तीज्ञान परवर्ती ज्ञान से नष्ट हो जाता है। घटज्ञान के अनन्तर पटज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्वोत्पन्न घटज्ञान विनष्ट हो जाता है। उस ज्ञान में भी भावरूपत्व एवं ज्ञाननाश्यत्व की अतिव्याप्ति हो सकती है। अतः अविद्यालक्षण में 'अनादि' पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पूर्वोत्पन्नज्ञान ज्ञान-नाश्य होने पर भी, और भावरूप होने पर भी, अनादि नहीं है। अतः उत्तरज्ञाननाश्य पूर्व-ज्ञान में अतिव्याप्ति दोष नहीं रहा। अनादि तो प्रागभाव भी है। उत्पत्ति से पूर्व घटादि

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५४४ निर्णय सागर।

२. ब्रह्मसूत्र कल्पतरु, सूत्र १।३।३०

का अभाव प्रागभाव कहलाता है। वह अभाव कब से है, कहा नहीं जा सकता, अतः उसे अनादि अभाव कहा जाता है। वस्तु की उत्पत्ति होने पर तद्वस्तु का प्रागभाव भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान का प्रागभाव भी अनादि है। किसी नवीन वस्तु के ज्ञान होने का अर्थ है, उस नवीन वस्तु को हम इससे पूर्व नहीं जानते थे। उसका न जानना अनादि है। ज्ञान होते ही उस ज्ञान के प्रागभाव का नाश हो जाता है। ज्ञान प्रागभाव अनादि है एवं ज्ञाननाश्य भी है। अविद्यालक्षण में भावरूपत्व पद के न होने पर लक्षण की ज्ञान प्रागभाव में अतिव्याप्ति हो सकती थी। अतः लक्षण में 'भावरूपत्व' विशेषण पद का प्रयोग किया गया। अनादि भाव पदार्थ तो आत्मादि नित्य पदार्थ भी हैं। अज्ञान लक्षण की आत्मादि नित्य पदार्थों में अतिव्याप्ति न हो, इसीलिए लक्षण में 'ज्ञाननाश्य' विशेषण पद का प्रयोग है।[1]

प्रतिपक्षी की और से यहाँ पर प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अनादि भाववस्तु किस प्रकार विनाशी हो सकती है? अनादि भाववस्तु को तो आत्मा के समान अविनाशी पदार्थ होना चाहिए। अतः अविद्या जब अनादि एवं भावरूप है, तो उसका विनाश नहीं हो सकता। इस पर अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'जो अनादि भावरूप है, वह अविनाशी है, जैसे आत्मा'।[2] इस प्रकार अनादि भावरूप होने के कारण अविद्या का विनाश ज्ञान से नहीं हो सकता। अनादि भावरूप सभी पदार्थ जब अविनाशी हैं तब अविद्या-लक्षण का लक्ष्य क्या रह जायेगा? अनुमानविरुद्धलक्षण भी दोषदुष्ट लक्षण ही होगा। प्रतिपक्षी की आपत्ति के उत्तर में अद्वैत पक्ष का कहना है कि अनादि भावरूप पदार्थ अवि-नाशी होता है, यह तर्क ग्राह्य नहीं है। ऐसे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं कि अनादि भाववस्तु होते हुए भी वह विनाशी है। उदाहरण के रूप में पार्थिवपरमाणु के श्यामरूप को लिया जा सकता है। न्याय-वैशेषिकगण परमाणु को नित्य मानते हैं। नित्य पार्थिव परमाणु अनादि एवं भावरूप पदार्थ हैं। पार्थिव परमाणु में श्यामगुण भी अनादिभाव रूप है। श्यामघट को कुम्भकार जब पकाता है, उस समय वह पककर रक्तरूप वाला हो जाता है। अतः मानना होगा कि पाक अनन्तर श्यामघट के श्याम परमाणुओं का श्यामरूप नष्ट हो जाता है एवं उक्त परमाणु रक्तरूपवाला हो जाता है। तभी श्यामघट रक्तघट में बदल जाता है। अतः अनादिरूपभाववस्तु का विलय नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अविद्या का लक्षण असमीचीन नहीं है।

उक्त अविद्या के लक्षण की व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने अविद्या को 'भावाभावविलक्षणा अनिर्वाच्या' कहा है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार अविद्या भाव एवं अभाव यावत् पदार्थों का उपादान है। इसीलिये अविद्यालक्षण में विशेषण के रूप में आया हुआ 'भाव' शब्द से स्वभाव सिद्ध भावरूप अर्थ नहीं लेना है। स्वभाव सिद्ध भावरूप अर्थ

---

१. चित्सुखी, पृ० ५४ (निर्णय सागर)
२. यच्चानादित्वेसति भावरूपं तदनिर्वत्यं यथा आत्मा। चित्सुखी-नयन प्रसादिनी, पृ० ५७

करने पर अविद्या को अभाव पदार्थों का उपादान माना नहीं जा सकता, क्योंकि उपादान कारण और कार्य में स्वल्पांश में अन्तर रहने पर भी समानता अधिकांश में होती है। अद्वैत-वादी भी विवर्तवादी होते हुए भी सत्कार्यवादी हैं। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य विजातीय नहीं होना चाहिए। स्वभावसिद्ध भाव और अभाव पदार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में भाव पदार्थ को अभार्व का उपादान नहीं माना जा सकता। इसीलिए अविद्या को जब अभाव का भी उपादान कहा जाता है तो अविद्या स्वभावसिद्धभाव रूप नहीं, अपितु उससे विलक्षण है। उसी प्रकार जब अविद्या को भाव पदार्थ का उपादान कहा जाता है, तो उसे स्वभावसिद्ध अभावरूप भी नहीं कह सकते, अपितु उसे उससे विलक्षण ही कहना होगा। इस प्रकार अविद्या के भावरूपत्व का भावाभावविलक्षण रूप अर्थ हुआ।[1] भावाभाव विलक्षण है, अतः अविद्या अनिर्वाच्या है। वस्तुतः अविद्या और अविद्या के कार्यों की प्रतीति है। इसलिए अविद्या को भावरूप कहा जाता है। ब्रह्म ज्ञान से अविद्या का बाध हो जाता है। इसलिए यह स्वभावसिद्ध भावरूप भी नहीं है। अतएव अविद्या भावाभाव विलक्षण ही है।

अविद्या को अनादि कहा गया है। प्रतिपक्षी का कहना है कि अद्वैतवेदान्त में जिस प्रकार अनादि अविद्या का विवरण मिलता है, उसी प्रकार सादि अविद्या का भी विवरण मिलता है। शुक्तिरजतभ्रम में शुक्तिविषयक अज्ञान के कारण रजतभ्रम होता है। शुक्ति सादि वस्तु है, अतः शुक्तिविषयक अज्ञान भी सादि है। अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु मे स्पष्ट शब्दों में दो प्रकार की अविद्या का विवरण दिया है। उनके अनुसार एक प्रकार की अविद्या अनादि भावरूप है, जो कि जगत् उपादान है, जिसे मूलाविद्या कहते हैं। दूसरी सादि अविद्या है जो कि सादिभ्रम का उपादान है।[2] जो कि तूलाविद्या है। इस सादि अविद्या में अनादित्व के न रहने के कारण अविद्यालक्षण की अव्याप्ति है।

इस पर अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि वस्तुतः अविद्या दो प्रकार की नहीं है। सादि और अनादि नाम से दो प्रकार की अविद्या नहीं है। तूलाविद्या सादि होने पर भी अनादि मूलाविद्या के अन्तर्गत आ जाती है। तूलाविद्या मूलाविद्या का परिच्छेदक है। शुक्ति रजत भ्रम में भी शुक्ति मूलतःब्रह्माभिन्न है। इसीलिए शुक्तिविषयक अज्ञान को वास्तविक अर्थ में शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य विषयक अज्ञान कहा जाता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ति में रजतभ्रम भी शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान के कारण होता है, न कि चैतन्यातिरिक्त विषयक अज्ञान के कारण। ऐसा सम्भव ही नहीं है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार शुक्ति भी ब्रह्म में अध्यस्त है। अतः उसकी सत्ता ब्रह्मानन्य है। जब शुक्ति विषयक अज्ञान भी शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान है, तब अज्ञान भी उसी प्रकार एक एवं अनादि है, जिस प्रकार शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य होते हुये भी चैतन्य वास्तविक अर्थ में एक है। अतः चैतन्य भी एक है, तद् विषयक अज्ञान भी वस्तुतः एक

---

१. भावत्वं चाज्ञाभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्।
अद्वैतसिद्धि, पृ० ५४४ (निर्णय सागर)

२. वेदान्तकल्पतरु, पृ० ३ (निर्णय सागर)

है। इसीलिए अनादि अविद्या दो नहीं, अपितु एक है। अतः अविद्या लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।[1] प्रतिपक्षी की पुनः आपत्ति यह है कि अनादि ब्रह्माश्रित अविद्या की कल्पना के मूल में कोई कारण होना चाहिए। वह कारण अध्यास है, ऐसा अद्वैतवादी कहते हैं। अध्यासमूलक अविद्या होने से अविद्या को सादि मानना चाहिए। इस पर अद्वैतवादी का उत्तर यह है कि अविद्या की कल्पना अध्यासमूलक है। फिर भी वह अनादि ही है। अध्यासमूलक होने पर अनादि होने में कोई दोष नहीं है। अध्यासमूलक अविद्या है और अध्यास भी अविद्यामूलक है। दोनों ही अनादि हैं। अविद्या का कारण अनादि अध्यास है और अध्यास का कारण अनादि अविद्या है। बीजांकुरन्याय से दोनों ही अनादि हैं। आचार्य शंकर ने भाष्य में एवं वाचस्पति मिश्र ने भामती में स्पष्ट रूप से अध्यास को अनादि कहा है।[2]

इस पर द्वैतवादी अनुमान द्वारा अविद्या को सादि सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अनुमान इस प्रकार है—"अविद्या सादिः ज्ञाननिर्वत्यत्वे सति अभावविलक्षणत्वात्, उत्तरज्ञाननिवर्त्य पूर्वज्ञानवत्।"—अर्थात् उत्तर ज्ञान द्वारा निर्वत्य पूर्व ज्ञान के समान अविधा भी सादि है, क्योंकि ज्ञान द्वारा निर्वत्य होते हुए वह अभाव से विलक्षण है। जो ज्ञान द्वारा निर्वत्य है, वह सादि भी है। उत्तरज्ञानद्वारा निर्वत्य पूर्वज्ञान होता है। वह सादि भी है, अनादि नहीं। वह अभाव से विलण भी है। उसी प्रकार अविद्या की भी ब्रह्मज्ञान-द्वारा निवृत्ति होती है, वह अभाव से विलक्षण भी है, तो उसे भी सादि होना चाहिए।

इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्ती का कहना है कि अविद्या को सादि सिद्ध करने पर शास्त्रविरोध होगा। वेद-उपनिषद् आदि शास्त्रों में अविद्या या माया को अनादि ही कहा गया है।[3] ऐसी स्थिति में अविद्या को अनुमान द्वारा सादि सिद्ध करने पर श्रुति विरुद्ध सिद्धान्त होगा जो कि प्रतिपक्षी को भी अभीष्ट न होगा; क्योंकि आगमप्रमाण द्वारा अनादि अविद्या सिद्ध होने पर अनुमान 'वाध' नामक हेत्वाभास दोष से दूषित हो जाएगा।

अद्वैतवेदान्ती सादित्वसाधक अमुमान के विरुद्ध अनादित्व साधक अनुमान प्रस्तुत करते हैं। अतः यह सत्प्रतिपक्षानुमान होगा—'अविद्या अनादिः, ज्ञान निवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणात्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्।' अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान का प्रागभाव ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। वह अनादि है, एवं ज्ञान द्वारा निर्वत्य भी है, उसी प्रकार अविद्या भी अनादि है, क्योंकि वह भी ज्ञान द्वारा निर्वत्य एवं भावविलक्षण पदार्थ है। इस प्रकार अद्वैतवादी अविद्या को अनुमान द्वारा अनादि सिद्ध करते हैं। इस अनुमान के हेतु 'भाव-विलक्षणत्वात्' को द्वैतवादी स्वरूपासिद्ध हेतु की आख्या देते हैं। द्वैतवादी का कहना है कि भावरूपप्रपंच का उपादान अविद्या भी भावरूप ही होगी। एवंभूतभावरूप अविद्या को उक्त अनुमान में भावविलक्षण कह दिया गया। इससे अविद्या के स्वरूप की ही

---

१. रूप्योपादनमज्ञानमनादि चैतन्याश्रितत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृ० ५४४ (निर्णय सागर)
२. ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य एवं भामती।
३. अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम्……। श्वेताश्वतरोपनिषद्।

सिद्धि नहीं होगी। अतः अद्वैतवादी का सत्प्रतिपक्षानुमान स्वरूपसिद्धि हेत्वाभास दोष से दुष्ट है। अद्वैतवादी का उत्तर यह है कि अविद्या को अद्वैतवादी भावरूप नहीं मानते और न ही अभावरूप मानते हैं। अद्वैतवादी अविद्या को भावाभावविलक्षण-अनिर्वाच्या मानते हैं। अनिर्वाच्या का अर्थ है अविद्या सद्रूपा भी नहीं, असद्रूपा भी नहीं, सदसद्रूपा भी नहीं, अपितु अनिर्वाच्यरूपा है।[1]

द्वैतवादी की आपत्ति है कि जो पदार्थ भावरूप नहीं होता वह अभावरूप होता है और जो अभारूप नहीं होता वह भावरूप होता है। सत्व-असत्व परस्परविरुद्ध पदार्थ हैं। इनमें से एक के मिथ्या होने पर अन्य सत्य होता है। अद्वैतवादी का कहना है कि ऐसा नियम नहीं है कि भाव-अभाव अत्यन्त विरोधी हैं। सामान्यतः दोनों में विरोध होने पर भी एक के मिथ्या होने पर दूसरा सत्य होगा, ऐसी बात नहीं। सत्व-असत्व एकत्र नहीं रह सकते, ऐसी बात होने पर भी दोनों का अभाव एकत्र रह सकता है। जैसे गोत्व और अश्वत्व धर्म-दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं। जहां पर गोत्व होता है, वहाँ पर अश्वत्व नहीं होता और जहाँ पर अश्वत्व होता है वहाँ पर गोत्व नहीं होता।[2] इसीलिए गौ न होने पर अश्व हो जायेगा या अश्व न होने पर गौ, ऐसा नियम नहीं है। प्रकृत स्थल में भी अद्वैत के अनुसार सत् शब्द से परब्रह्म का, एवं असत् शब्द से आकाश कुसुम का बोध होता है। यह विश्वप्रपंच जिस प्रकार परमसत् ब्रह्म के समान नहीं है तो यह एकान्त अलीक आकाश कुसुम भी नहीं है। ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधित सत्ता एवं आकाश-कुसुम के समान अलीकत्व-इन दोनों का अभाव प्रपंच में है। ऐसी स्थिति में सत् न होने पर असत् होगा और असत् न होने पर सत् होगा, यह नियम प्रपंच के वस्तुओं में लागू नहीं होता। अविद्या की प्रपंच की जैसी स्थिति है। अविद्या को परमसत् कोटि में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका बाध हो जाता है और इसको अलीक कोटि में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी और इसके द्वारा उत्पादित कार्यों की प्रतीति होती है। अतः अविद्या के अनादित्वसाधक अनुमान में स्वरूपसिद्धिदोष अद्वैत में दिया नहीं जा सकता।

द्वैतवादी अविद्या को सादि मानते हैं। उन्होंने अविद्या के सादित्वसाधक अनुमान प्रस्तुत किया है। इसीप्रकार अद्वैतवादी गण भी द्वैतवादी के अनुमान के विरुद्ध तुल्यबल सम्पन्न अनादित्वसाधक अनुमान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों के समानबल सम्पन्न होने के कारण अविद्या सादि या अनादि, इसका निर्णय नहीं हो पाता। अद्वैत-वेदान्ती अपने पक्ष की सिद्धि के लिए अर्थात् अविद्या के अनादित्व सिद्ध करने के लिए द्वैतवादी के सादित्वसाधक अनुमान में 'भावत्व' उपाधि दिखाकर अनुमान को दोषयुक्त बतलाते हैं। 'साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतुरव्यापकस्तथा स उपाधिः' साध्य का व्यापक होता हुआ हेतु का जो अव्यापक हो वही उपाधि है। अनुमान में साध्य सादित्व में भावत्व है, किन्तु ज्ञान 'निर्वत्यत्वेसति अभावविलक्षणत्वात्' इस हेतु का व्यापक नहीं है। इस हेतु में भावत्व नहीं है। इसलिए 'भावत्व' को लेकर उपाधि दोष दिया जा रहा है। इसप्रकार

---

१. अद्वैतसिद्धि—अनिर्वाच्यत्वलक्षणोपपत्तिः।

२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५२

अद्वैतवादी के अनुसार 'द्वैतवादी का सादित्वसाधक अनुमान हीन बल होकर सादित्व की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाता है। अतः अद्वैतवादी के अनुमान के द्वारा अविद्या का अनादित्व सिद्ध होता है।

द्वैतवादीगण अविद्या को ज्ञाननिर्वत्य भी नहीं मानते। उनका कहना है कि 'रक्तः स्फटिकः' इस प्रकार के औपाधिक भ्रम में स्फटिक की रक्तिमा स्वाभाविक नहीं होती। इसप्रकार ज्ञान होने पर भी उक्त भ्रमोपादान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इसीप्रकार जीवन्मुक्त पुरुष का देह सम्बन्धादि अज्ञान कार्य देखे जाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान हो चुकने पर भी अज्ञान का सम्पूर्ण नाश नहीं होता। अतः यह सिद्धान्त नहीं माना जा सकता कि ज्ञानद्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है। इसलिए ज्ञान निर्वत्यत्व के न रहने के कारण अविद्या लक्षण में अव्याप्तिदोष है। इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि ऐसी बात नही है कि अविद्या लक्षण में अव्याप्ति दोष है। 'रक्तः स्फटिकः' एवं जीवन्मुक्त के दृष्टान्तों से भी अव्याप्ति दोष नहीं दिया जा सकता। उक्त दोनों दृष्टान्तों में ज्ञान हो चुकने पर भी भ्रमोपादान अज्ञान के नाश न होने का विशेष कारण है। वहाँ पर प्रतिबन्धक के रहने के कारण अज्ञान के नाश होने में विलम्ब अवश्य होता है। 'रक्तः स्फटिकः' में जान लेने पर भी स्फटिक लाल नहीं है, स्फटिक के लाल दिखाई देने का कारण है। ज्ञान होने पर भी वहाँ जपाकुसुम की उपस्थिति होने के कारण स्फटिक लाल दिखाई देगा। जब तक जपाकुसुम रूपी उपाधि को वहाँ से नहीं हटाया जायेगा तब तक उपाधि के कारण स्फटिक लाल दिखाई देता रहेगा।, स्फटिक के स्वरूप को जान लेने पर भी ऐसा दिखाई देता रहेगा, क्योंकि ज्ञान के साथ-साथ वहाँ पर उपाधि रूप में प्रतिबन्धक ही भ्रमोपादान अज्ञान के विनाश में बाधा उपस्थित कर रहा है। इसीप्रकार जीवन्मुक्त में भी ज्ञान की उत्पत्ति हो चुकने पर भी अज्ञान नष्ट न होने का कारण प्रतिबन्धका-भाव का न होना ही है। यहाँ पर मुक्त जीव का अदृष्ट या प्रारब्ध ही अज्ञाननाश में प्रति-बन्धक है। इसीलिए कार्योत्पत्ति में दार्शनिकगण प्रतिबन्धकाभाव को भी कारण मानते हैं। ज्ञानोदय होने पर जब भी प्रतिबन्धक अभाव होगा तभी भ्रमोपादान अज्ञान का नाश हो जायेगा। जीवन्मुक्त पुरुष में भी ज्ञानोदय हो चुकने के बाद प्रारब्ध कर्म के कारण शरीर धारण करने योग्य अज्ञान जारी रहता है। ज्ञान इस अज्ञान को भी क्रमशः नष्ट करता है। प्रतिबन्धक के नष्ट होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है। अतः ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है। इसी कारण अविद्यालक्षण में अव्याप्तिदोष नहीं है।[1]

प्रतिपक्षी की ओर से एक शंका यह भी की गई कि अविद्यालक्षण की अतिव्याप्ति अविद्या एवं अविद्याब्रह्म-सम्बन्ध में होगी, क्योंकि उक्त सम्बन्ध भी अनादि, भावरूप 'एक' ब्रह्मज्ञान होने पर नाश्य भी है। अद्वैत वेदान्ती का उत्तर है कि 'ज्ञाननिर्वत्य' पद से साक्षात् रूप से ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति अर्थ लेना है। साक्षात् रूप से ज्ञान अज्ञान का ही विनाशक है। अविद्या एवं अविद्या ब्रह्मसम्बन्ध अनादि भावरूप होने पर भी साक्षात् रूप से ज्ञान निर्वत्य नहीं है, क्योंकि उक्त सम्बन्ध अविद्या का कार्य है, अविद्या के सभी

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५४४

कार्य अविद्या रूप उपादान के नाश होने पर विनष्ट हो जाते हैं। साक्षात् रूप से ज्ञान द्वारा नाश्य तो अविद्या ही है। कार्यजगत् तो तदुपादानकत्वेन उसके नाश से नष्ट होता है। उक्त सम्बन्ध को स्वरूप सम्बन्ध मानने पर तो अविद्या के अन्तर्भूत होने से साक्षात् रूप से ज्ञाननिर्वत्य होगा और तब उसको भी अविद्यालक्षण के लक्ष्य मानने में कोई आपत्ति और अतिव्याप्ति नहीं है।[1]

अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने 'भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम्'[2] भ्रम का जो उपादान है, वही अज्ञान है, इस प्रकार अज्ञान का लक्षण प्रस्तुत किया है। परब्रह्म में विश्वप्रपंच अध्यस्त है। विश्वप्रपंच के अधिष्ठान होने के कारण प्रपंचभ्रम के उपादानत्व तो परब्रह्म में भी है। अतः 'भ्रमोपादानत्व' अविद्यालक्षण की अतिव्याप्ति ब्रह्म में होगी, इसप्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त अविद्यालक्षण में उपादान शब्द से परिणामी उपादान लेना है, न कि अपरिणामी उपादान। अपरिणामी उपादान अर्थात् विवर्तउपादान ब्रह्म है, अतः परिणामी उपादानत्व ब्रह्म में न होने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। भ्रमोपादानत्व लक्षण में परिणामी एवं अचेतन, ये दोनों विशेषण और जोड़ देने चाहिए। ब्रह्म न परिणामी है और न ही अचेतन है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

शुक्तिरजतभ्रमस्थल में शुक्ति के प्रमाज्ञान से रजतभ्रम की निवृत्ति होती है। जब तक शुक्ति का प्रमाज्ञान नहीं होता तब तक भ्रम क्रियाशील रहता है। शुक्ति विषयक प्रमाज्ञान से पूर्व तद्विषयक प्रमाज्ञान का प्रागभाव होता है। उसी प्रागभाव को ही भ्रमोपादान मान लिया जाय। अनिर्वचनीय अज्ञान को भ्रमोपादान मानने की क्या आवश्यकता है ? इस पर अद्वैतपक्ष का उत्तर यह है कि प्रागभाव मात्र प्रतियोगी की उत्पत्ति में साधक बनता है। प्रतियोगी की उत्पत्ति होने पर प्रागभाव का विनाश हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाज्ञान का प्रागभाव भ्रम को क्यों उत्पन्न करेगा ? अतः प्रमा के प्रागभाव को रजतादिभ्रम का उपादान नहीं माना जा सकता।

यह भावरूप अविद्या साक्षिभाष्य एवं चित्प्रकाश्य है। शुद्ध चैतन्य ही अविद्या का आश्रय और विषय भी है। संक्षेपशारीरककार ने कहा भी है कि—'आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला'। इस अविद्या की आवरण-शक्ति और विक्षेपशक्ति नाम से दो शक्तियां मानी गई हैं। शुक्तिरजतभ्रम में शुक्तिविषयक अज्ञान की आवरण शक्ति के कारण ही शुक्ति का प्रमाज्ञान नहीं हो पाता और उसी अज्ञान की विक्षेपशक्ति के कारण शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अविद्या की आवरण शक्ति से विशुद्धचैतन्य का स्वरूप आवृत हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म विषयक अज्ञान (ब्रह्म स्वरूप को न जानना) की आवरणशक्ति के कारण ब्रह्म का स्वरूप आवृत हो जाता है। अविद्या की इन दोनों शक्तियों को अविद्यावृत्ति भी कहते हैं।

राहु जिस प्रकार सूर्य को आवृत करके स्वयं उसके प्रकाश से प्रकाशित होता है।

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५४५
२ वही, पृ० ५४५

उसी प्रकार अविद्या भी विशुद्ध चैतन्य को आवृत करके चैतन्य के प्रकाश से स्वयं भी प्रकाशित होती है।[1] यह अविद्या अनादि है, किन्तु नित्य नहीं है। विशुद्ध ज्ञानोदय से अविद्या का नाश होता है। इस सदसद्विलक्षण अविद्या को कहीं पर मायाशक्ति भी कहा गया है। इसे कहीं-कहीं पर तमः शक्ति भी कहा है।[2] इस अनिर्वचनीय अविद्याशक्ति के बिना अद्वैत ब्रह्मवाद में जगत् की व्याख्या संभव नहीं है।

अविद्यावाद के विरुद्ध सप्त अनुपपत्तियाँ

अद्वैतवेदान्ती के अविद्यावाद का वैष्णवदार्शनिकों ने जोरदार खण्डन किया है, क्योंकि अविद्यावाद के खण्डन हो जाने पर अद्वैतवाद की मित्ति ही हिल जाती है। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना अनिर्वचनीय अविद्या के सिद्धान्त के कारण ही हो सकती है। एकाद्वैतब्रह्मवाद में जगत् की व्याख्या एकमात्र अविद्या के माध्यम से ही दी जा सकती है। जिन दार्शनिकों ने अद्वैत के अविद्यावाद का प्रत्याख्यान किया है, उनमें रामानुजाचार्य का नाम प्रमुख है। रामानुज ने अद्वैतवेदान्त के अविद्यावाद के विरुद्ध सात प्रकार की अनुपपत्तियाँ प्रदर्शित की हैं। वे सात प्रकार की अनुपपत्तियाँ इस प्रकार हैं :—१. अविद्यास्वरूपानुपपत्ति। २. प्रमाणानुपपत्ति। ३. आश्रयानुपपत्ति। ४. तिरोधानानुपपत्ति ५. अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति। ६. निर्वर्तकानुपपत्ति। ७. निवृत्यानुपपत्ति।

१. **अविद्यास्वरूपानुपपत्ति**—आचार्य रामानुज ने श्री भाष्य में कहा कि अद्वैत-वेदान्त में प्रतिपादित अविद्या का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। रामानुजाचार्य का प्रश्न है कि अविद्यादोष सत्य है या मिथ्या? अद्वैत ब्रह्म के साथ-साथ यदि अविद्या भी सत्य है तो अद्वैतवाद भी द्वैतवाद में परिणत हो जाएगा। अविद्या को मिथ्या कहने पर उस मिथ्या का मूल खोजना होगा, अतः अन्य दोष की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार अनवस्थादोष होने लगेगा।[3]

रामानुजीय उक्त स्वरूपानुपपत्ति भी समाचीन नहीं है, क्योंकि अद्वैतवेदान्ती अविद्या को सत्य नहीं कहते, सत्य तो एकमात्र बह्म ही है,। अविद्या को अलीकार्थ में मिथ्या भी नहीं कहा है। इसीलिए न द्वैतवाद की आपत्ति है, न अनवस्थादोष ही है। अविद्या स्वयं अनादि है। अतः दोषमूल की खोज व्यर्थ है। अविद्या का स्वरूप सदसद्-विलक्षण अनिर्वचनीय है। अतः स्वरूपानुपपत्ति का प्रश्न नहीं उठता।

२. **प्रमाणानुपपत्ति**—आचार्य रामानुज कहते हैं कि भावरूप अविद्या में कोई भी प्रमाण नहीं है। अद्वैतवेदान्ती 'अहंमज्ञः, त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण के उदाहरण दिया करते हैं। रामानुज का कहना है कि इन उदाहरणों से भावरूप अविद्या की सिद्धि न होकर अभावरूप अविद्या की सिद्धि होती है। 'अहमज्ञः' इत्यादि

---

१. राहुवत् स्वावृत्तचैतन्यप्रकाश्याविद्या। अद्वैतसिद्धि, पृ०५७५
२. परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वभाविकी ज्ञानवल-क्रिया च। श्वेताश्वतर—६।८
मायांतु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्-श्वेताश्वतर—४।१०
३. श्रीभाष्य, पृ० १६८-१६९ (निर्णय सागर)

मानस प्रत्यक्ष में रामानुजाचार्य ज्ञान प्रागभाव मानते हैं। ज्ञानप्रागभाव अभावरूप है। अतः अविद्या भी अभावरूप ही है। अद्वैतवेदान्ती 'अहमज्ञः' इत्यादि अज्ञान प्रत्यक्षस्थलों में अज्ञान को भावरूप मानते हैं। उक्त उदाहरण में ज्ञाता अपनी अज्ञता को साक्षात्-सम्बन्ध से प्रत्यक्ष करता है। अद्वैत मतानुसार अभाव का प्रत्यक्ष साक्षात्सम्बन्ध से नहीं होता। अभाव के साथ इन्द्रिय का साक्षात् योग नहीं होता। घट शून्य भूतल में अभाव प्रत्यक्ष के लिए घटशून्य भूतल के साथ चक्षुइन्द्रिय का संयोग होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनुपलब्धि नामक परोक्ष प्रमाण से अभाव का प्रत्यक्ष होता है। पूर्वोक्त दृष्टान्त में अज्ञान का प्रत्यक्ष साक्षात् होता है। अतः अज्ञान भावरूप है, अभावरूप नहीं। 'अहमज्ञः' इत्यादिस्थलों में एकान्तेन ज्ञान का अभाव है, इसप्रकार प्रतिवादी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अहमज्ञः' इस प्रकार से अज्ञान का बोध भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। अतः ऐसी स्थिति में अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नहीं समझना है।

अविद्या के भावरूपत्व सिद्ध करने के लिए प्रकाशात्मपति ने पंचपादिकाविवरण में अनुमान भी प्रस्तुत किया है। यह अनुमान अद्वैतवेदान्त में बहुत ही प्रसिद्ध है। अनुमान इसप्रकार है—

'विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानम् स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिर्वत्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तर पूर्वकम्, अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात् अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीप-शिखावत्।' इसका अर्थ इस प्रकार है—जब यह घट है, इस प्रकार प्रमाणज्ञान होता है, उक्त प्रमाणज्ञान से 'मैं घट को नहीं जानता', इस प्रकार घटविषयक अज्ञानरूपी भाव-वस्तु की निवृत्ति होती है। घटज्ञान से घटज्ञान के प्रागभाव की निवृत्ति होती है। इसलिए उक्त अनुमान में स्वप्रागभावव्यतिरिक्त विशेषण दिया गया है। घटज्ञान होने से पूर्व 'घट को मैं नहीं जानता' इसप्रकार घट में अज्ञान का आवरण होता है। उस अज्ञाना-वरण की निवृत्ति घट ज्ञान से होती है, अतः घट विषयक अज्ञान स्वज्ञान द्वारा निर्वत्य है। अनुमान में 'अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात्' को हेतु रखा गया है। घट ज्ञान से अप्रका-शित घटरूप अर्थ प्रकाशित होता है। अतः वह अप्रकाशित अर्थ प्रकाशक है। जिस प्रकार अन्धकार में प्रदीप जलाने पर अन्धकार का नाश होता है और अन्धकार में स्थित घट भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार घटविषयक प्रमाणज्ञान से भी घट प्रकाशित होता है। जिस प्रकार प्रदीप द्वारा घट का आवरण अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा भी अज्ञानावरण दूर हो जाता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार अन्धकार भाव पदार्थ है। उस भाव पदार्थ का निवर्तक प्रदीप है, उसी प्रकार घटविषयक प्रमाण ज्ञान भी घटविषयक अज्ञान को दूर करता है। चूंकि घटविषयक अज्ञान के कारण घट ज्ञाता के ज्ञान में प्रकाशित नहीं हो पाता है, इसीलिए घटविषयक अज्ञान से घट आवृत है, मानना पड़ेगा। इस अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया गया कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। घट ज्ञान से घटविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। वह घटविषयक अज्ञान अभावरूप नहीं, क्योंकि वह अज्ञान घट को प्रकाशित न होने के लिए आवरण का काम करता है। आवरण का काम अभावरूप अज्ञान नहीं कर सकता। जिस प्रकार अन्धकार द्वारा आवृत घट चक्षुइन्द्रिय द्वारा ज्ञान का विषय नहीं बनता, उसीप्रकार प्रकृत

में भी समझना चाहिए। अद्वैतवेदान्ती अन्धकार को भावरूप मानते हैं। इसीलिए उक्त अनुमान में 'अन्धकार में प्रदीपशिखा' के दृष्टान्त की संगति है। जो दार्शनिक अन्धकार को प्रकाशाभावरूप मानते हैं, उनके लिए यह दृष्टान्त अज्ञान के भावत्व का साधक नहीं होगा। अविद्या की भावात्वसिद्धि के लिए चित्सुखाचार्य ने चित्सुखी ग्रन्थ में इसी प्रकार अनुमान प्रस्तुत किया है।[1] अमलानन्द स्वामी ने वेदान्त कल्पतरु में तथा अप्पय दीक्षित ने कल्पतरु परिमल में भावरूपत्व की सिद्धि में अनुमान प्रस्तुत किया है।[2] अद्वैतसिद्धि-कारने भी 'प्रमा प्रमाभावातिरिक्तस्य अनादिनिर्वर्तिका कार्यत्वात् घटवत्', अनुमान प्रस्तुत किया अर्थ है। इसप्रकार है—जिस प्रकार घट उत्पन्न द्रव्य होने से कार्य है, उसी प्रकार प्रमा भी कार्य है। घट के ही समान प्रमा भी प्रागभाव से भिन्न अनादि वस्तु भावरूप अज्ञान का निर्तवक है। अद्वैत वेदान्तियों ने अज्ञान के भावत्व, भ्रमोपदानत्व, अनादित्व एवं ज्ञान-विरोधित्व की सिद्धि में अनेकों अनुमान अपने-अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्तियों ने भावरूप अज्ञान की सिद्धि में श्रुतिप्रमाण एवं अर्थापत्तिप्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि के अज्ञानवादे श्रुत्युपपत्ति परिच्छेदः में 'अनृतेन प्रत्यूढ़ाः, नीहारेण प्रावृताः', इत्यादि अनेकों श्रुतिवाक्यों के उद्धरण देकर भावरूप अविद्या में श्रुतिप्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

३. **अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति**—आचार्य रामानुज द्वारा अविद्यावाद में अनिर्वचनीयत्व की अनुपपत्ति भी दिखाई है। रामानुज का कहना है कि विश्व में दो श्रेणियाँ हैं—एक सत्, दूसरी असत्। सत् और असत् के बीच में या दोनों के अतिरिक्त तृतीय श्रेणी है ही नहीं। ऐसी स्थिति में अद्वैतवेदान्ती अनिर्वचनीय नामक तृतीय श्रेणी की वस्तु का नाम कहां से लेते हैं? अनिर्वचनीय वस्तु की सिद्धि संभव नहीं है। रामानुजाचार्य का कथन है कि 'सर्वाच प्रतीतिः सदसदाकारा'।[3] अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनिर्वचनीयत्व-सिद्धि असंभव और असंगत नहीं है। अद्वैत के अनुसार परमसत् ब्रह्म है, परम असत् अलीक आकाश कुसुमादि हैं। एक का बाध नहीं होता। दूसरे की प्रतीति नहीं होती। शुक्तिरजतादि भ्रमस्थलीय वस्तु की प्रतीति होती है, अतः अलीक नहीं हैं। बाध हो जाता है, अतः ब्रह्म के समान् सत् भी नहीं। इसलिए 'सदसदभ्यां विलक्षणम्अनिर्वचनीयम्' है। अद्वैतसिद्धिकार ने सद्विलक्षण होते हुए भी असत् विलक्षण होते हुए जो मिश्रितरूप से सदसद् से भी विलक्षण है, उसी को अनिर्वचनीय कहा है।[4] जो सत्वरूप से असत्वरूप से एवं मिश्रितरूप से भी विचार का विषय नहीं बनता, वही अनिर्वचनीय है।[5] अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि में अनिर्वचनीयत्वसाधक अनुमान भी प्रस्तुत किया है।[6]

---

१. तत्वप्रदीपिका टीका-नयन प्रसादिनी, पृ० ५८

२. वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल, पृ० १।३।३०

३. श्रीभाष्य, पृ० १७० (निर्णय सागर)।

४. सद्विलक्षणेत्वसति असद्विलक्षणत्वसति सदसद्विलक्षणत्वम्, अद्वैतसिद्धि, पृ० ६२१

५. सत्वासत्वाभ्यां विचारासहत्व सति सदसत्वेन विचारासहत्वम्, वही, पृ० ६२१

६. वही, पृ० ६२७

अतः रामानुज द्वारा उत्थापित अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति संगत नहीं है।

४. **आश्रयत्वानुपपत्ति**—आचार्य रामानुज की आपत्ति है कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरोधी हैं। जहाँ ज्ञान है, वहाँ अज्ञान नहीं रह सकता। ज्ञानोदय से अज्ञान की निवृत्ति होती है और यदि ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मान लिया जायेगा तब अज्ञान से ब्रह्म के ज्ञानस्वरूपत्व का नाश हो जायेगा।

अद्वैतवेदान्त में वाचस्पति एवं मण्डनमिश्र आदि वेदान्ती अविद्या का आश्रय जीव को ही मानते हैं। वाचस्पति आदि विद्वानों का कथन है कि ब्रह्मविषयक अज्ञान जीव में ही होता है। अतः अज्ञान का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म है। प्रतिपक्षी की आपत्ति यह है कि जीव और ईश्वर परभावी तत्व हैं। अविद्या के कारण ही जीवत्व एवं ईश्वरत्व हैं। अतः जीवभाव और ईश्वरभाव से पूर्व अविद्या को होना है तथा अविद्या के लिए आश्रय भी पहले से ही आवश्यक है। जीव को अविद्या के आश्रय मानने पर अविद्या जीवसापेक्ष होगी और जीव भी अपने भाव के लिए अविद्यासापेक्ष होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। इस पर वाचस्पति मिश्र का कहना है कि बीजांकुरवत् अन्योन्याश्रय और अनवस्था को यहाँ पर दोष नहीं मानना चाहिए।

प्रकाशात्मयति के अनुसार अविद्या का आश्रय विशुद्ध ब्रह्म ही है। संक्षेप-शारीरककार ने भी अविद्या का आश्रय ब्रह्म को ही माना है। उनके अनुसार पूर्वसिद्ध अविद्या का आश्रय पश्चात्सिद्ध जीव नहीं बन सकता।[1] अतः जीव को अविद्याश्रय नहीं मानना चाहिए।

अविद्या ज्ञानाभावरूप नहीं है, इसलिए अविद्या के कारण ब्रह्म में ज्ञान का नाश नहीं होता। रामानुजाचार्य का कहना है कि ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कही गई है, अतः अज्ञान का आश्रय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है ? इस पर अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि विशुद्ध चैतन्य अज्ञान विरोधी नहीं है। अन्तःकरण प्रतिबिम्बत चैतन्य ही अज्ञान विरोधी है। अन्तःकरण में प्रतिफलित चैतन्य को इस मत में अविद्या का आश्रय नहीं माना गया है।[2]

अज्ञान का आश्रय जिस प्रकार ब्रह्म है, विषय भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म अज्ञान का विषय है, फिर भी ब्रह्म का स्वरूप वास्तविक रूप से आवृत नहीं होता। विरोधी होने पर भी जिस प्रकार अग्नि जल में समाई रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या के रहने पर भी ब्रह्म का प्रकाश नष्ट नहीं होता। ब्रह्मविषयक अज्ञान जीव को होता है, इसी-लिए ब्रह्म को ही अविद्या का विषय भी कहा जाता है। ब्रह्मविषयक ज्ञान से ही अविद्या का नाश होता है। ज्ञान और अज्ञान का विषय समान होता है। इसलिए भी ब्रह्म ही अविद्या का विषय सिद्ध होता है।

---

१. संक्षेपशारीरक, १।३१९

२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ५७७

५. **तिरोधानानुपपत्ति.**—ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है। प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश का तिरोधान अविद्या के द्वारा कैसे सम्भव है? प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश के तिरोधान का अर्थ होगा, प्रकाश का नाश।[1] अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि तिरोधान का अर्थ ब्रह्म के प्रकाश का नाश नहीं है। प्रकाश की स्फूर्ति न होना ही तिरोधान है घनीभूत मेघ से प्रकाश तिरोहित हो जाता है। सूर्य के प्रकाश के तिरोधान से सूर्य के प्रकाश का नाश नहीं हो जाता। मेघावरण के हटते ही सूर्य पुनः प्रकाशित होता है। यहां पर भी अविद्या के आवरण से ब्रह्म का प्रकाश जीव के लिए आवृत हो जाता है। ज्ञानोदय से अविद्या की निवृत्ति होने पर पुनः प्रकाश ही दिखाई देता है। स्वप्रकाशब्रह्म में कल्पित आवरण संभव है। ब्रह्म न प्रकाशते यह बोध जीव को ही होता है।

६. **निवर्तकानुपपत्ति**—अद्वैतवादी के अनुसार निर्विशेष ब्रह्मविज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी। आचार्य रामानुज का कथन है कि निर्विशेषब्रह्म प्रमाण सिद्ध नहीं है, अतः अज्ञान के निवर्तक की उपपत्ति नहीं हो सकती। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णः तमसः परस्तात्' इत्यादि प्रकारों से श्रुतिप्रमाण भी सविशेषब्रह्म को ही सिद्ध करते हैं। अतः तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि आदि वेदान्त वाक्य भी सगुण ब्रह्मबोधक होंगे।

अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि उपक्रम-उपसंहारादि षड्लिंग विधि से परीक्षा करने पर निर्गुण ब्रह्म की सिद्धि असंभव नहीं है। अतः सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य निर्गुण ब्रह्मवाद में ही है। उसी के बोध से अज्ञान की निवृत्ति होती है।

७. **निवृत्यानुपपत्ति**—निर्विशेषब्रह्म के साक्षात्कार से ही अविद्या की निवृत्ति बतलाई गई है, किन्तु रामानुजाचार्य का कहना है कि अद्वैतवादी का ऐसा कहना असंगत है। रामानुज के मत में जगत् प्रपंच सत्य है। जागतिक वस्तुएं अर्थक्रियाकारी हैं। इसीलिए ज्ञान से प्रपंच की निवृत्ति संभव नहीं। इसी प्रकार ज्ञान से अविद्या की भी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अद्वैतवादी के अनुसार जीवब्रह्मैकत्वविज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी। जीव ब्रह्मैकत्वज्ञान रामानुज के अनुसार मिथ्या ज्ञान है। मिथ्याज्ञान से अविद्या की निवृत्ति कैसे हो सकती? निवर्तक मिथ्या है, अतः निवृत्ति संभव नहीं। ऐसी स्थिति में मुक्ति भी संभव नहीं है।

अद्वैतवादी का कथन है कि जागतिक पदार्थ अर्थक्रियाकारी होने पर भी ब्रह्म के समान सत् नहीं हैं, अतः उनकी तथा तदुपरान्त अविद्या की निवृत्ति निश्चित होनी है। अविद्या को विज्ञाननाश्य कहा गया है। ज्ञानोदय से जिस प्रकार शुक्तिरजत की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानोदय से अविद्या की भी निवृत्ति होती है। अविद्या अनादि है, किन्तु विनाशी है। विनाशी पदार्थ का बाध सर्वजनीन प्रसिद्ध है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अविद्यावाद के विरुद्ध रामानुजाचार्य ने सात प्रकार की अनुपपत्तियों का उत्थापन किया है। जिनका उत्तर हमने अद्वैतवेदान्त के अनुसार दिया है। अनिर्वचनीय अविद्या की स्वीकृति द्वारा अद्वैतवेदान्त यह बतलाना चाहता है कि जो

---

१. प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धः, विद्यमानस्यविनाशोवा श्रीभाष्य, पृ० १६८

कुछ भी हमारे सामने उत्पत्तिविनाशशील वस्तुएं हैं, ये एक दिन विनाश को प्राप्त होंगी। नित्य एकमात्र परम ब्रह्म है। अन्य सभी अनित्य हैं, इसीलिए मिथ्या हैं। अनिर्वचनीयत्व का अर्थ अलीकरूप मिथ्या नहीं है। प्रतीतिसमर्थ एवं अर्थक्रिया समर्थ ही यहां पर मिथ्या का अर्थ है।

अद्वैत वेदान्त में अविद्या को माया और अज्ञान भी कहा गया है। अविद्या, माया, अज्ञान इन शब्दों को पर्यायवाचक माना जाता है। हमारी धारणानुसार विश्वसृष्टि की व्याख्या में ब्रह्मविषयक अज्ञान की आवरण शक्ति के लिए अविद्या शब्द का, जगत् सृष्टि की विक्षेप शक्ति के लिए माया शब्द का प्रयोग होना चाहिए। व्यवहारकालीन भ्रम-स्थलों में शुक्तिविषयक अज्ञान एवं-तदुपादानक रजत प्रतीति के लिए आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियों से समन्वित अज्ञान के लिए अज्ञान शब्द का प्रयोग समीचीन होगा।

चतुर्थ अध्याय

अध्यास और ख्यातिवाद

अध्यास—अध्यासवाद भी अद्वैतवेदान्त का केन्द्रीभूत सिद्धान्त है। अध्यास का उपादान अविद्या है। अविद्या के कारण ही अध्यास होता है। जिस प्रकार अविद्या अनादि है, उसी प्रकार अविद्योपादानक यह अध्यास भी अनादि है। आचार्य शंकर ने कहा भी है कि मिथ्या अज्ञान के कारण सत्स्वरूप आत्मा एवं जड़स्वरूप अनात्मा का अध्यास होता है।[1] इसी अध्यास के कारण अहं, ममेदं इत्यादि मिथ्याभिमान दिखाई देते हैं। वास्तविक रूप से आत्मा और अनात्मा का मिलन संभव नहीं है, क्योंकि दोनों ही तमःप्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाववाले हैं। इसलिए इस मिलन को भी मिथ्या कहा गया है।

आचार्य शंकर ने अध्यास का लक्षण इस प्रकार दिया—'स्मृतिरूपःपरत्र पूर्व दृष्टावभासः[2]।' अध्यास को स्मृतिरूप कहा गया है। यह स्मृति के समान है। स्मृति भी संस्कारजन्य है और अध्यास भी। स्मृति में वस्तु सामने नहीं होती, किन्तु भ्रम या अध्यास में भ्रम का विषय सामने दिखाई देता है। इसलिए भ्रमज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। शुक्तिरजतादि भ्रमज्ञान निरधिष्ठानक भ्रम नहीं है, क्योंकि किसी न किसी अधिष्ठान में ही भ्रम उत्पन्न होता है। शुक्ति अधिष्ठान में ही रजतभ्रम होता है। प्रकृत में भी प्रपंचभ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म है। अनादि अध्यास के कारण ही एक ब्रह्म नाना जीवरूपों एवं जगत् रूप से प्रतिभासित होता है।[3] यद्यपि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, फिर भी जिस प्रकार आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी आकाश में नीला आकाश है, इत्यादि भ्रम हुआ करता है, उसी प्रकार ब्रह्मअधिष्ठानक भ्रम की उपपत्ति हो जाती है। अनादि शुद्ध नित्य ब्रह्म में अनादि अविद्या के कारण ही विषयिनिष्ठ विभ्रम उत्पन्न होता है। 'परत्र' शब्द से लक्षण में अधिष्ठान ही लिया गया है। वास्तविक अर्थ में

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भूमिका, पृ० १६-१७। (निर्णय सागर)।

२. वही।

३. पंचपादिका, पृ० १४, १५

'अवभास' ही अध्यास है। अन्य पदों को विशेषण रूप में समझना चाहिए। शुक्तिरजत में पूर्वदृष्ट रजत का भ्रम शुक्ति रूप अधिष्ठान में होता है। यही अध्यास है। इसी को 'अतस्मिन् तद् बुद्धिः' भी कहते हैं। जहाँ पर जो नहीं होता, वहां पर उसकी बुद्धि होना ही 'अतस्मिन् तद् बुद्धिः' है। जिस प्रकार स्मृति को भ्रमज्ञान नहीं कह सकते, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान को भी भ्रमज्ञान नहीं कहा जाता। भ्रमज्ञान में स्मृतवस्तु की उपस्थिति की आवश्यकता नहीं है, जबकि प्रत्यभिज्ञान में स्मृतवस्तु की उपस्थिति सामने होती है। 'यह वही देवदत्त है', इत्यादि प्रत्यभिज्ञान में पूर्वकाल में अन्यत्र देखा हुआ देवदत्त को सामने देखकर ही प्रत्यभिज्ञान होता है। भ्रम ज्ञान में पूर्वकाल में अन्यत्र देखा हुआ रजत सामने नहीं होता, अपितु उस रजत की स्मृति शुक्ति को देखकर हो आती है, जिस कारण शुक्ति को रजत समझ लिया जाता है।

यह अध्यास अनेकों प्रकार का है। कुछ दार्शनिकगण ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास भेद से दो प्रकार का अध्यास बतलाते हैं। उन्हीं दार्शनिकों के अनुसार ही अर्थाध्यास छः प्रकार का है। जैसे—१. केवल सम्बन्धाध्यास। २. सम्बन्धसहित सम्बन्धी का अध्यास। ३. केवल धर्माध्यास। ४. धर्मसहित धर्मी का अध्यास। ५. अन्योन्याध्यास। ६. अन्यतराध्यास।[1] कुछ वेदान्ती स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास भेद से अध्यास को दो प्रकार बतलाते हैं। जैसे—देहादि बाधयोग्यवस्तुओं का आत्मा में स्वरूपतः अध्यास होता है। बाध अयोग्य वस्तु का स्वरूपतः अध्यास नहीं माना गया, क्योंकि जो नित्य अबाधित है, उसे स्वरूपतः अध्यस्त कहना असंगत है। नित्य अबाधित वस्तु का संसर्ग माना जा सकता है जैसे—आत्मा नित्य अबाधित पदार्थ है। आत्मा का अनित्यवस्तु देहादि से सम्बन्ध देखा जाता है। भाष्यकार ने भी युष्मदस्मद् में अर्थात् आत्मा का अनात्मा में, अनात्मा का आत्मा में संसर्गाध्यास माना है। इसलिए आत्मा का अनात्मा में संसर्गाध्यास माना गया है, न कि स्वरूपाध्यास। पूर्वोक्त छः प्रकार के अध्यासों का अर्न्तभाव इन्हीं दो प्रकार के अध्यासों में हो जाता है। केवल सम्बन्ध अध्यास का उदाहरण जैसे—अनात्मा में आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास माना जाता है। शरीर को लेकर 'मैं देवदत्त हूं' इसप्रकार स्कूल जड़ शरीर में आत्मा का जो अध्यास होता है, वह सम्बन्धमात्र का अध्यास है। आत्मा में अनात्मा के सम्बन्ध और स्वरूप दोनों का अध्यास होता है। इसप्रकार के अध्यास को सम्बन्ध-सहित सम्बन्धी का अध्यास कहते हैं। आत्मा में स्थूलदेह के धर्मों का अध्यास केवल धर्माध्यास है। अन्तःकरण के धर्मों और स्वरूप दोनों का आत्मा में अध्यास धर्म सहित धर्मी का अध्यास है। आत्मा में अनात्मा का एवं अनात्मा में आत्मा का अध्यास अन्योन्याध्यास है। आत्मा में अनात्मा स्वरूपतः अध्यस्त है। अनात्मा में आत्मा स्वरूपतः अध्यस्त नहीं। इस प्रकार के अध्यास को अन्यतराध्यास कहा जाता है।

अद्वैतवादी भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। कहीं पर सम्बन्धी की उत्पत्ति होती है, जैसे शुक्तिरजत की। इसी प्रकार शुक्तिरजत में शुक्ति-वृत्तितादात्म्यसम्बन्ध की उत्पत्ति मानी गई है। अनिर्वचनीय वस्तु को ज्ञानाध्यास कहते हैं

---

१. शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्वनिरूपण, पृ० १९—डा० अभेदानन्द।

ज्ञान के अनिर्वचनीय विषय को अर्थाध्यास कहा जाता है। शुक्तिरजत भ्रमस्थलीय रजत की प्रतीति को ज्ञानाध्यास कहा जाता है। स्वरूप अध्यास तो आरोपित वस्तु का ही होता है। सत्य वस्तु के धर्म या सम्बन्ध का ही अध्यास होता है। सम्बन्धाध्यास दो प्रकार का है :—धर्मों के सम्बन्ध का अध्यास तथा केवल सम्बन्ध का अध्यास। शुक्तिरजत भ्रमस्थल में इदन्तारूप धर्म के सम्बन्ध का अध्यास होता है। 'रक्तः पटः' दृष्टान्त में रक्त रूप धर्म के सम्बन्ध का पट में अध्यास होता है। परन्तु दर्पण में केवल मुख के सम्बन्ध का ही अध्यास होता है। आत्मा में अन्तःकरण के स्वरूप का अध्यास होता है। अन्तःकरण में आत्मा का स्वरूपाध्यास नहीं होता, केवल संसर्गाध्यास होता है।[1]

यद्यपि सम्बन्ध भी एक प्रकार का धर्म ही है, अतः सम्बन्धाध्यास को धर्माध्यास कहना चाहिए। पृथक् रूप से सम्बन्धाध्यास नाम रखने की आवश्यकता न थी, फिर भी सम्बन्ध और धर्म में कुछ अन्तर है, इसी अन्तर को लेकर ही सम्बन्धाध्यास एवं धर्माध्यास दोनों का पृथक् उल्लेख किया गया है। घटत्वादि कुछ ऐसे भी धर्म होते हैं जिनकी प्रतीति में अनुयोगी की आवश्यकता नहीं होती। सम्बन्ध की प्रतीति अनुयोगी के बिना संभव नहीं है। सम्बन्ध द्वित्वाश्रित धर्म है। घटत्वादि धर्म द्वित्वाश्रित नहीं। इसीलिए दोनों का उल्लेख एकत्र नहीं किया गया। 'सन् घटः, सन् पटः' इत्यादि स्थलों में चेतन और विषय के धर्मों का अन्योन्याध्यास होता है। चेतन और विषय घटादि का अन्यन्तराध्यास होता है, क्योंकि सत् का विषय में स्वरूपाध्यास नहीं होता। घटादि के साथ सत् का संसर्गाध्यास होता है, इसीलिए घट में भी सत्ता की प्रतीति होती है।[2]

संक्षेप में विषमसत्ताक अवभास को अध्यास कहा जा सकता है। कुछ वेदान्ती सर्वत्र भ्रम का अधिष्ठान चेतन को ही मानते हैं। जगत् भ्रम का तो अधिष्ठान चेतन है ही तथा दोनों में विषमसत्ताकत्व भी है। अतः 'विषमसत्ताकअवभास अध्यास' का समन्वय होता है। शुक्तिरजतादि भ्रमस्थलीय दृष्टान्तों में शुक्ति व्यावहारिक और रजत प्रातिभासिक है, अतः विषमसत्ताकत्व ऐसे दृष्टान्तों में भी है। किन्तु जो लोग सर्वत्र भ्रमाधिष्ठान चेतन को मानते हैं, उनके अनुसार व्यावहारिक शुक्ति को रजतभ्रम का अधिष्ठान कैसे माना जाए? इस आशंका का उत्तर इस प्रकार है—शुक्ति भी जड़वस्तु है। जड़वस्तु की सत्ता चेतन के बिना प्रकाशित नहीं हो सकती, इसीलिए शुक्ति भी चेतन अधिष्ठान में अध्यस्त है। अर्थात् जागतिक भ्रमों के उदाहरणों में भी भ्रमाधिष्ठानत्व चेतन में ही है न कि शुक्ति आदि व्यावहारिक वस्तुओं में। सर्वत्र चेतन को अधिष्ठान मानने वाले वेदान्तियों के मत का समन्वय इस प्रकार हो जाता है। जो वेदान्ती व्यावहारिक वस्तुओं को प्रातिभासिक वस्तुभ्रम के लिए अधिष्ठान मानते हैं, उनके अनुसार भी विषमसत्ताकत्व के कारण असंगति नहीं है। अनात्मपदार्थों में आत्मा की आधारता संभव नहीं है। सम्पूर्ण प्रपंच ही अनात्मा पदार्थ है। इसलिए प्रपंच में आत्मा की

१. पंचपादिका, पृ० ११३, मद्रास संस्करण।

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० २१६, वाराणसी।

आधारता असंगत है। प्रपंचआधारता आत्मा में है, क्योंकि प्रपंच आत्मा में अध्यस्त है। ऐसी स्थिति में अनात्मा में आत्माध्यास के प्रसंग में अनात्मा को जो आत्माध्यास का अधिष्ठान कहा गया है, वह काल्पनिक है।

भ्रमस्थल में प्राचीनाचार्यगण अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। अधिष्ठान के विशेष ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति भी मानी गई है। फिर भी अधिष्ठान सामान्य ज्ञान से ही अध्यास संभव है। यह रजत है, यहां पर 'यह' का सामान्य ज्ञान होता है। 'यह' क्या है, ज्ञात नहीं रहता, अर्थात् शुक्ति प्रकारता से शुक्तिज्ञान नहीं होकर उक्त प्रकार से शुक्ति का सामान्य ज्ञान होता है। इसीलिए शुक्ति विषयक विशेष-ज्ञान के कारण रजतभ्रम होता है। जब शुक्ति को इदं करके जाना जाता है, उस ज्ञान से इदमवच्छिन्न चेतनगत अज्ञान की निवृत्ति होती है, शुक्ति अवछिन्न चेतनगत विशेष अज्ञान से प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति होती है, साथ में इदमवच्छिन्न चेतनगत अज्ञान की निवृत्ति भी बनी रहती है। इदं के साथ ही सामान्य रूप से इन्द्रिय संयोग हुआ करता है, न कि शुक्ति के साथ। संक्षेप शरीरककार के अनुसार शुक्ति-अवच्चिन्न चेतन ही भ्रम का अधिष्ठान है। इदमवच्छिन्न चेतन तो आधार है। उनके अनुसार विक्षेप से युक्त अधिष्ठान और विक्षेप के साथ भासने वाला आधार होता है।[1] आधारनिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति मानने पर भी अधिष्ठाननिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति न होने के कारण तदुपादानका-ध्यास सम्भव है। कुछ वेदान्तियों के अनुसार इदं के साथ इन्द्रियसंयोग से अज्ञान के आवरणांश की निवृत्ति होती है न कि विक्षेपांश की, अतः विक्षेपांश ही रजतरूप से परि-णत हो जाता है।

ख्यातिवाद—अध्यास की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने पंचख्यातिवादों का उल्लेख किया है। इन ख्यातिवादों के द्वारा अध्यास लक्षण की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। पंचख्यातिवाद इस प्रकार हैं—१. असख्यातिवाद—शून्यवादी बौद्धों का मत। २. आत्मख्याति—विज्ञानवादी बौद्धों का मत। ३. अख्याति—मीमांसक प्रभाकर का मत। ४. अन्यथाख्याति—न्याय का मत। ५. अनिर्वचनीय ख्याति—अद्वैत वेदान्त का मत। इन ख्यातिवादों के अतिरिक्त रामानुजदर्शन में। ६. सत्ख्यातिवाद एवं सांख्य-दर्शन में। ७. सदसत्ख्यातिवाद प्रसिद्ध हुए हैं। उपर्युक्त ख्यातिवादों पर संक्षेप में विचार करके अन्त में अनिर्वचनीय ख्याति की प्रक्रिया की व्याख्या की जाएगी।

असत्ख्यातिवाद—माध्यमिक बौद्धों के अनुसार शून्य ही परमतत्त्व है। ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृभावमय सम्पूर्ण विश्व के लिए वे 'सर्वंशून्यम्' वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने शून्यत्व का अत्यन्त असदर्थ किया है, क्योंकि माध्यमिककारिका में नागार्जुन ने कहीं-कहीं पर वस्तुओं को शशश्रृंगादि के समान अलीक कहा है। शून्य-वादी के अनुसार जिस प्रकार बाह्यविषय असत् है, उसी प्रकार आन्तर्विज्ञान भी असत् है। यदि सभी असत् हैं तो विश्व-प्रपंच की उपलब्धि की क्या व्याख्या होगी? इसके उत्तर में

---

१. मध्यमकशास्त्र, पृ० १०५—का० १६६

शून्यवादियों का कहना है कि प्रपंच की सांवृतिक प्रतीति में कोई बाधा नहीं है। संवृति का अर्थ है, अविद्या। अविद्या के कारण प्रपंच की प्रतीति की व्याख्या सांवृतिकरूप से दी जाती है।

इनके मत में शुक्तिरजतादि भ्रमस्थलों के विषयों की व्याख्या भी शून्य मानकर ही दी जाती है। भ्रमाधिष्ठान शुक्ति असत् है एवं आरोप्य विषय रजत भी असत् हैं। अतः शुक्तिरजत में अत्यन्त असत् रजत् की ही प्रतीति होती है। यही शून्यवादी असत्-ख्याति हैं।

मध्यामिकों के असत्ख्यातिवाद का प्रत्याख्यान सभी वैदिक दार्शनिकों ने किया है। जयन्त भट्ट ने कहा है कि असत् की ख्याति संभव नहीं है। अन्यत्र स्थित एवं भ्रमाधिष्ठान में अनुपस्थित की ख्याति मानने पर वह विपरीतख्याति होगी, न कि असत्-ख्याति।[1] अद्वैतवादी का भी यही कहना है कि शुक्तिरजत की प्रतीति होती है, अतः उसे असत् नहीं कह सकते। असत् होते हुए प्रतीति होना विरुद्ध बात है। सत् और असत् का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। असम्बद्ध वस्तु ज्ञानद्वारा प्रकाश्य नहीं होती। असत् का अर्थ निष्प्रकार होता है। बाध से सिद्ध होता है कि शुक्तिरजत शून्य या असत् नहीं है।

आत्मख्याति—विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार बहिर्वस्तुओं की स्वतंत्रसत्ता नहीं है। क्षणिकविज्ञान ही तत्व है। इस मत में विज्ञानातिरिक्त घटादि विषयों का अस्तित्व नहीं है। घटादि विषय भी विज्ञान का ही रूप है। भ्रम में भासमान रजतादि भी विज्ञान का ही आकार है। अतः शुक्ति भी विज्ञानरूप है और रजत भी। आन्तररजतविज्ञान ही बहिर्वत् प्रतीत होता है। वस्तुतः बाह्यता भ्रम मात्र है। विज्ञान रूप में रजत सत्य है, किन्तु इदं रूप में असत् है। अतः इदं रजतम् में रजत को इदं रूप में समझना ही भ्रम है। रजत तो ज्ञानरूप में है, उसे बाह्यविषय रूप में समझना भ्रम ही तो है। विज्ञानवादी के अनुसार सत्य रजत एवं मिथ्यारजत दोनों ही विज्ञानरूप हैं। आत्मख्याति का अर्थ यहां पर विज्ञानख्याति ही लेना है। आन्तर्विज्ञान ही यहाँ पर आत्म शब्द से अभिप्रेत है। न्याय-मकरन्दकार आनन्दबोध ने विज्ञानवादी की आत्मख्याति की व्याख्या करते हुए कहा है, 'केचित्तुं ज्ञानाकारस्य बहिरवभासो विभ्रम इत्याहुः।'[2] अर्थात् कुछ लोग ज्ञानाकाररजत के बाहर अवभास को ही भ्रम कहते हैं। शुक्ति में 'इदं रजतम्' करके भ्रम होने के पश्चात् 'नेदं रजतम्' करके जब प्रतीति का बाध होता है, तब इदं और रजतम् में से इदन्ता का बाध होता है। अतः रजत को इदन्तारूप में देखना ही भ्रम है।

वैदिक दार्शनिकों ने विज्ञानवादी बौद्धों के आत्मख्यातिवाद का प्रत्याख्यान किया है। विज्ञानवादी बौद्ध के अनुसार विज्ञान आत्मरूप है और रजत भी विज्ञान रूप है। ऐसी स्थिति में 'इदं रजतम्' इस प्रकार भ्रमानुभव न होकर 'अहं रजतम्' करके भ्रम का अनुभव होना चाहिए। इसी प्रकार बाध भी 'नाहंरजतम्' करके होना चाहिए। परन्तु

---

१. न्यायमंजरी, प्रमाण प्रकरण, पृ० १६४

२. न्यायमकरन्द, पृ० ६९

'इदं रजतम्' ऐसा करके भ्रमानुभव होता है तथा बाघ भी 'नेदरजतम्' करके हुआ करता है। इसीलिए भ्रमानुभव और बाध से सिद्ध होता है कि बाह्यता अलीक नहीं है। बाह्यता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

अख्याति—प्रभाकर के अनुसार 'यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानम्'[1] सभी विज्ञान यथार्थ हैं। इनके अनुसार भ्रमस्थल में दो ज्ञान होते हैं। इदं रजतम् में इदं यह प्रत्यक्षज्ञान है और रजतम् यह स्मृतिज्ञान है। दोनों ही यथार्थ ज्ञान हैं। अतः भ्रमस्थलों में भी अयथार्थ ज्ञान नहीं होते, इसीलिए सभी ज्ञानों को यथार्थ कहते हैं। 'इदं रजतम्' भ्रम में 'इदं' का सामान्य प्रत्यक्ष होता है। विशेषशुक्तिरूप में प्रत्यक्ष नहीं होता। 'इदं' का सामान्य प्रत्यक्ष ही रजतस्मृति को जाग्रत कर देता है। रजतस्मृति भी एकांश में जाग्रत होती है। इसीलिए जिस देश में सत्यरजत का दर्शन हुआ था, उसका स्मरण नहीं होकर मात्र रजत का स्मरण होता है। इन्द्रिय दोषों के कारण विशेषशुक्ति का प्रत्यक्ष न हो पाने के कारण इदं में शुक्ति के होने का भ्रम हो जाता है। यहां पर प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों में विवेक न कर सकने के कारण भ्रान्त व्यक्ति इदं को रजत समझ लेता है। अतः प्रत्यक्ष और स्मृति दो ज्ञानों की अख्याति भ्रान्त व्यक्ति को 'इदं' में रजत लेने की प्रवृत्ति कराती है। यही अख्यातिवाद है।

अख्यातिवादी का कहना है कि भ्रमवादी जिसे भ्रम कहते हैं, वह भ्रम नहीं, अपितु यथार्थज्ञान ही है। अख्यातिवादी भ्रम मानते नहीं। इनके अनुसार 'नेदं रजतम्' करके व्यवहार का बाध होता है। ज्ञान का बाध नहीं होता। ज्ञान सदा अबाधित होता है। अख्यातिवादी की ओर से भ्रम की व्याख्या में अनुमान इस प्रकार होगा—'यथार्थाः सर्वे विप्रतिपन्नाः सन्देहविभ्रमाः, प्रत्ययत्वात्, घटादि प्रत्ययवत्'।[2] सन्देह विभ्रम आदि सभी ज्ञान यथार्थ हैं, क्योंकि वे सभी ज्ञान हैं, जैसे घटादिज्ञान।

वेदान्तियों ने अख्यातिवाद का खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि भ्रान्त व्यक्ति सामने रजत को देखकर प्रवृत्त होता है। भ्रान्त व्यक्ति यह निश्चित रूप से जानता है कि सामने रजत है। अतः अख्यातिवादी का कथन कि इदं और रजतम् यहां पर दो ज्ञानों का अग्रहण है और वही भ्रम है, समीचीन नहीं।[3] माधवाचार्य का कहना है कि रजत का स्मरण भ्रान्तव्यक्ति को 'इदं' में प्रवृत्ति नहीं करा सकता। मात्र 'इदं' का प्रत्यक्ष भी भ्रान्तव्यक्ति को रजतार्थ प्रवृत्त नहीं करा सकता। रजत का स्मरण पूर्वदृष्ट रजत में ही प्रवृत्त करा सकता है न कि सामने। रजत के स्मरण के साथ 'तत्ता' का भी स्मरण होगा और 'तत्ता' (अर्थात् वह पूर्वदृष्टरजत) पूर्वानुभूतरजत में ही प्रवृत्त कराएगी।[4] इसलिए अख्यातिवाद के अनुसार भ्रम की व्याख्या समीचीन नहीं हो सकती।

अन्यथाख्याति—अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार भ्रमस्थल में देशान्तरीय वस्तु

---

१. प्रकरण पंजिका, ४।१—शालिकनाथ।

२. भामती, पृ० २७

३. वही, पृ० २७, २८

४. सर्व दर्शन संग्रह, पृ० ८२४

का इदं रूप प्रत्यक्ष होता है। जिस पुरुष को जिस सत्य वस्तु के अनुभवजन्य संस्कार होते हैं, उस सत्य वस्तु के संस्कारसादृश्य के कारण 'इदं' में उस वस्तु का भ्रम हो जाता है। 'शुक्तिरजतम्' में न्याय के अनुसार रजत ज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान है। इस विशिष्ट ज्ञान में इदं विशेष्य और रजतम् विशेषण है। यही विशिष्ट ज्ञान न्याय के अनुसार भ्रम-ज्ञान है। भ्रम के कारण शुक्ति में रजत शुक्ति से अभिन्न रूप से गृहीत होता है और सत्य रजत के समान उसमें इष्टसाधनता का ज्ञान होने लगता है। इसीलिए उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है और इच्छा से प्रवृत्ति भी होने लगती है। इस प्रकार भ्रम में न्याय के अनुसार देशान्तर में अनुभूत रजत भी सत्य है एवं सामने स्थित इदं भी सत्य है। मात्र तादात्म्यसंसर्ग ही आरोपित है। शुक्ति में देशान्तरीयरजतप्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष क्या होगा ? क्योंकि लौकिक सन्निकर्ष तो देशान्तरीय एवं पूर्वकाल में अनुभूत रजत को संबंधित नहीं कर सकते। इसके उत्तर में न्याय का कहना है कि यहाँ पर ज्ञानलक्षणानामक सन्निकर्ष से इदं में रजत का प्रत्यक्ष होगा। भ्रम उसी व्यक्ति को होता है जिसने पहले से उस वस्तु का प्रत्यक्ष किया हो। पूर्वदृष्ट पदार्थ आत्मा में संस्कार के रूप में उपस्थित होता है। जब सामने की वस्तु को देखकर उसका सामान्य ज्ञान मात्र होता है, उस समय आत्मा में स्थित संस्कार उद्‌बोधित होते हैं, और पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति होती है। स्मृति भी ज्ञान है, उक्त स्मृति का सम्बन्ध मन के साथ और मन का सम्बन्ध इन्द्रिय के साथ होता है। इधर मन से संयुक्त इन्द्रिय का सम्बन्ध इदं के साथ भी होता है। इस प्रकार स्मृतवस्तु के साथ इन्द्रिय का एक परम्परासम्बन्ध होता है। पूर्वदृष्ट एव आघ्रात सुरभिचन्दन को या पूर्वदृष्ट एवं आघात सुरभिचन्दन के समानजातीय सुरभि-चन्दन को जब वर्तमान में दूरस्थ भी देखें तो बिना नासिकासम्बन्ध से भी मात्रचक्षु द्वारा देखकर सुरभियुक्तचन्दन का प्रत्यक्ष हो जाता है। यहां पर ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष के माध्यम से ही गन्ध का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। उसी प्रकार 'इदं रजतम्' में भी स्मृतरजतसंयुक्त मन और मनसंयुक्त इन्द्रिय से रजत का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसको भ्रमज्ञान इसलिए कहा जाता है कि यहां पर शुक्ति विशेष्य में शुक्तित्व प्रकारक ज्ञान न होकर रजतत्व प्रकारक ज्ञान होता है जो कि वर्तमान में उपस्थित नहीं है।

अद्वैत वेदान्तियों ने अन्यथाख्याति का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है। अन्यथा-ख्याति के प्रत्याख्यान के लिए उन्होंने न्यायद्वारा स्वीकृत ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष का खण्डन किया है। विवरणाकार ने अन्यथात्व का अभिप्राय क्या है, प्रश्न किया है।[२] ज्ञान में अन्यथात्व संभव नहीं है, क्योंकि रजतज्ञान का आलम्बन शुक्ति हो, यह संभव नहीं। रजत का ज्ञान होगा तो उस रजतज्ञान का आलम्बन भी रजत ही होगा। विषय में अन्यथात्व मानने पर प्रश्न होगा कि देशान्तरीय रजत शुक्ति में किस सम्बन्ध से भासता है ? नैयायिकों ने जो ज्ञानलक्षणा द्वारा शुक्ति एवं देशान्तरीय रजत के सम्बन्ध की व्याख्या प्रस्तुत की है, वह समीचीन एवं संगत नहीं है। 'सुरभिचन्दनम्' का

१. अद्वैतसिद्धान्त विद्योतन, पृ० १
२. पंचपादिकाविवरण, पृ० १४४, मद्रास।

ज्ञान लक्षणा के लिए जो दृष्टान्त दिया गया है, वह भी अद्वैत वेदान्तियों को स्वीकार नहीं है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त में सुरभिचन्दनम् में ज्ञानलक्षणा नहीं मानी जाती। सुरभि-नासिका का विषय है। नासिका का विषय चाक्षुष नहीं बन सकता। अतः सुरभि का अनुमान कर लिया जाता है। 'सुरभिचन्दनम्' यह अनुमितिज्ञान है। 'इद रजतम्' में रजत का प्रत्यक्ष प्रथम बार हुआ है। इससे पूर्व इस रजत का स्मरण संभव नहीं हो सकता। स्मरण के बिना ज्ञान लक्षणासंभव नहीं। जो वस्तु जिस अवच्छेद से अनुभूत होती है, वह उस अवच्छेद से ज्ञानप्रत्यासत्तिरूप होगी, ऐसा नियम है।[1] अतः ज्ञानलक्षणा द्वारा भ्रान्तिज्ञान की व्याख्या संभव नहीं, क्योंकि उससे प्रत्यक्ष होने के बाद जो अनुव्यवसाय होता है, उससे यह ज्ञात हो जाता है कि उक्त स्थान में सुरभि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय का उल्लेख नहीं होता। सुरभिचन्दनम् का मात्र सामान्य ज्ञान होता है

प्रवृत्ति द्वारा भी अन्यथाख्याति की व्याख्या नहीं दी जा सकती। अन्यथाख्याति के अनुसार देशान्तरीय रजत के लिए देशान्तर में प्रवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु प्रवृत्ति सामने इदं में होती है। इसी प्रकार बाध से भी अन्यथाख्याति सिद्ध नहीं हो पाती। यह रजत नहीं है, इस प्रकार बाधबुद्धि होती है। यदि संसर्ग का आरोप होता तब यहां रजत्व नहीं है, करके बाध होता है। ऐसा नहीं होता, अतः अन्यथाख्याति द्वारा भ्रम की व्याख्या संगत नहीं।

सदसत्ख्याति—सांख्याचार्यों ने सदसत्ख्याति द्वारा भ्रम की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार 'इदं रजतम्' में इदं का ज्ञान प्रमाज्ञान है, क्योंकि यह सत्य वस्तु शुक्ति का ज्ञान है। रजत उपस्थित नहीं है। अतः वह असत् है । इस प्रकार सदसत् की ख्याति होने के कारण सर्वत्र भ्रमस्थलों में सदसत्ख्याति ही मानी जानी चाहिए।[2] ज्ञान होने पर असत् रजत का बाध हो जाता है और सत् इदं शुक्तिरूप में अबाधित रहता है।

सदसत्ख्याति में असत् को ख्याति मानी गई है, इसलिए इससे भी भ्रम की व्याख्या संगत नहीं हो सकती, क्योंकि असत् के ज्ञान मानने पर आकाशकुसुम का भी ज्ञान मानना पड़ेगा। असत् की ख्याति अद्वैतवेदान्ती नहीं मानते।

सत्ख्याति— रामानुज एवं निम्बार्क दार्शनिकों ने भ्रम की व्याख्या सत्ख्याति द्वारा दी है। ये लोग भ्रम स्वीकार ही नहीं करते। मीमांसकों के ही समान रामानुज ने भी श्रीभाष्य में 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्'[3] कहा है। रामानुज का कहना है कि पंचीकरण के सिद्धान्तानुसार सभी वस्तुएं सभी वस्तुओं में मिश्रित हैं। पृथ्वी में जल, वायु, अग्नि और आकाश मिश्रित हैं। इसी प्रकार जल में अन्यभूत मिश्रित हैं। इसी प्रकार भ्रमाधिष्ठान शुक्ति में भी पंचीकरण सिद्धान्तानुसार रजत का अंश है। इन्द्रियदोष के कारण शुक्ति का ज्ञान नहीं होकर रजत दिखाई देता है। सत् रजत की

---

१. वेदान्ततत्वविवेकदीपन, पृ० ६६,६८

२. सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात्, सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० ५।५५-५६

३. श्रीभाष्य, पृ० २६

ही शुक्ति में ख्याति है। अतः सत्ख्याति कहलाती है। निम्बकाचार्यों ने भी सत्ख्याति की इसी प्रकार व्याख्या दी है।[1]

रामानुज और निम्बार्क आचार्यगण यह मानते हैं कि पंचीकरण के अनुसार सभी में सबके होने पर भी शुक्ति के अवयवों में रहने वाला रजत व्यवहारोपयोगी नहीं है। इसी प्रकार मरुभूमि के जलावयव भी प्यास बुझाने में असमर्थ हैं। अतः अर्थक्रिया शून्य होने के कारण भ्रमस्थलीय वस्तुओं को व्यावहारिक वस्तुओं के समान सत्ता प्रदान करना समीचीन नहीं है। इस प्रकार भ्रम को स्वीकार किए बिना भ्रम की व्याख्या संभव नहीं है। इस मत में भ्रमस्थलीय वस्तु की प्रतीति के बाध की व्याख्या भी संभव नहीं है, सत्य-वस्तु का क्या बाध संभव है? इसलिए सत्ख्याति भ्रम की व्याख्या नहीं दे सकती।

अनिर्वचनीय ख्याति और अध्यास—अद्वैतवेदान्ती भ्रम या अध्यास की व्याख्या अनिर्वचनीय ख्याति से देते हैं। उनके अनुसार भ्रमस्थलीय ज्ञान एवं विषय दोनों ही अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं। भ्रमस्थलीय अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति माने बिना भ्रम की व्याख्या संगत नहीं होती, क्योंकि यदि भ्रमकालीन वस्तु को अलीक अर्थात् असत् माने तो उसकी प्रतीति ही संभव नहीं है। उसे सत् अर्थात् व्यावहारिक सत् भी नहीं स्वीकार कर सकते, ऐसा करने पर भ्रम ही नहीं माना जा सकेगा तथा व्यवहार और भ्रम में जो अन्तर है उसकी व्याख्या नहीं हो पाएगी। आत्मख्याति से बाह्य वस्तुओं की व्याख्या संभव नहीं है। अतः भ्रमकालीन वस्तुओं को आन्तरवस्तुएं भी नहीं कह सकते। स्मृति और अनुभव दो ज्ञान मानकर भी व्याख्या संगत नहीं है, कहा जा चुका है। अन्यत्र अर्थात् देशान्तरीय वस्तु की सामने उपस्थिति सभव नहीं है। अतः भ्रमस्थलीय वस्तु को अनिर्वचनीय वस्तु ही स्वीकार कर लेना चाहिए। अनिर्वचनीय वस्तु का अर्थ है—प्रतीति कालीनसत्ता। शुक्ति रजत की सत्ता तभी तक है जब तक कि शुक्तिविषयक अज्ञान बना हुआ है। शुक्तिविषयक ज्ञान होते ही तद् विषयक अज्ञान का विलय हो जाता,' इसीलिए अज्ञानोपादानक रजत का भी विलय हो जाता है। इसी को बाध कहते हैं। ज्ञान से अज्ञान का बाध हो जाता है और अज्ञान कार्य का भी। अनिर्वाच्य का अर्थ है—सद्रूप से, असद् रूप से जो निर्वाच्य न हो। सदसद्रूप से भी जिसका निर्वचन संभव नहीं, वही अनिर्वचनीय है। जो सद्विलक्षण, असद् विलक्षण और सदसद् विलक्षण है, वही अनिर्वच-नीय है। सद् ब्रह्म को कहा जाता है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में त्रिकालाबाध्य को सत् कहा जाता है। शुक्तिरजत का शुक्तिज्ञान से बाध होता है। इसीलिए वह सद् विल-क्षण है। आकाश कुसुमादि अलीक की कभी-भी प्रतीति नहीं होती। शुक्तिरजत की प्रतीति होती है, अतः वह अत्यन्तासत् नहीं है। सदसद् का एकत्र सम्मिश्रण व्याघात होगा। इस-लिए वह सदसद् विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीय है। इस पर प्रतिपक्षी शंका कर सकते हैं कि अनिर्वचनीय का अर्थ क्या निरुक्तिविरहता है? या निरुक्तिनिमित्त विरहता है? इसके उत्तर में चित्सुखाचार्य ने अनिर्वचनीयत्व का एक युक्तिसंगत लक्षण प्रस्तुत किया

---

१. श्रुत्यन्तसुरन्द्रुम, पृ० २०-२७ एवं वेदान्तकौस्तुभप्रभा, पृ० २५—सू० १।१।१

है—'प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुः वेदान्तवेदिनः'।[१] जिसका विचार सत्वरूप से असत्वरूप से तथा दोनों कोटियों को मिलाकर के भी संभव न हो, वही अनिर्वचनीय है। इस लक्षण की अतिव्याप्ति या अव्याप्ति कहीं भी नहीं है। निरुक्तिविरहता की आपत्ति भी समीचीन नहीं है, क्योंकि निरुक्ति के निमित्तज्ञान अर्थादि के रहने पर भी सदसत्वादि प्रकारों से निरुक्ति संभव नहीं है। अतः अनिर्वाच्यत्व तो है ही। अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने भी ऐसा ही लक्षण प्रस्तुत किया है।[२] 'ज्ञानबाध्यत्व'[3] भी अनिर्वाच्यत्व का लक्षण बनता है। क्योंकि अनिर्वचनीय अविद्या एवं तत्कार्य का ज्ञान द्वारा बाध होता है। शुक्तिरजतादि भ्रमस्थल में भी शुक्तिविषयक ज्ञान से रजत का बाध होता है। अद्वैतवेदान्ती अनिर्वाच्यत्व में 'मिथ्यैवरजतमाभात्' इसप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। शुक्ति में रजत मिथ्या इसलिए है, क्योंकि रजतभ्रम काल में भी व्यावहारिक रजत का त्रैकालिक अभाव होता है। आचार्य चित्सुख ने अनिर्वाच्यत्व में अनुमान प्रमाण भी प्रस्तुत किया है। 'विवादास्पदीभूत रजत अनिर्वचनीय है, बाध्य होने से, जो बाध्य नहीं, वह अनिर्वाच्य भी नहीं, जैसे आत्मा'। आत्मा अनिर्वाच्य भी नहीं, बाध्य भी नहीं, शुक्तिरजत बाध्य है, अतः अनिर्वाच्य भी होगा।[४]

इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती अनिर्वचनीयख्याति द्वारा भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु को स्वीकार करके अध्यास या भ्रम की व्याख्या देते हैं। अध्यास की सुसंगत व्याख्या इसी अनिर्वचनीय ख्याति से ही संभव है। इसी से जगत् सृष्टि की व्याख्या समीचीन हो जाती है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार जगत्सृष्टि भी अनिर्वचनीय ही है।

---

१. तत्वप्रदीपिका, पृ० ७९
२. अद्वैतसिद्धि, पृ० ६२१
३. तत्वप्रदीपिका, पृ० ७८
४. वही, पृ० ८१-८२

पंचम अध्याय

जगत् और जगत्-मिथ्यात्व

विवर्तवाद—अज्ञान के कारण जिस प्रकार रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण ब्रह्म में मिथ्या प्रपंच का भ्रम होता है। जिस प्रकार रस्सी में दृष्ट सर्प का उपादान रस्सी ही है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सर्वाधिष्ठानरूप से मिथ्या प्रपच का आश्रय है। जिस प्रकार सर्पभ्रम के कारण रस्सी में किसी भी प्रकार विकृति नहीं आती, उसी प्रकार ब्रह्म भी प्रपंचभ्रम के कारण विकृत नहीं होता। वह सच्चिदानन्दरूप से अविकृत होता हुआ भी प्रपंच का 'विवर्तोपादान' बनता है। परब्रह्म जगत् का परिणामी कारण नहीं है, क्योंकि श्रुति ब्रह्म को निर्विकाररूप से प्रतिपादित करती है। विवर्तवाद के अनुसार सम्पूर्ण विश्व मायाकल्पित और मिथ्या है। अद्वैतवेदान्त में सदसदनिर्वचनीय को मिथ्या कहा जाता है।[1] कार्यजगत् सद् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। विवर्त और परिणाम के लक्षण आचर्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से दिये हैं—'वस्तुनस्तत्समसत्ताको अन्यथाभावः परिणामः, तदसमसत्ताको विवर्त इति वा, कारणसलक्षणोअन्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणो विवर्त इति वा, कारणभिन्नं कार्यं परिणामः, तदभेदं विनैव तदव्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा।'[2] इसी प्रकार वेदान्त परिभाषा में भी परिणाम और विवर्त के लक्षण दिये गये हैं—'परिणामो नाम उपादान समसत्ताककार्यापत्तिः, विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः।'[3] उपादानसमानजातीय कार्य को विवर्त और उपादानविषमजातीय कार्य को परिणाम कहते हैं, जैसे दही दूध का परिणाम है और शुक्तिरजत शुक्ति का विवर्त है। विवर्तभूत कार्य प्रपंच को अनिर्वाच्य भी कहा जाता है। इसी कारण विवर्तवाद को अनिर्वाच्यवाद और मायावाद भी कहा जाता है।

---

१. सदसद्विक्षणत्वम् मिथ्यात्वम्-पंचपादिका, पृ० ८८

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथमपरिच्छेद।

३. वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।

ब्रह्म इस निखिल प्रपंच का उपादान कारण है, 'जन्माद्यस्य यतः'[१] इस सूत्र से यह समझा जा सकता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति से भी ब्रह्म के उपादानत्व का बोधन होता है। पूर्वोक्त सूत्र में 'यतः' पद से कारण का ही निर्देश किया गया है। श्रुति में यतः पद उपादान का बोधक ही है, 'यत इति कारण निर्देशः'[२]। 'तत्तु-समन्वयात्' इस सूत्र में भी ब्रह्म को उपादान सिद्ध किया गया है। जीव-जगत् सभी का समन्वय अन्त में ब्रह्म में ही होता है। अतः ब्रह्म सभी का उपादान कारण है। इस अर्थ में ब्रह्म सभी का उपादान ही नहीं, अपितु निमित्त कारण भी है। क्योंकि घटादिकों के समान प्रपंच का अन्य कोई निमित्ति कारण नहीं है। मायाधीश ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर ही निमित्त कारण है और अधिष्ठानरूप से वही ब्रह्म उपादान कारण भी है। यह 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' इस सूत्र के भाष्य से भी समर्थित है—'प्रकृतिश्च उपादानकारणं च ब्रह्म अभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च, न केवलं निमित्तकारणमेव'।[3] 'सईक्षां चक्रे'—उसने ईक्षणा की, 'स प्राणमसृजत' उसने प्राणों की सृष्टि की—इन श्रुतियों में ईक्षणापूर्वक सृष्टि का कथन है। इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार कुम्भकार घट के निर्माण में ज्ञान-रूप सामग्रीवान् होता है और वह घट का निमित्त कारण भी है, उसी प्रकार ब्रह्म भी ईक्षणापूर्वक सृष्टिकर्ता होने से निमित्त कारण है, परन्तु घट निर्माता कुम्भकार घट का उपादान कारण नहीं है। वहाँ पर उपादान भिन्न है। प्रकृतस्थल में ब्रह्म प्रपंच का निमित्त भी और उपादान भी है। श्रुति कहती है—एकं विज्ञाते सति सर्वं विज्ञातं भवति—अर्थात् एक को जान लेने पर सभी को जान लेना हो जाता है। जिस प्रकार एक मिट्टी को जान लेने से कारणरूप से सभी घटों को जान लेना हो जाता है, क्योंकि सभी घट कारण रूप से मिट्टी से अभिन्न हैं, जिस प्रकार एक सुवर्ण को जान लेने से सभी सुवर्णमय आभूषणों को जान लेना हो जाता है, उसी प्रकार एक उपादानरूप ब्रह्म को जान लेने से सम्पूर्ण कार्यरूप विश्व को जान लेना हो जाता है। विश्व प्रपंच ब्रह्म से पृथक् नहीं है। पूर्वोक्त युक्तियों से ब्रह्म प्रपंच का कारण सिद्ध होता है, वह भी अपरिणामी रूप से। इस प्रकार अद्वैत के अनुसार ब्रह्म अपरिणामी उपादान कारण है और मायाधीश के रूप में निमित्त भी।

अद्वैतवेदान्त का यह विवर्तवाद सांख्यदर्शन अभिमत सत्कार्यवाद से विलक्षण होता हुआ भी कुछ अंश में समान है। अद्वैत मत में विश्व प्रपंच सत् ब्रह्म का विवर्त है, साथ में अनिर्वाच्य माया का परिणाम भी। सांख्य के अनुसार विश्व प्रपंच त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणाम है। किन्तु सांख्य के अनुसार कार्यरूप प्रपंच सत्य है। अद्वैत के अनुसार विश्व का उपादान माया अनिर्वाच्य है, इसलिए माया का परिणाम विश्व प्रपंच भी सदसद्रूपेणअनिर्वाच्य, अतएव मिथ्या है। सांख्य का यह कथन कि कार्य मात्र ही कारण का अवस्थाविशेष है, अद्वैतवादी को स्वीकार्य नहीं है। सांख्यदर्शन कार्य और

---

१. ब्रह्मसूत्र, पृ० १।१।२

२. वही,

३. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, पृ० १।४।२७

कारण में अभेद सम्बन्ध मानता है। विवर्तवादी के अनुसार कार्यरूप प्रपंच अविद्याकार्य होने के कारण सत्वरजस्तमोगुणात्मक, अतएव अविशुद्ध है। कारणरूप ब्रह्म गुणातीत अतिशुद्ध अपापविद्ध है। कार्य ससीम और कारण असीम अखण्ड हैं। दोनों में अभेद नहीं हो सकता। कार्य मिथ्या माया का परिणाम है। माया के धर्म शुद्धब्रह्म को स्पर्श नहीं करते। अद्वैत वादियों ने आरम्भवादी न्याय-वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत असत् कार्यवाद को भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि आरम्भवाद के अनुसार कार्य नवीन आरम्भ होता है। अद्वैत-वादी कार्य को कारण से 'अनन्य' मानते हैं। न्याय के कार्य कारणवाद के अनुसार कार्य कारण से पूर्णतया भिन्न होता है। सांख्य के कार्य-कारणवाद के अनुसार कार्य-कारण के ही समान स्तर का होता है। इसीलिए उक्त दोनों सिद्धान्तों के अनुसार कार्य-कारण की समीचीन व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि कार्य और कारण को भिन्न-भिन्न मानने पर एक को जानने पर कार्यमात्र को जानना हो जाता है, इस प्रतिज्ञा का उपपादन नहीं हो सकता। इसी कारण अद्वैतवादियों ने कार्य को कारणसत्ता में अनुप्राणित माना है। 'अनन्य' का अर्थ अनतिरिक्त है। कार्य प्रपंच कारण ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, यही उक्त अनन्य पद का तात्पर्य है। कार्य की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है, अद्वैतवेदान्त का कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में यही अभिप्राय है। सांख्यदर्शन कार्य को सत् कहता है।[१] अद्वैतवादी सत् कार्य नहीं, सत्कारणवाद को मानते हैं। इसको सत्विवर्तवाद भी कह सकते हैं। इस दृष्टि से सत्कार्यवाद और आरम्भवाद विवर्तवाद की भूमिका ही हैं—'प्रतिष्ठितेअस्मिन्-परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः। आरम्भवादः परिणामवादो विवर्तवादस्य हि भूमिकेयम्'।[२] सत्कार्यवाद के प्रसंग में कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए ब्रह्मसूत्रकार ने 'अनन्य' पद का जो प्रयोग किया है, उसकी व्याख्या में शंकराचार्य का कहना है कि द्रष्टृ-दृश्य, भोक्तृ-योग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कारण-कार्य इत्यादि विभाग अद्वैत मत में व्यावहारिक दृष्टि से मानने पर भी वस्तुतः इनका कोई पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है। परमार्थ सत् एकमात्र ब्रह्म है। अन्य वस्तुओं की सत्ता भी अधिष्ठान ब्रह्म के कारण है। समुद्र की लहरें जिस प्रकार समुद्र से पृथक् नहीं हैं, मिट्टी के घटादि जिस प्रकार मिट्टी से भिन्न नहीं हैं, और सुवर्ण आभूषण जिस प्रकार सुवर्ण से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार विश्व प्रपंच भी कारणस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त नहीं है। घटादि तो मात्र कथन के लिए हैं, वस्तुतः तत्व तो मिट्टी ही है। उसी प्रकार आपाततः ब्रह्म में प्रपंच भी दिखाई देता है। परमार्थ सत्य तो ब्रह्म ही है।[3] आकाशादि पदार्थ भी अधिष्ठान की सत्ता से ही भासित हो रहे हैं। परमार्थतः ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय वस्तु नहीं है।

सूत्रोक्त अनन्यत्व का अर्थ करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि 'नखल्वनन्य-त्वमि-त्यभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यसाघेमः'[४] अर्थात् अनन्य का अर्थ अभेद नहीं, अपितु भेद

---

१. सांख्यतत्वकौमुदी-कारिका पृ० ९

२. अद्वैत ब्रह्मसिद्धि।

३. ब्रह्मसूत्र, पृ० २।१।१४

४. ब्रह्मसूत्रभाष्य भामती, पृ० २।१।१४

का निषेध है। इसका तात्पर्य यही है कि कारण की सत्ता के विना कार्य की सत्ता नहीं है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इसकी व्याख्या में शंकराचार्य ने कहा है कि श्रुति में इसका तात्पर्य कारण ब्रह्म से है। कारण ब्रह्म ही है, क्योंकि वह त्रिकालाबाधित है। अन्य नामरूपमय कार्य सत्य नहीं है—'नतुवस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति। नामधेयमात्रं ह्येतदनृतम्'[1]। इसी विवर्तवाद की व्याख्या में आचार्य शंकार ने आगे और कहा है घटाकाश जिस प्रकार महाकाश से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार विश्व प्रपंच भी अपरिणामी उपादान से भिन्न कुछ नहीं है। परिवर्तनशील वस्तुओं को नित्य नहीं कहा जा सकता। जो नित्य है वह त्रिकालाबाध्य है। जिसका बाध होता है वह असत्य देखा गया है, जैसे रस्सी में सर्प। प्रकाश की सहायता से देखने पर रस्सी में मिथ्या सर्प नहीं दीखता, उसी प्रकार ज्ञानालोक के सहयोग से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्रपंच नहीं दिखाई देता है। अतएव बाधित होने से प्रपंच मिथ्या है। सांख्यदर्शन का यह सिद्धान्त कि कार्य कारण के समान सत् है, असंगत है। इसी प्रकार असत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त कि कार्य घटादि कारण से भिन्न नवीन उत्पन्न होता है, असंगत है। क्योंकि कारण की सत्ता से भिन्न कार्य की वस्तुतः सत्ता नहीं है। परन्तु अद्वैतवाद में कार्य आकाशकुसुमादि के समान अलीक भी नहीं है। क्योंकि अलीक की कभी प्रतीति नहीं होती, विश्व प्रपंच बन्ध्यापुत्र के समान अलीक नहीं है। कार्य को अद्वैतवाद में मिथ्या, अतएव अनिर्वाच्य कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने प्रपंच की असत्यता में अनुमान प्रस्तुत किया है—'जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही विलय देखा जाता है, वे सत्य नहीं हैं, जैसे मृगतृष्णा का जल, इसी प्रकार समस्त प्रपंच भी अवस्तु है। जो सत् वस्तु है, वह चिरकाल से सद्रूप है, जैसे चिदात्मा।'[2] चिदात्मा सर्वदा सर्वस्थानों में विराजमान है, अतः वह व्यापक है। अनुस्यूत है। जागतिक वस्तुएं सर्वदा सर्वस्थानों में नहीं रहतीं। इसीलिए वे असत्य और अपूर्ण हैं। इस प्रकार यह देखा गया कि सत्य-मिथ्या आलोक-अन्धकार के समान विपरीत हैं। दोनों में अभेद सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसलिए अद्वैतवादियों ने कार्य को कारण से अस्वतन्त्र माना है।

विवर्तवाद में यह आक्षेप भी समीचीन नहीं है कि विवर्तवाद के अनुसार संसार अलीक है। क्योंकि अद्वैतवादी मिथ्या का अर्थ अलीक नहीं करते। उनके अनुसार परिणामी वस्तुएं मिथ्या हैं। सांख्य जिसे परिणामी नित्य कहता है, न्याय जिसे उत्पन्न द्रव्य कहकर अनित्य कहता है, उसी को वेदान्ती 'मिथ्या' या 'अनिर्वाच्य' कहते हैं। व्यावहारिक सत्ता अद्वैत मत में भी मान्य है। परमार्थतः प्रपंच की सत्ता ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्र० सू० २।२।२८), 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्र० सू० २।२।२९), इन सूत्रों से विज्ञानवादी बौद्धमत के खण्डन में प्रपंच के अभाव और स्वप्नादि के समान मिथ्या होने का खण्डन किया गया है। आचार्य शंकर ने कहा है कि विश्व प्रपंच स्वप्नगजादि के समान सामयिक और व्यक्तिगत नहीं है। ब्रह्मज्ञान के उदयपर्यन्त प्रपंच की

---

१. ब्र० सू० शां० भा०—२।१।१४

२. ये हि दृष्टनष्टस्वरूपा न ते वस्तुसन्तो यथा मृगतृष्णिकोदकादयः, तथा च सर्वं विकारजातम्, तस्मादवस्तुसत्। भाष्यभामती—२। १। १४

प्रतीति का निवारण नहीं किया जा सकता।[1]

इस प्रकार आचार्य शंकर वस्तुवादी दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत वस्तुओं को मिथ्या कहते हैं। अर्थात् सांख्य जिसे जड़ कहते हैं, अद्वैतवादी उन वस्तुओं को परमार्थतः मिथ्या कहते हैं और ब्रह्म का विवर्त मानते हैं।

ऊपर की विचारप्रक्रिया में ब्रह्म को विवर्तोपादान और माया को परिणामी उपादान कारण बतलाया गया है। विवर्तोपादानकारण ब्रह्म ही मायोपहित होकर निमित्त कारण बनता है। 'यतो वा इमानि, मायिनं तु महेश्वरम्, तदैक्षत, एकाकी न रमेत, एकोऽहं बहु स्याम', इत्यादि वचनों से ब्रह्म ही उपादान और निमित्त दोनों सिद्ध होता है। अतएव अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म को अभिन्न-निमित्तोपादान कहा है। विवर्तवाद में भी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर का स्थान है। यह ईश्वर मायोपहित है, यह पहले ही कहा जा चुका है। मायोपहित अतएव मायाधीश ईश्वर ही सृष्टिकर्ता बन सकता है। विशुद्ध चैतन्य में कर्तृत्वादि धर्म नहीं माने गए हैं। शुद्ध ब्रह्म में किसी प्रकार के शुभ-अशुभ गुण सम्भव नहीं हैं।

परन्तु प्रश्न हो सकता है कि जब अद्वैत मत में एकमात्र ब्रह्म ही सत् वस्तु है, नानात्व कुछ भी नहीं है तब जीवेश्वर-विभाग और जगत्-सृष्टि कहाँ से आ गई? इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्तियों का कथन है कि हम व्यावहारिक भेद का निषेध नहीं करते। प्रातीतिक संसार है। इसी को वेदान्त में अध्यारोपापवाद कहते हैं। 'अध्यारोपवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'—वस्तुतः ब्रह्म निष्प्रपंच है, फिर भी प्रपंच की प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव व्यवहार दशा में ईश्वर भी है। प्रपंच भी है। इस पर यह पूछा जा सकता है कि क्या ब्रह्म का ईश्वरभाव भी प्रपंच के अन्तर्गत आने के कारण मिथ्या है? इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि जिस प्रकार जीव के लिए 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहा गया है, उसी प्रकार ईश्वर भी ब्रह्म ही है। इस अर्थ में ईश्वर में मिथ्यात्व नहीं आता। वेदान्त के कुछ आचार्य ईश्वर को बिम्ब न मानकर जीव के ही समान प्रतिबिम्ब मानते हैं। इस मत में जिस प्रकार अन्तःकरण प्रतिबिम्ब जीव है, उसी प्रकार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। अन्तःकरण उपाधि को छोड़कर विशुद्ध चैतन्यांश ही 'तत्वमसि' आदि वाक्यों का लक्ष्यार्थ है। अतः अन्तःकरण उपाधि मिथ्या है। चैतन्यांश सत्य है। उसी प्रकार ईश्वर में भी दो अंश हैं—अविद्यांश और चैतन्यांश। अविद्यांश उपाधि है, वह मिथ्या है। चैतन्यांश ब्रह्म है, वह सत्य है। इसी प्रकार प्रपंच घटादि में भी 'घटोऽस्ति, पटोऽस्ति' इत्यादि अस्तिबोधक सत्ता चैतन्य की सत्ता है। घट-पटादि उपाधि होने के कारण मिथ्या हैं। अस्तिबोधक सत्ता ब्रह्म की है, वह सर्वत्र समान होने के कारण सत्य है।

उपरोक्त प्रक्रिया में ब्रह्म का ईश्वरभाव वैसे ही प्रातीतक है जैसे ब्रह्म का जीव-

---

१. नखल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यावसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः, कुड्यं, घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्याभावो भवितुमर्हति। ब्र० सू० शां० भा०-२।२।२८

भाव और प्रपचभाव। जो आचार्य ईश्वर को प्रतिबिम्ब न मानकर विम्ब मानते हैं, उनके अनुसार ईश्वर ब्रह्म ही है। उनके मत में जिस प्रकार एक व्यक्ति अध्यापक भी है, और अपने पिता के लिए पुत्र भी तथा बहिन के लिए भाई भी। व्यक्ति में पुत्रत्वादि धर्म वस्तुत: व्यक्तित्व का विभाजक नहीं होते है। पुत्रत्वादि धर्म सापेक्ष धर्म हैं, व्यक्ति तो विशुद्ध एक है, पुत्रत्वादि धर्मों के नष्ट हो जाने पर भी व्यक्ति स्वयं अस्तित्ववान् रहता है, उसी प्रकार एक ही विशुद्ध ब्रह्म ईश्वरत्वादि भावों से सम्पन्न होता हुआ भी ब्रह्म ही रहता है। वह सदा एकरूप रहता है। इस मत में वास्तविक अर्थ में चैतन्य के एक होने के कारण ईश्वर भी सत्य है और जीव भी सत्य है। इस अर्थ में वेदान्तियों ने न्याय-वैशेषिक के निमित्तकारण ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है। सांख्य की प्रकृति भी सृष्टि करने में असमर्थ है, क्योंकि सांख्य की प्रकृति जड़ है। श्रुति में ईक्षणापूर्वक सृष्टि का कथन है। सूत्रकार ने इस प्रकार की प्रकृति के सृष्टिकर्तृत्व में श्रुतिप्रमाण न होने कारण खण्डन किया है।[1] लोक में भी कुम्भकारादि निमित्त कारणों को ज्ञानवान् देखा जाता है। इसलिए सांख्य की प्रकृति से सृष्टि की व्याख्या नहीं हो सकती। इसी प्रकार वैशेषिक के परमाणु भी परस्पर आकर्षण और विकर्षण से संयुक्त होकर स्वत: ही सृष्टि करने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे परमाणु जड़ हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य द्वितीय अध्याय में परमाणुकारणवाद के खण्डन में कहा है—यदि परमाणुओं का स्वभाव आकर्षण है, तब तो सर्वदा सृष्टि होगी, प्रलय कभी नहीं होगी और यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण है तब सर्वदा सृष्टि का अभाव होगा, सृष्टि कभी न होगी।[2] परमाणु अति क्षुद्रतम हैं, उनमें आकर्षण-विकर्षण रूपी दो क्रियाओं को मानने पर उनका परमाणुत्व व्याहत हो जाएगा। आकर्षण और विकर्षण दोनों विरुद्ध धर्म हैं, अतएव सरल परमाणु में दो विरुद्ध धर्म सम्भव नहीं हैं।[3] यदि परमाणुओं के आकर्षण-विकर्षण धर्म आगन्तुक हैं, तो पूछा जा सकता है कि आगन्तुक धर्म का निमित्त क्या है? कर्म या ईश्वर? कर्म जड़ है, उसको चालित करने के लिए ईश्वर को निमित्त मानना पड़ेगा। ईश्वर निमित्तक यह सृष्टि श्रुति से भी प्रमाणित है—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ···।' वृहदारण्यक, अक्षर ब्राह्मण। वेदवचन भी है—'द्यावा भूमी जनयन् देव एक:···'। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार सर्वत्र सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण है। अरिस्टोटल ने इसी प्रकार के निमित्त कारण ईश्वर का वर्णन किया है।[4]

अब प्रश्न यह रह जाता है कि जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर जगत्कारण है या जीवकर्मनिरपेक्ष? जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर को जगत्कारण मानने पर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और दयालुता का व्याघात होता है। अत: सापेक्ष ईश्वर तो पराधीन ईश्वर हुआ। परा-

---

१. ईक्षतेर्नाशब्दम्, ब्र० सू० १।१।५, रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्, २।२।१

२. उभयथाऽपिन कर्मातस्तदभाव:, २।२।१२ ब्र० सू०। वही-नित्यमेवच भावात्, पृ० २।२।१४

३. वही।

४. अरिस्टोटल ने ईश्वर को Prime Mover कहा है।

धीन ईश्वर में ईश्वरत्व हो ही नहीं सकता। इसलिए जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर को निमित्त माना जाय। यह मत नकुलीश-पाशुपत मतसमर्थित है।[1] यह अतिप्राचीन ईश्वरवाद है।

महर्षि गौतम ने 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' न्यायदर्शन— ४।१।१९। इस सूत्र में कर्मनिरपेक्ष ईश्वरवाद का खण्डन और कर्मसापेक्ष ईश्वरवाद का समर्थन किया है। जैमिनी ने ईश्वर को निमित्त कारण नहीं स्वीकार किया है। इस मत का खण्डन वादरायण ने ब्रह्म सूत्र में किया है।[2] पतंजलि ने प्रकृति को मानते हुए भी परमेश्वर को माना है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर को निमित्त कारण मान लेने पर सृष्टि के वैषम्यादि के प्रति ईश्वर उत्तरदायी नहीं ठहरता। क्योंकि जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही धनी-गरीब, विद्वान्-मूर्खादि बनते हैं। ईश्वर किसी के ऊपर पापपुण्यादि नहीं लादते। आदिसृष्टि में किसके कर्म के अनुसार परमेश्वर ने सृष्टि की थी? यह प्रश्न वेदान्त के अनुसार अनुपपन्न है, क्योंकि जीव और जीवकर्म वेदान्त के अनुसार अनादि हैं।

जगत्-सृष्टि— अद्वैतवेदान्त के अनुसार जगत्-सृष्टि सत्स्वरूप ब्रह्म में आरोपित है। इसी को वेदान्तीगण अध्यारोप कहते हैं। अध्यारोपवादन्याय से सृष्टि की व्याख्या दी जाती है। अध्यारोप का कारण अज्ञान है, यह कहा जा चुका है। अज्ञान की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं, यह भी कहा जा चुका है। ब्रह्मविषयक आवरण शक्ति से मेघ से सूर्य के प्रकाश के समान ब्रह्म का स्वरूप आवृत हो जाता है। फिर तमोगुण प्रधान अज्ञान की विक्षेपशक्ति के कारण तदुपहित चैतन्य से सर्वप्रथम सूक्ष्म अपंचीकृत आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, एवं जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है।[3] इन आकाशादि सूक्ष्म भूतों को पंचतन्मात्रायें भी कहते हैं। सूक्ष्म आकाश आदि में वर्तमान प्रत्येक के सत्व गुणांश से पृथक्-पृथक् रूप से पंच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—आकाश तन्मात्रा के सात्विकांश से श्रोत्र, वायुतन्मात्रा के सात्विकांश से त्वक्, तेजतन्मात्रा के सात्विकांश से चक्षु, जलतन्मात्रा के सात्विकांश से जिह्वा और पृथ्वीतन्मात्रा के सात्विकांश से घ्राण उत्पन्न होता है। उक्त आकाशादि सूक्ष्मभूतों में रहने वाले सत्वगुण के सम्मिलित अंशों से बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार उत्पन्न होते हैं। इन चारों को अन्तःकरण कहते हैं। पूर्वोक्त पंचज्ञानेद्रियां एवं चार अन्तःकरण विषयप्रकाशक हैं, इसीलिए इनको सत्वगुण का कार्य कहा गया है। अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति को मन कहा गया है। इन्हीं दो वृत्तियों में चित्त और अहंकार का भी अर्न्तभाव हो जाता है। बुद्धि में चित्त का और मन में अहंकार का अर्न्तभाव हो जाता है। वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ--ये पंच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये आकाशदि सूक्ष्म भूतों के रजोगुणांशों से क्रमशः उत्पन्न होती हैं। आकाश के रजोगुणांश से वाक्, वायु के रजोगुणांश से हस्त, अग्नि के

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, नकुलीश, पाशुपतदर्शन।

२. सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। ब्र० सू० ३।२।४०

३. तस्मादेतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः···इत्यादि, तैत्तिरीय २।१

रजोगुणांश से पाद, जल के रजोगुणांश से वायु और पृथ्वी के रजोगुणांश से उपस्थ उत्पन्न होता है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पंच प्राण हैं। आकाशादि सूक्ष्म भूतों के सम्मिलित रजोगुणांशों से प्राणादि उत्पन्न होते हैं। नासिका के अग्रभाग में रहने वाले वायु का नाम प्राण है। नीचे की ओर वहने वाले वायु को अपान, समग्र शरीर में बहने वाले वायु को व्यान, ऊपर की ओर उत्क्रमण करने वाले वायु को उदान एवं खाये हुए अन्न-पानादि को व्यवस्थित करनेवाले वायु को समान कहते हैं। मन, बुद्धि, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा पंच प्राण—इनको मिलाकर १७ तत्वोंवाला सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

स्थूल शरीर पंचीकृतभूतों से उत्पन्न होता है। सूक्ष्म पंचभूत शुद्धभूत होते हैं, परन्तु स्थूल पंचभूत परस्पर मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। इस मिश्रण प्रक्रिया को वेदान्तीगण पंचीकरणप्रक्रिया कहते हैं। पंचदशी में पंचीकरण की व्याख्या करते हुए विद्यारण्य स्वामी ने कहा है—प्रत्येक भूत को दो-दो भागों में विभक्त करके, पुनः प्रथम भाग को चार भागों में विभक्त करके अपने-अपने से भिन्न चार भूतों के दूसरे भागों में मिला देने से वे आकाशादि पंच सूक्ष्मभूत पंचात्मक अर्थात् पंचीकृत हो जाते हैं।[1] पंचीकरण हो जाने पर प्रत्येक स्थूल भूत का स्वरूप इस प्रकार होगा—अपंचीकृत सूक्ष्म आकाश तन्मात्रा को दो भागों में विभक्त करके १/२ आकाश + १/८ वायु + १/८ अग्नि + १/८ जल + १/८ पृथ्वी—स्थूल आकाश। इसी प्रकार वायुतन्मात्रा १/२ + आकाश १/८ + अग्नि १/८ + जल १/८ + पृथ्वी १/८— स्थूल वायु। अग्नितन्मात्रा १/२ + आकाश १/८ + वायु १/८ + जल १/८ + पृथ्वी १/८—स्थूल अग्नि। जलतन्मात्रा १/२ + आकाश १/८ + वायु १/८ + अग्नि १/८ + पृथ्वी १/८—स्थूल जल। पृथ्वी १/२ + आकाश १/८ + वायु १/८ + अग्नि १/८ + जल १/८—स्थूल पृथ्वी। ये ही पंचीकृत स्थूलपंच महाभूत हैं। स्थूलभूतों में अन्य भूतों के अंश रहने पर भी १/२ स्वयं के भाग होने के कारण अर्थात् अपना भाग अधिक होने के कारण आकाश आदि को तत्तत् भूतों के नाम से कहा जाता है। शब्द-स्पर्शादि भी इन भूतों में स्पष्टरूप से अभिव्यक्त होते हैं। आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस और पृथिवी में गन्ध की अभिव्यक्ति होती है। इन पंचीकृत भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्यम्—ये ऊपर के सप्त लोक उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार नीचे की ओर स्थित अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल नामक लोक भी इन्हीं भूतों से उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त नामोंवाले चतुर्दशलोकों वाला यह ब्रह्माण्ड है। इसी में चार प्रकार के स्थूल शरीर भी उत्पन्न होते हैं। इन चार प्रकार के शरीरों को १. जरायुज २. अण्डज ३. उद्भिज ४. स्वेदज कहते हैं। मनुष्य का शरीर जरायुज होता है। पक्षी आदि का शरीर अण्डज होता है। वृक्षादि उद्भिज तथा यूकादि स्वेदज हैं। हमारा यह शरीर स्थूल भूतों से बना स्थूल शरीर है। इसे अन्नमय कोश कहते हैं, क्योंकि यह अन्न पर निर्भर करता है। अथवा स्थूलभूतों पर निर्भर करने के कारण भी इसे अन्नमय कोश कहा जाता है। अवस्था की

---

१. द्विधा विधाय चैकैकं चर्तुधा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पंच पंच ते ॥ पंचदशी १।२७

दृष्टि से यह जाग्रदवस्था है। पंच प्राण और पंच कर्मेन्द्रियों को मिलाकर प्राणमयकोश बनता है। यह क्रियाशक्तिमान् कोश है। पंचज्ञानेन्द्रियों के साथ मन को मिलाने से मनोमयकोश बनता है। यह इच्छाशक्तिमान् कोश है। पंच ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि को मिलाने से विज्ञानमयकोश होता है। यह ज्ञानशक्तिमानकोश है। तुरीय अवस्थावाला कारण शरीर को आनन्द प्रचुरता के कारण आनन्दमयकोश कहा जाता है। यह सुषुप्ति अवस्था है। यह स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचों का लय स्थान है।[1] विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय कोशों को अवस्था की दृष्टि से स्वप्नावस्था कहते हैं।

इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में अध्यारोप द्वारा ब्रह्म में अविद्योपादानक सृष्टि की व्याख्या दी जाती है। अपवाद द्वारा सृष्टिविलय की व्याख्या दी जाती है। वह इस प्रकार है—चर्तुदश भुवनोंवाला ब्रह्माण्ड चारों प्रकार शरीरों सहित स्थूलपंचभूतों में विलीन हो जाता है। पंच महाभूत भी सूक्ष्मतन्नमात्राओं के रूप में रह जाते हैं। मन-बुद्धि, कर्मेन्द्रियाँ एवं पंचप्राण तथा ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने उपादानों में लय को प्राप्त हो जाती हैं। अन्त में पंचतन्मात्राएँ भी अज्ञान की विक्षेपशक्ति में विलीन हो जाती हैं। ब्रह्म-विषयकज्ञान से शक्तिद्वयसमन्वित अविद्या का भी विलय हो जाता है, क्योंकि अविद्या को ज्ञानबाध्य कहा गया है।[2] अविद्या और अविद्याकार्य प्रपंच के विलय से एकमात्र अद्वितीय सद् ब्रह्म ही शेष रह जाता है, वही तुरीय शिव और अद्वैत है।

जगत्-मिथ्यात्व—अद्वैतवेदान्त में जगत् को मिथ्या कहा गया है। अद्वैत आचार्य न्याय मकरन्दकार आनन्द भट्टारक ने मिथ्यात्वसिद्धि के लिए अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'शुक्तिरजत के समान प्रपंच मिथ्या है, क्योंकि प्रपंच दृश्य, जड़ और परिच्छिन्न है'। इस अनुमान में संशय का विषय प्रपंच पक्ष है, मिथ्यात्व साध्य है और दृश्यत्वादि हेतु हैं तथा शुक्तिरजत उदाहरण है। शंकर के परवर्ती आचार्यों ने विशेषकर आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने मिथ्यासिद्धि के लिए विस्तृत विचार किया है। शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्ती यह स्वीकार करते हैं कि मिथ्यात्वलक्षण का प्रस्ताव आचार्य शंकर ने ही अध्यासभाष्य में किया है। 'अध्यासो मिथ्या भवितुं युक्तम्'[3] आचार्य के इस वचन को आधार मानकर पद्मपादाचार्य ने पंचपादिका में कहा है—सदसद्विलक्षणत्व ही मिथ्यात्व है।[4] जो वस्तु सत् असत् और सदसद्रूप से निरूपण करने योग्य नहीं होती, वही अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय मिथ्या है। पद्मपादाचार्य ने मिथ्यात्व के निरूपण में यही शैली अपनायी है।

प्रतिवादी द्वैतवेदान्तियों ने इस पर आपत्ति उठाई है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जो सत्व, असत्व दोनों का अधिकरण न हो। इसलिए साध्य की अप्रसिद्धि के कारण लोकव्यवहार में पूर्वोक्त लक्षण संगत नहीं होगा। इस प्रसंग में अद्वैतवादियों का यह कहना है कि जो सत् नहीं होता, वह असत् ही होता है—ऐसा नियम नहीं है। सदसद्विलक्षण वस्तु भी होती है। सत्व और असत्व दोनों का अधिकरण न हो, ऐसी वस्तु भी होती है।

---

१. माण्डूक्योपनिषद्, १
२. अद्वैतसिद्धि, पृ० १६०
३. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य भूमिका, पृ० १५
४. पंचपादिका, पृ० ८८

एक ही धर्मी में उक्त दोनों धर्मों का अभाव हो सकता है। इसके लिए अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है—'सत्व और असत्व दोनों एक धर्मी में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हो सकते हैं, क्योंकि वे धर्म हैं जैसे रूप और रस'। रूप और रस दोनों अग्नि और जल के धर्म हैं, दोनों का अभाव वायु में है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रतिवादी के अनुसार सत्व और असत्व दोनों धर्म एक दूसरे के विरोधी हैं। उनके अनुसार सत्व के अभाव से असत्व और असत्व के अभाव से सत्व की उपस्थिति निश्चित है। अद्वैतवादी का कहना है कि उक्त दोनों धर्मों के अभाव की भी स्थिति सम्भव है। उनके अनुसार जो तीनों कालों में बाधित न हो, वह सत् है और ऐसा सत् एक मात्र ब्रह्म ही है। इसी प्रकार जो तीनों कालों में अर्थात् कभी भी प्रतीति का विषय न हो, उसे असत् कहते हैं। जैसे बन्ध्या पुत्र की प्रतीति कभी भी सम्भव नहीं है। 'यह बन्ध्यापुत्र जा रहा है', इस प्रकार की प्रतीति किसी भी काल में किसी को नहीं होती। किन्तु मिथ्या की प्रतीति होती है। फिर भी वह अबाध्य नहीं है, शुक्ति-रजत मिथ्या है, उसकी प्रतीति भी होती है और वह बाध्य भी है, अतः वह मिथ्या है। यह सत्व-असत्व से विलक्षण कोटि है। इसी प्रकार प्रपंच के विषय में समझना चाहिए। अद्वैतवेदान्त के अनुसार यह संसार मुक्ति पर्यन्त है, क्योंकि ज्ञान होने तक इसकी स्थिति का निराकरण नहीं किया जा सकता। ब्रह्म-ज्ञान होने पर इसका बाध होना निश्चित है, अतः यह मिथ्या है। पंचपादिका के इस मिथ्यात्वलक्षण में द्वैतवादियों ने दोष प्रदर्शित किये हैं। उनका कहना है कि मिथ्यात्व के इस लक्षण में सदसत्व से विलक्षणरूपसाध्य की प्रसिद्धि नहीं है, इसलिए यहाँ पर साध्याप्रसिद्ध दोष है। इसके उत्तर में विवरणकार प्रकाशात्मयति ने मिथ्यात्व का एक अन्य लक्षण प्रस्तुत किया है। इस लक्षण में उन्होंने 'प्रतिपन्न उपाधि में त्रैकालिक निषेध अथवा अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व' को ही मिथ्या कहा है।[1] इस लक्षण को साररूप में चित्सुखाचार्य ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'सर्वेषामेव भावानां स्वाश्रय-त्वेन सन्मते। प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता'।[2] इसका अभिप्राय यह है कि जब आश्रय वस्तु में ही आश्रित वस्तु का अत्यन्ताभाव उपलब्ध हो, तो वह आश्रित वस्तु मिथ्या होती है। त्रैकालिक निषेध अत्यन्त अभाव को कहा जाता है। मिथ्या वस्तु का आश्रय अवश्य होता है। अद्वैत में निराश्रय भ्रम नहीं माना गया है, इसीलिए लक्षण में आश्रय पद दिया गया है। असत् वस्तु का आश्रय नहीं होता, क्योंकि असत् तो अभाव का ही नाम है। अतः मिथ्यात्व की अतिव्याप्ति आकाशकुसुमादि में नहीं होती। प्रपंच भ्रम भी अद्वैत मत में सद्ब्रह्म में ही होता है, क्योंकि प्रपंच भी ब्रह्मसत्ता द्वारा अनुप्राणित है। सद्वस्तु ब्रह्म ही समस्त विश्व का अधिष्ठान है। सद्ब्रह्म भी कभी आश्रित नहीं होता, इसलिए ब्रह्म में भी लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। यहाँ पर प्रतिपत्ति न भ्रमरूप है और न प्रमारूप है, अपितु भ्रम-प्रमा साधारणरूप है। अतः प्रतिपन्न शब्द से प्रतीति का विषय लिया गया है।

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ९४
२. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ३९

यहाँ पर प्रतिपक्षी का आक्षेप है कि त्रैकालिक निषेध का स्वरूप क्या है? वह तात्विक है या अतात्विक ? तात्विक मानने पर अद्वैतसिद्धान्तभंग होगा और अतात्विक मानने पर सिद्धसाधनदोष होगा। अतात्विक निषेध से निषेधप्रतियोगी सत्य हो जायेगा। उक्त निषेध को व्यावहारिक मानने पर अद्वैतश्रुतियां अप्रामाणिक हो जायेंगी।[1] 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतियाँ यदि व्यावहारिक मिथ्या निषेध का प्रतिपादन करती हैं तो निश्चितरूप से उनमें अप्रामाणिकत्व आयेगा। अद्वैतवादितों ने इसका जो उत्तर दिया है वह ध्यान देने योग्य है। उनका कहना है कि त्रैकालिक निषेध या अत्यन्ताभाव को सत्य भी स्वीकार कर लिया जाय तब भी लक्षण में असंगति नहीं है, क्योंकि प्रपंचनिषेध का अधिकरण अर्थात् अधिष्ठान ब्रह्म ही है। इसलिए प्रपंच निषेध भी ब्रह्मस्वरूप ही है। ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं। अतः अद्वैतसिद्धान्तभंग होने का प्रश्न नहीं उठता। अद्वैतसिद्धि में स्पष्ट ही कहा है—'प्रपंचनिषेधाधिकरणीभूत्रतह्माभिन्नत्वान्निषेधस्य तात्विकत्वेऽपि नाद्वैतहानिकरत्वम्, नत्वतात्विकाभावप्रतियोगिनः प्रपंचस्य तात्विकत्वापत्तिस्तात्विकाभावप्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते व्यभिचारात्'।[2] निषेध को व्यावहारिक मानने पर अद्वैतसिद्धि में कोई बाधा नहीं है। निषेध के मिथ्या होने पर उसके प्रतियोगी घटादि पुनः सत्य नहीं हो जाते। निषेध के निषेध करने पर प्रतियोगिसत्व की स्थापना मात्र उन स्थलों में होती है जहाँ पर निषेध-बुद्धि द्वारा निषेध के प्रतियोगिसत्व को व्यवस्थापित किया जाता है, उदाहरणार्थ-पहले रजत का निषेध करके पुनः 'यह अरजत नहीं है' इस ज्ञान द्वारा रजत की सिद्धि की जाय, ऐसे स्थलों में प्रतियोगिसत्व की स्थापना होती है। जहाँ फर प्रतियोगी और निषेध दोनों का ही निषेध किया जाता है, वहाँ प्रतियोगी की सत्ता पुनः सिद्ध नहीं हो सकती।[3] उदाहरणार्थ—जैसे घट के ध्वंस होने पर घट का प्रागभाव और अभावप्रतियोगी घट दोनों का ही निषेध हो जाता है। प्रकृत प्रसंग में भी ब्रह्मज्ञान के द्वारा निषेधप्रतियोगी प्रपंच और प्रप्रंच-निषेध भी बाधित हो जाते हैं। अतएव निषेध के बाध हो जाने पर भी प्रपंच सत्य नहीं होता। दृश्यत्वादि धर्म निषेध और प्रपंच दोनों में समानरूप से हैं, अतः प्रपंच और प्रपंच-निषेध दोनों ही मिथ्या हैं।

नैयायिक अन्यथाख्यातिवादी हैं। उनके मत में भ्रमस्थलीय वस्तुप्रत्यक्ष में ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष माना जाता है। अतः शुक्तिरजत भ्रम में भी आपणस्थ रजत ही प्रतिभात होता है। ऐसी स्थिति में शुक्ति अधिकरण में रजत का त्रैकालिक अभाव सिद्ध ही है, अतः न्याय के अनुसार मिथ्यात्वलक्षण में सिद्धसाधन है। माध्व मत के अनुसार भी यही आक्षेप है। अद्वैतियों का उत्तर है कि अद्वैत मत में सिद्धसाधनतादोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि जिस अधिकरण में जिसका अत्यन्ताभाव है, उसी अधिकरण में उसका होना ही मिथ्यात्व है। इसीलिए धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में मिथ्यात्वलक्षण

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ९४-९५
२. वही, पृ० ९६-९९
३. वही, पृ० १०५

में 'यावत्' पद का सन्निवेश किया है।[1] जिस सम्बन्ध से जो जिसका अधिकरण है उसी सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व समझना चाहिए। 'यावत्' से सम्पूर्ण अधिकरण-निष्ठत्यन्ताभाव प्रतियोगी होना चाहिए। इससे अर्थान्तरता का भी निराकरण हो जाता है।

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने मिथ्यात्व का एक दूसरा लक्षण भी प्रस्तुत किया है—'ज्ञाननिर्वत्यत्वं वा मिथ्यात्वम्'[2] ज्ञान से जिसका बाध हो जाय, वही मिथ्या है। इस लक्षण में उत्तरज्ञाननाश्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब घटज्ञान के बाद पटज्ञान द्वारा घट ज्ञान का नाश होता है, तब वहाँ पर आत्मविशेष-गुणत्वेन उत्तर ज्ञान से पूर्वज्ञान का नाश होता है। ज्ञानत्वेन उत्तर ज्ञान पूर्वज्ञान का नाश नहीं करता। मिथ्यात्वलक्षण में ज्ञानत्वेन ज्ञाननिर्वत्यत्व अपेक्षित है। लक्षण में निवृत्ति से स्थल-सूक्ष्म दोनों कार्यों की निवृत्ति समझना चाहिए। आत्यन्तिक निवृत्ति को ही बाध कहते हैं। अद्वैतसिद्धि में जहां ज्ञाननिर्वत्यर्त्व की व्याख्या की गयी है, उसी प्रसंग में ज्ञान शब्द का अर्थ अधिष्ठानतत्वसाक्षात्कार किया गया है।[3] इस प्रकार ज्ञान से स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार प्रपंचों का बाध हो जाता है, क्योंकि दोनों ही अज्ञानमूलक हैं, और ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। वस्तु की स्थिति दो प्रकारों से होती है—कार्यरूप से और कारणरूप से।[4] व्यक्त कार्य का विनाश होने पर भी वह सूक्ष्मरूप से उपादान में विद्यमान् रहता है। निवृत्ति से यहाँ पर कारण और कार्य दोनों की निवृत्ति समझना है। दण्ड-प्रहार से घट का विनाश करने पर घट का समूल नाश नहीं होता। वह अपने उपादान में विद्यमान रहता है। घट का भी समूल बाध ब्रह्मसाक्षत्काररूप ज्ञान से ही सम्भव है। अतएव दण्डप्रहार से घट की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। इसीलिए मिथ्यात्वलक्षण की यहाँ पर भी अव्याप्ति नहीं है। जब पूर्वज्ञान की उत्तरज्ञान द्वारा निवृत्ति होती है; तब भी पूर्वज्ञान संस्काररूप में आत्मा में रहता है। अतः समूल नाश न होने के कारण उसमें अतिव्याप्ति नहीं है। आकाशकुसुमादि में भी अतिव्याप्ति नहीं, क्योंकि अलीक पदार्थ का ज्ञान नहीं माना गया। ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या और अविद्या कार्य दोनों का ही बाध हो जाता है। मूलभूत अविद्या शुक्ति और रजत दोनों का ही उपादान है। अविद्या के बाध होने पर व्यावहारिक शुक्ति और प्रातिभासिक रजत दोनों का बाध हो जाता है।[5] 'अतः अधिष्ठानतत्वसाक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिर्वत्यत्व' को ही मिथ्यात्व कहना चाहिए। सर्वाधिष्ठानब्रह्मसाक्षात्कार से सबका मिथ्यात्व सिद्ध होता है। सद्ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ही सभी वस्तुएँ सत्य प्रतीत होने लगती हैं।

श्री चित्सुखाचार्य ने 'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभाप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व' कहा

---

१. वेदान्तपरिभाषा, पृ० ९४-९५
२. अद्वैतसिद्धि, पृ० १६०
३. वही पृ०, १७८
४. वही, पृ० १६०-१६१
५. वही, पृ० १६३-१६४

है।[1] उनका भी अभिप्राय यही है कि मिथ्या वस्तु अपने अधिकरण में ही प्रतीत होती है। आनन्दबोध भट्टारक आचार्य ने न्यायमकरन्द नामक ग्रन्थ में मिथ्यात्व का एक अन्य लक्षण प्रस्तुत किया है 'सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्'[2] सद् से जो भिन्न हो वही मिथ्या है। नैयायिकों का कहना है कि जो सत्ताजाति से विशिष्ट है वही सत् है, । ब्रह्म निर्धर्मक है, अतः उसमें सत्ताजाति सम्भव नहीं है। अतः सत्ताभाव के कारण ब्रह्म सत् सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यात्वलक्षण की ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि जो सत्ताजातिविशिष्ट हो वही सद् है, यह नैयायिकों का नियम संगत नहीं है। अद्वैत के अनुसार जाति की सत्ता नहीं है। अतः सत्ताजातिविशिष्ट सत् का लक्षण नहीं हो सकता। स्वयं न्याय के मत में सत्ताजाति सत्ताशून्य है, यदि सत्ता की भी जाति मानी जाय तो अनवस्था हो जायेगी, इसीलिए वे सत्ता को स्वरूप से सत्ता मानते हैं। अद्वैती का कहना है यदि सत्ताशून्य होकर सत्ताजाति सत्य हो सकती है तो सत्ताशून्यनिर्धर्मक ब्रह्म को सत्य स्वीकार करने में क्या हानि है? अतः मिथ्यात्वलक्षण में अतिव्याप्ति नहीं है। आकाश-कुसुमादि अलीकवस्तुओं में अतिव्याप्ति रोकने के लिए लक्षण में सद्विविक्तत्व हो और सद्रूप से प्रतीतियोग्य हो, उसे मिथ्या कहा है।

वस्तुसिद्धि के लिए लक्षण और प्रमाण दोनों की आवश्यकता होती है। लक्षणों द्वारा प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि की जा चुकी है। अब प्रमाणों से मिथ्यात्वसिद्धि की जाती है। अद्वैतवेदान्ती प्रपंचमिथ्यात्वसिद्धि के लिए श्रुत्यनुकूल अनुमानों को भी प्रस्तुत करते हैं। चित्सुखाचार्य ने मिथ्यात्वानुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'यह पट इसी पट के तन्तुओं में रहने वाले अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि पट दृश्य है, उदाहरणार्थ जैसे घट'।[3] इस अनुमान के द्वारा अपने ही तन्तुओं में पट का अभाव सिद्ध किया गया है। इसलिए अपने तन्तुओं में जो पटात्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी स्वयं पट ही है।

इसको इस प्रकार समझा जाय—तन्तु ही पट नहीं है, इस अर्थ में तन्तुओं में पट का अत्यन्ताभाव सदा एवं सर्वदा रहेगा ही। इसीलिए स्वोपादान में वस्तु का अत्यन्ताभाव कहा गया है। जब स्वोपादान में वस्तु का अभाव मान लिया गया तब अन्यत्र वस्तु का अभाव तो निश्चित ही होना है। अतः सर्वत्र वस्तु का अत्यन्ताभाव सिद्ध होने से त्रैकालिक निषेध होता है। यही मिथ्यात्व है। पट में दृश्यत्व है, अतः मिथ्यात्व भी होना चाहिए। ठीक इसी प्रकार घट के उपादान कपाल या मृत्तिका में घट का अत्यन्ताभाव है। सुवर्ण में सुवर्णाभूषणों का अभाव है। पट में पक्षवृत्तिता भी है, क्योंकि उसमें दृश्यत्व है। घट में भी दृश्यत्व और पटाभावरूप साध्य भी है। जिसमें हेतु हो और साध्य भी सिद्ध हो वह दृष्टान्त बनता है। इसीलिए घट को दृष्टान्त बनाया गया है। जिसमें हेतु तो है, पर साध्य की अभी सिद्धि करनी है, उसे पक्ष बनाया जाता है। 'यह पट' पक्ष है।

---

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० १८२
२. वही, पृ० १६५
३. चित्सुखी, पृ० ४०, ४१

यों तो न्याय के मत में भी तन्तुओं में पट के अन्योन्याभाव, प्रागभाव और ध्वंसाभाव होते हैं, परन्तु यहां पर उससे भी अधिक तन्तुओं में पटात्यन्त अभाव का निरूपण किया गया है। साथ में अभाव का प्रतियोगी पट को ही सिद्ध किया गया है। अतः सिद्ध हुआ कि पट के अत्यन्ताभाव पटाधिकरण में ही है और इसलिए पट मिथ्या है।

इस अनुमान के विरुद्ध प्रतिपक्षी द्वैतवादियों ने अनेकों युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। वे कहते हैं—'विवादास्पदीभूतः प्रपंचः सत्यः, प्रमाणसिद्धत्वात्, आत्मवत्'[1]। अर्थात् विवाद का विषय यह प्रपंच सत्य है, क्योंकि यह प्रमाणसिद्ध है जैसे आत्मा। आत्मा प्रमाण-सिद्ध भी है और सत्य भी है, इसीप्रकार प्रमाणसिद्ध होने से प्रपंच भी सत्य है। इसी प्रकार द्वैतवादी भेद को भी सत्य सिद्ध करते हैं। अद्वैतवादी इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अद्वैत मत में वस्तुभेद सत्य नहीं है, अपितु मिथ्या माना गया है। मिथ्या होने पर भी अलीक नहीं है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता अद्वैत मत में भी मान्य है। घट के द्वारा जल भरकर उसे भरपेट पीकर प्यास बुझायी जाती है, अतः घट की व्यावहारिक सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। घटादि पदार्थ खपुष्पादि के समान एकान्त अलीक नहीं हैं कि उनसे व्यवहार का निर्वाह न हो सके। नितान्त असत् तो खपुष्पादि ही हैं। घटादि तो प्रतीतिक होने के कारण मिथ्या हैं। मिथ्यात्वसिद्धि के लिए त्रैकालिकनिषेध को अर्थात् अत्यन्ताभाव को सत्य मानकर भी मण्डनमिश्रादि वेदान्ती अद्वैतवाद को अक्षुण रखते हैं। उनके अनुसार अभावपदार्थ को सत्य मानने पर भी वह अधिकरण रूप है, इसीलिए अद्वैत की हानि का प्रश्न ही नहीं उठता—'द्विविधाधर्मा भावरूपा अभावरूपाश्चेति। तत्राभावरूपा धर्मा नाद्वैतं विघ्नन्ति'[2] अभावरूप धर्म अद्वैत का विघातक नहीं है।

दूसरे शांकर वेदान्ती भावाद्वैत को नहीं स्वीकार करते। उनके मत में एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। उनके मत में अभाव एक व्यावहारिक पदार्थ है, इसलिए परमार्थिक ब्रह्म के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। प्रातिभासिक रजत के साथ व्यावहारिक रजत का विरोध नहीं देखा जाता है। अतः अत्यन्ताभाव और उसका प्रतियोगी दोनों ही व्यावहारिक होने से मिथ्या हैं।

अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ में मिथ्यात्वानुमान के दृश्यत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व और अवयवित्वादि हेतुओं की भी युक्ति-तर्कों सहित व्याख्या और समीक्षा की गयी है। जागतिक पदार्थ दृश्य हैं, जड़ हैं, परिच्छिन्न हैं और अवयवी भी हैं।

यह प्रश्न उठाया गया कि अद्वैतियों द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व स्वयं मिथ्या है या सत्य ?[3] यदि मिथ्यात्व को मिथ्या कहा जाए तो प्रपंच सत्य होगा। और मिथ्यात्व को सत्य माना जाए तो दो सत्य होने के कारण द्वैतापत्ति होगी। पूर्वपक्षी इस प्रकार तीन दोष लगाते हैं—१. मिथ्यात्व को मिथ्या मानने पर द्वैतवादाभिमत प्रपंच की सत्यता सिद्ध होगी।

---

१. चितसुखी, पृ० ४२
२. ब्रह्मसिद्धि, पृ० ४
३. अद्वैतसिद्धि, पृ० २०७

२. मिथ्यात्व को मिथ्या मानने पर मिथ्यात्व-प्रतिपादक श्रुतियों की संगति नहीं बैठ पायेगी। ३. मिथ्यात्व को सत्य मानने पर द्वैतापत्ति होगी। अद्वैतवेदान्तियों ने मिथ्यात्व को व्यावहारिक मिथ्या माना है, यह इससे पूर्व ही स्पष्ट हो चुका है। मिथ्यात्व के मिथ्या होने पर प्रपंच सत्य होगा, इस तर्क का प्रत्याख्यान किया गया है। अद्वैतश्रुतियों की संगति में भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि अद्वैतश्रुतियां व्यावहारिक मिथ्यात्व को ही मिथ्या कहकर अनुवाद मात्र करती हैं। मिथ्यात्व को व्यावहारिक मिथ्या मानने के कारण द्वैतापत्ति भी नहीं है। अद्वैतवादी अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'जगत् सत्यत्वाभाववत् आत्मत्वाभाववत्वात् यन्नैव तन्नैवं यथात्मा।' जिसमें आत्मत्व का अभाव है उसमें सत्यत्व का भी अभाव है, जैसे आत्मा। जागतिक वस्तुओं में आत्मत्व नहीं होता, अतः वे मिथ्या हैं। शुक्तिरजत में भी आत्मत्व नहीं है और वह मिथ्या भी है। जहाँ सत्यत्व का अभाव नहीं है वहां आत्मत्व का भी अभाव नहीं है। मिथ्या प्रपंच के साथ मिथ्यात्व का भी बाध हो जाता है। प्रपंच और प्रपंचमिथ्यात्व दोनों समसत्ताक हैं, अतः ब्रह्मज्ञान से दोनों बाधित हो जाते हैं। परमार्थ सत् एकमात्र ब्रह्म ही है, इसीलिए एकमात्र अबाधित वस्तु भी ब्रह्म ही है।

वास्तविक अर्थ में देखा जाए तो जागतिक पदार्थ परिवर्तनशील और क्षणिक हैं। उत्पत्ति से पूर्व वस्तुएं नहीं होतीं और विनाश के पश्चात् भी उनकी स्थिति नहीं होती। ऐसी स्थिति में वस्तुओं को यदि मिथ्या कहा जाय तो ठीक ही है। सभी पदार्थ कालत्रय से कवलित हैं। सभी पदार्थ अपने में सीमित हैं। सभी पदार्थ ज्ञान के लिए ज्ञातृनिष्ठ हैं। इन लक्षणों से भी जगत् को परमार्थ का स्तर नहीं दिया जा सकता। परमार्थ तो एकरूप रहनेवाला है। वह शाश्वत है। प्रपंच को कोई भी दार्शनिक शाश्वत नहीं मानते। दृष्ट-नष्टस्वरूप के कारण ही वेदान्तीगण जगत् को मिथ्या कहते हैं। वे जगत् की व्यावहारिक सत्ता एवं स्थिति का अपलाप नहीं करते। यही मिथ्या का तात्पर्य है।

द्वितीय खण्ड : द्वैताद्वैत तत्त्वमीमांसा

विषयप्रवेश

प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

द्वैताद्वैतवेदान्त के प्रतिष्ठापक श्री निम्बार्काचार्य हैं। सम्प्रदाय परम्परा के अनुसार विचार करने पर निम्बार्काचार्य का नाम गुरुपरम्परा में चतुर्थ स्थान में आता है। निम्बार्काचार्य से पूर्व सर्वप्रथम श्री हंसभगवान् इस गुरुपरम्परा में हुए हैं। हंस भगवान् के बाद श्री सनकादिभगवान, तत्पश्चात् श्री नारद भगवान् एवं चतुर्थ में श्री निम्बार्क भगवान् का नाम आता है। श्रीनिम्बार्काचार्य के बाद उनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य इस गुरुपरम्परा में आते हैं। इस गुरु परम्परा में अनेकों आचार्यों के नाम आते हैं। डा० अमरप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा लिखित 'श्री निम्बार्क ओ द्वैताद्वैत दर्शन' में जो गुरुपरम्परा की तालिका दी गई है, उसमें श्री हंसभगवान् से लेकर अब तक ५६ सम्प्रदायाचार्यों के नाम आते हैं। सम्प्रदाय के अद्यतन आचार्य श्री स्वामी धनंजयदासजी अभी भी विद्यमान हैं।[1] यहाँ पर हमें उन प्रमुख आचार्यों के नामों की चर्चा करनी है, जिनके नाम निम्बार्क दर्शन की परम्परा में विशेष करके लिए जाते हैं। विशेषकर उन्हीं आचार्यों के नाम निम्बार्क दर्शन से अधिक जुड़े हुए हैं जो कि निम्बार्क दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों के प्रणेता हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय एवं दर्शन का नाम श्रीनिम्बार्काचार्य के नाम से पड़ा है। इस दर्शन में द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, इसलिए इस दर्शन का नाम द्वैताद्वैत दर्शन भी है। चूंकि निम्बार्क दार्शनिक जीवेश्वर में, जीव-जगत् में स्वाभाविक भेदाभेद मानते हैं, इसलिए इनके दर्शन को स्वाभाविक भेदाभेदवाद भी कहा जाता है। श्रीनिम्बार्काचार्य का नाम निम्बादित्य भी है, कहीं पर इन्हें निगमानन्द भी कहा है।[2] श्रीनिम्बार्क से पूर्व सर्वप्रथम आचार्य श्रीहंस भगवान् के नाम से इस सम्प्रदाय का नाम न होकर श्री निम्बार्क के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि श्री निम्बार्क आचार्य ने कई ग्रन्थ लिखे हैं। ये ग्रन्थ द्वैताद्वैत सिद्धान्त के लिए आधार ग्रन्थ सिद्ध हुए हैं। श्रीनिम्बार्काचार्य ने निम्न-

१. श्रीनिम्बार्क ओ द्वैताद्वैतदर्शन 'बंगला' पृ० ५४-५५ डा० अमरप्रसाद भट्टाचार्य।

२. वही, पृ० ३२-३३

लिखित ग्रन्थों की रचना की है—१. वेदान्तपारिजातसौरभ २. वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी, ३. प्रपन्नकल्पवल्ली, ४. मंत्ररहस्यषोड़शी, ५. प्रपत्तिचिन्तामणि, ६. गीतावाक्यार्थ, ७. सदाचारप्रकाश, ८. राधाष्टकम्, ९. कृष्णाष्टकम् १०. प्रातः स्मरणस्तोत्रम्।

इन पुस्तकों में से प्रतपत्तिचिन्तामणि, गीतावाक्यार्थ एवं सदाचारप्रकाश—ये तीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु ये तीनों ग्रन्थ भी निम्बकाचार्य द्वारा रचित हैं, ऐसा प्रमाण मिलता है। प्रपत्ति चिन्तामणि एवं सदाचार प्रकाश इन—दो ग्रन्थों का उल्लेख वेदान्त रत्नमंजूषा में श्री पुरुषोत्तम आचार्य ने किया है।[1] गीता वाक्यार्थ का उल्लेख श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने उनकी गीतातत्वप्रकाशिका टीका में किया है।[2]

श्री निम्बार्काचार्य कृत वेदान्तपारिजात सौरभ को शारीरक मीमांसावाक्यार्थ कहा जाता है। यह ब्रह्मसूत्रों की संक्षिप्त एवं सारगर्भ व्याख्या है। इसमें केवल द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन हुआ है। दशश्लोकी में दश श्लोक हैं, जिनमें परब्रह्म श्रीकृष्ण का वर्णन किया गया है तथा जीव, जगत् आदि का स्वरूप-वर्णन भी किया गया है। प्रपन्नकल्प वल्ली, पंचरात्र ग्रन्थ में उक्त शरणागति मन्त्र की विस्तृत व्याख्या है। श्री सुन्दर भट्ट ने इस पर प्रपन्न सुरतरुमंजरी नामक टीका लिखी है। 'मन्त्र रहस्य षोड़शी' में श्री गुरुशरणागति आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त स्तोत्र ग्रन्थों में श्रीकृष्ण-राधा की स्तुति की गई है।

डा० रमा चौधरी ने 'सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्ण स्तवराज' एवं 'वेदान्ततत्वबोध' नामक दो और ग्रन्थों के रचयिता श्री निम्बार्काचार्य को बतलाया है। एक और पुस्तक मध्वमुखमर्दन के रचयिता भी श्री निम्बार्क को बतलाया गया है।[3] परन्तु डा० अमर प्रसाद भट्टाचार्य ने अपने शोधप्रवन्ध—'श्री निम्बार्क ओ द्वैताद्वैत' दर्शन में उक्त तीनों ग्रन्थों के रचयिता श्री निम्बार्क के होने का खण्डन किया है।[4]

श्री निम्बार्क के कई शिष्य थे। उनमें से श्रीनिवासाचार्य प्रधान थे। श्रीनिवासाचार्य बाद में आचार्य पद में अभिषिक्त हुए। इन्होंने 'वेदान्त पारिजात' की व्याख्या 'वेदान्त कौस्तुभ' लिखी। इसके अतिरिक्त श्रीनिवास ने लघुस्तवराज स्तोत्रम्, श्री गुरुभक्ति मंदाकिनी, गीताभाष्य, कठोपनिषद् भाष्य नामक ग्रन्थ भी लिखे। अन्तिम दो ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।[5] श्री निम्बार्क के एक और शिष्य औदुम्बर आचार्य ने चार ग्रन्थ लिखे हैं—औदुम्बर संहिता, निम्बार्क विक्रान्ति, व्रतपंचक, निम्बार्क स्तोत्र। इसके पश्चात् निम्बार्क सम्प्रदाय के एक अन्य आचार्य श्री पुरुषोत्तमाचार्य ने निम्बार्ककृत दशश्लोकी

---

१. वेदान्त रत्न मंजूषा, पृष्ठ ९७ चौखम्बा।

२. श्रीनिम्बार्क ओ द्वैताद्वैत दर्शन, पृष्ठ ४३ बंगला—डा० अमरप्रसाद भट्टाचार्य

३. Doctrine of Nimbarka and his followess, page 16, 17 Dr. Rama Chaudhury.

४. श्री निम्बार्क ओ द्वैताद्वैत दर्शन, पृ० ४५-४९

५. डा० रमा चौधरी के अनुसार वेदान्तकारिकावली नामक ग्रन्थ भी श्रीनिवास कृत है, पर डा० अमरप्रसाद भट्टाचार्य के अनुसार यह ग्रन्थ श्री पुरुषोत्तमप्रसाद कृत है। श्रीनिम्बार्क ओ द्वैताद्वैत दर्शन, पृष्ठ ४८, ४९ एवं ५३ द्रष्टव्य है।

पर वेदान्त 'रत्न मंजूषा' नाम की विस्तृत टीका लिखी है। परवर्ती काल में श्रीदेवाचार्य ने 'सिद्धान्त जाह्नवी' नाम की ब्रह्मसूत्रवृत्ति की रचना की। आचार्य श्रीसुन्दर भट्ट ने 'द्वैताद्वैत सिद्धान्त सेतुका' नाम की 'सिद्धान्त जाह्नवी' पर एक टीका की रचना की। इन्होंने श्री निम्बार्क कृत 'मंत्र रहस्य षोड़शी' पर 'मंत्रार्थ रहस्य' टीका एवं श्री निम्बार्क कृत 'प्रपन्न कल्प वल्ली' पर 'प्रपन्न सुरतरु मंजरी' नाम की टीका लिखी। निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने श्रीनिवासाचार्य कृत 'वेदान्त कौस्तुभ' पर 'वेदान्त कौस्तुभ प्रभा' नामक वृत्तिग्रन्थ लिखा। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'उपनिषद् प्रकाशिका' नामक द्वादश उपनिषद् भाष्य, तत्त्व प्रकाशिका नामक गीता व्याख्या, क्रम प्रदीपिका नामक वैष्णव तन्त्र ग्रन्थ, विष्णु सहस्र-नाम टीका एवं अनेक भगवत् स्तोत्रों की भी रचना की है। इसके पश्चात् श्रीसंकर्षणदेव ने 'वैष्णवधर्मसुरद्रुममंजरी' नामक स्मृति ग्रन्थ लिखा। श्रीकेशवकाश्मीरी भट्ट के शिष्य श्रीभट्टजी ने 'युगलशतक' नामक भक्ति ग्रन्थ की रचना की। श्रीआचार्य हरिदास ने श्रीनिम्बार्ककृत दशश्लोकी के ऊपर सिद्धान्तकुसुमांजलि टीका लिखी। इन्होंने इस टीका के अतिरिक्त भी 'तत्वार्थ पंचकम्', 'वेदान्त सिद्धान्त रत्नांजलि', 'पंचसंस्कार निरूपण' इत्यादि ग्रन्थों की रचना की। निम्बार्क संप्रदाय के पंडित श्रीपुरुषोत्तम प्रसाद (प्रथम) ने 'सविशेष-निर्विशेष-श्रीकृष्णस्तवराज' के ऊपर 'श्रुत्यन्तकल्पवल्ली' नाम की टीका लिखी। उक्त सविशेष-निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज के ऊपर ही पंडित श्रीपुरुषोत्तम प्रसाद (द्वितीय) ने श्रुत्यन्तसुरद्रुम नामक टीका लिखी। पूर्वोक्त श्रीकृष्णस्तवराज के ऊपर ही 'श्रुतिसिद्धान्त मंजरी' नामक ब्रजेश्वर प्रसाद द्वारा रचित एक और टीका मिलती है। पुरुषोत्तम प्रसाद (द्वितीय) द्वारा लिखित और भी निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—अध्यात्मसुधा तरंगिनी, परतत्वनिर्णय, एवं मुकुन्दमहिमास्तव। निम्बार्क दर्शन के प्रकाण्ड पंडित श्री माधवमुकुन्ददेवाचार्य ने 'अध्यासपरपक्ष-गिरिवज्रम्' नामक एक विख्यात ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में अद्वैतवाद के विभिन्न विषयों का खण्डन किया गया है। श्रीअनन्तराम ने 'वेदान्त-तत्वबोध', 'वेदान्त रत्नमाला', 'तत्वसिद्धान्तबिन्दु', 'श्रुतिसिद्धान्तरत्नमाला' एवं अनेक भगवत्-स्तोत्रों की रचना की है। श्री शुकदेव नामक पंडित ने स्वधर्मामृतसिन्धु, एवं श्रीमद्भागवत् के ऊपर सिद्धान्तप्रदीप नामक टीका लिखी है। श्रीरामचन्द्र गौड ने 'स्वधर्माध्वबोध', मंत्रविवृत्ति, पुष्पेषुमनुकल्पतरुसौरभ आदि ग्रन्थों की रचना की है। श्रीदुलारे प्रसाद शास्त्री ने दीक्षा-तत्व प्रकाश, भगवन्नामचद्रिका, युगलकरचरणाब्जप्रकाशिका, आदि ग्रन्थ लिखे हैं। श्रीअमोलकराम तर्कतीर्थ द्वारा लिखित उपनिषदों पर तत्वप्रकाशिका टीका, तत्वसुधा, वेदान्तकौस्तुभप्रभा टीका, परपक्षगिरिवज्र टीका आदि ग्रन्थों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्ति परवर्ती निम्बार्काचार्यों द्वारा और भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। कुछ ग्रन्थ ब्रज भाषा में भी लिखे गये हैं तथा कुछ आधुनिक निम्बार्क दार्शनिक आचार्यों ने हिन्दी एवं बंगला भाषा में द्वैताद्वैत सिद्धान्त पर ग्रन्थ लिखे हैं।[1]

---

१. निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य एवं ग्रन्थों की अधिक जानकारी के लिए डा० अमर प्रसाद भट्टाचार्य रचित शोध प्रबन्ध 'श्री निम्बार्क ओ द्वैताद्वैत दर्शन' पृ० १०३-१०७ द्रष्टव्य।

निम्बार्क दार्शनिक परम्परा में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत्, गीता, विष्णु पुराण, महाभारत, नारदीय पुराण, नारदपंचरात्र आदि प्राचीन ग्रन्थों को आदरणीय स्थान प्राप्त है। इन ग्रन्थों को आधार ग्रन्थ मानकर ही निम्बार्क मत का विकास हुआ है। धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में निम्बार्क सम्प्रदाय अति प्राचीन मत है, इसमें सन्देह नहीं। Encyclopaedia of Religions में चतुष्सम्प्रदाय वैष्णवों का परिचय देते हुए निम्बार्क मत को सबसे प्राचीन कहा गया है।[1] धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में निम्बार्क सम्प्रदाय अतिप्राचीन होने पर भी दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में इसकी आधारशिला श्रीनिम्बार्क आचार्य ने अपने ग्रन्थ वेदान्तपारिजातसौरभ की रचना द्वारा रक्खी थी। वेदान्तपारिजासौरभ संक्षिप्त ग्रन्थ होने पर भी द्वैताद्वैत सिद्धान्त को साररूप में प्रतिपादित करता है। द्वैताद्वैत दर्शन में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचनात्मक प्रतिपादन एवं विकास इसके परवर्ती ग्रन्थ--श्रीनिवासकृत वेदान्तकौस्तुभ, केशवकाश्मीरी भट्टकृत वेदान्तकौस्तुभप्रभा एवं महापंडित माधव मुकुन्दकृत परपक्षगिरिवज्र आदि ग्रन्थों द्वारा हुआ है। वैसे तो श्री निम्बार्क द्वारा रचित दशश्लोकी, गीता वाक्यार्थ आदि ग्रन्थों की दार्शनिक महत्ता कम नहीं है, फिर भी परवर्ती काल के आचार्य पुरुषोत्तम प्रसाद द्वारा रचित श्रुत्यन्तकल्पवल्ली टीका एवं श्रुत्यन्तसुरद्रुम टीका का भी कम महत्त्व नहीं है। दशश्लोकी पर श्री पुरुषोत्तम आचार्य की रत्नमंजूषा टीका भी जीव-ईश्वर एवं जीवेश्वर के सम्बन्ध के विवेचन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी प्रकार केशव काश्मीरी भट्ट द्वारा लिखित गीता तत्त्व प्रकाशिका टीका भी दार्शनिक मतों के विवेचन में बहुत उपयीगी सिद्ध हुई है। परमत, विशेष करके अद्वैतमत में स्वीकृत अनिर्वचनीय अविद्यावाद, निर्गुण ब्रह्मवाद, अभेदवाद, अखण्डार्थवाद, जगन्मिथ्यात्ववाद आदि सिद्धान्तों के खण्डन में खण्डन ग्रन्थ के रूप में महापंडित माधव मुकुन्द का ग्रन्थ बहुत ही पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि माधवमुकुन्द की तार्किक शैली का प्रयोग उनसे पूर्व द्वैत वेदान्ती श्री जयतीर्थ एवं न्यायामृतकार व्यासतीर्थ कर चुके थे, फिर भी निम्बार्क दर्शन में इस ग्रन्थ का बहुत सम्मान एवं स्थान है।

इस प्रकार निम्बार्क दर्शन को पल्लवित करने में निम्बार्क आचार्य श्री निवासाचार्य, केशव काश्मीरी भट्ट, पुरुषोत्तम आचार्य, पुरुषोत्तम प्रसाद एवं माधव मुकुन्द आदि का प्रमुख योग रहा है तथा इनके ग्रन्थों का भी प्रमुख स्थान रहा है।

संक्षिप्त तत्त्व मीमांसा

ब्रह्म—निम्बार्क आचार्य ने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र के भाष्य में ब्रह्म का सविशेष एवं सगुण रूप में ही वर्णन किया है। उनके अनुसार ब्रह्म अनन्त अचिन्त्य, स्वाभाविक स्वरूप गुणों एवं शक्ति से युक्त है। इसीलिए ब्रह्म बृहत्तम है। वह ब्रह्म उनके

---

1. The Sanakadi Sampradaya foumded by Nimbarka or Nimbaditya is certainly the oldest of the Bhagavata Churches.
   —Encyclopaedia of Religions, Vol. II page 545.

अनुसार श्री पुरुषोत्तम रमाकान्त है। इसीलिए तद्विषक जिज्ञासा करनी चाहिए, अर्थात् पूर्वोक्त अनन्त गुणों से विभूषित ब्रह्म ही जिज्ञास्य है।[1] गुण-गुणी का नित्य सम्बन्ध है, इसीलिए ब्रह्म सर्वदा सर्वज्ञत्वादि गुणों से सम्पन्न रहता है। श्रुति में जहाँ-जहाँ पर ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष कहा गया है, निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार इसका तात्पर्य प्राकृत गुण अर्थात् प्राकृत विशेष विशेष धर्म रहित अर्थ में है। अथवा जहाँ पर ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है, वहाँ ब्रह्म के अनन्त गुणों की सीमा न पाने के कारण ऐसा कहा गया है। ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् ब्रह्म के गुणों की इयत्ता नहीं पायी जा सकती। निर्गुण-बोधक वाक्य इस प्रकार इयत्तानिषेधपरक समझना चाहिए।[2] ब्रह्म एकांश में जीव-जगत् को अपने में धारण करता हुआ भी जीव-जगत् का अतिक्रमण करके भी विद्यमान है। जीव-जगत् ब्रह्म के अंश हैं। अंश अंशी के अन्तर्गत होते हैं, परन्तु अंशी अशाधीन नहीं होता, ऐसा निम्बार्क दार्शनिकों का विचार है। निम्बार्क दार्शनिकगण रामानुज के समान जीव-जगत् को गुण भी कहते हैं। कहीं-कहीं पर शक्तिरूप अंश कहते हैं। साथ में शक्ति या गुणों से वह अतीत भी है, इसलिए ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म में इस प्रकार सगुणत्व-निर्गुणत्व दोनों ही भाव हैं। दोनों ही सत्य हैं।[3] ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है। समस्त आनन्दों का ब्रह्म ही उत्पत्ति स्थल है। ब्रह्म में प्राकृत हेयगुण आदि नहीं हैं, इसीलिए वह आनन्दस्वरूप है। शास्त्र ब्रह्म को पापरहित, विजर, विमृत्यु, विशोक, इत्यादि प्रकार से हेय गुणों से रहित बतलाता है। साथ में सत्यकाम, सत्यसंकल्प इत्यादि रूप से कल्याणगुण सम्पन्न भी बतलाता है।[4] इस प्रकार निर्गुण और सगुण परक दोनों प्रकार के श्रुति वाक्यों को यथार्थ मानते हुए निम्बार्क दार्शनिक दोनों में समन्वय स्थापित करते हैं। श्रीनिवासाचार्य ने दशश्लोकी में ब्रह्म को—'स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषम्—अशेष कल्याण गुणैकराशिम्' कहा है।[5] अर्थात् ब्रह्म स्वभावतः समस्त दोषों से रहित है एव अनन्त कल्याण गुणों का आकर है। वस्तुतः ब्रह्म सर्व प्रकार से गुणों से रहित नहीं हो सकता। सृष्टिकर्त्ता के रूप में ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि गुण अवश्य मानने होंगे।

निर्गुण ब्रह्म उपास्य भी नहीं हो सकता। उपासक गुणों से लुब्ध होकर ही आकृष्ट

---

१. अनन्ताचिन्त्य स्वाभाविक स्वरूपगुण शक्त्यादिर्भिबृहत्तमोयो रमाकान्तः
पुरुषोत्तमो ब्रह्मशब्दाभिधेयस्तद् विषयिका जिज्ञासा-सततं सम्पादनीया,
वेदान्त पारिजात सौरभ सूत्र, पृ० १। १। १

२. न चैवं विषय निषेध पराणां बाधः शंकनीयस्तेषां
ब्रह्मस्वरूपगुणादि विषय केयत्ता निषेधपरत्वेन समविषयत्वात्।
—वेदान्त पारिजात सौरभ सूत्र, पृ० १। १। ४ तथा वेदान्त रत्न मंजूषा श्लोक ४

३. वेदान्त दर्शन—द्वैताद्वैत, सिद्धान्त, पृ० १०-२१ स्वामी सन्तदास।

४. छान्दोग्य, पृ० ८। १। ५

५. दशश्लोकी श्लोक ४

होते हैं। ब्रह्म में और कुछ नहीं तो उपास्यत्व अर्थात् उपासना विषयत्व अवश्य मानना होगा। इसीलिए श्रुति एवं स्मृति ग्रन्थों में नाना प्रकारों से ब्रह्म को सगुण कहा गया है। श्रुति-स्मृति में आये हुए निर्गुण बोधक वाक्यों को भी निरर्थक न मानकर इयत्ता निषेधपरक मानना ही अधिक संगत लगता है।

निम्बार्क दर्शन के अनुसार ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् सृष्टि का कारण है। 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र की व्याख्या में निम्बार्काचार्य ने इस सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि, स्थिति, लय का कारण ब्रह्म को कहा है।[1] श्री निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अर्थात् ब्रह्म ही अपनी शक्ति-विक्षेप रूप से जगत् का उपादान है तथा सर्वज्ञत्वादि गुणों से सम्पन्न होने के कारण निमित्त भी है। जगत् ब्रह्म का शक्ति-विक्षेप-रूप परिणाम है, स्वरूप परिणाम नहीं। श्रीनिवासाचार्य ने कहा है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपने स्वरूप से अप्रच्युत रहकर स्वाधिष्ठित निज शक्ति-विक्षेप द्वारा जगत् रूप में अपने को परिणत करता है।[2] अर्थात् ब्रह्म अपनी शक्ति के माध्यम से जगत् रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु ब्रह्म में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। निम्बार्क दार्शनिक अद्वैत वेदान्तियों की इस युक्ति को नहीं स्वीकार करते कि जगत् को ब्रह्मपरिणाम मानने पर ब्रह्म में विकार की आपत्ति होगी। इसीलिए निम्बार्क दार्शनिकगण विवर्तवाद का आश्रय नहीं लेते। निम्बार्क दार्शनिक विवर्तवाद का आश्रय लिए बिना ही ब्रह्माधिष्ठित शक्तिविक्षेप के माध्यम से जगत्सृष्टि की व्याख्या करते हैं तथा कारणरूप ब्रह्म को अविकृत भी सिद्ध करते हैं।[3] उपादानकारण में जो सूक्ष्म अवस्था में शक्तिरूप से कार्यजगत् हैं, उनकी अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकाश ही शक्तिविक्षेप है। ब्रह्म सूक्ष्म अवस्था से स्थूल जगत् के रूप में व्यक्त भावापन्न होता है, यही उपादानता है।[4] वही ब्रह्म निमित कारण भी है, क्योंकि निम्बार्क मत में भी निमित्त एवं उपादान भिन्न नहीं माने गये हैं, अर्थात् ब्रह्म ही दोनों प्रकार का कारण है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी में भी उपादान सामग्री का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् विषयक उपादान सामग्री बोध सर्वज्ञ परमेश्वर को ही हो सकता है, अन्य को नहीं। ब्रह्म संकुचित ज्ञान-कर्मवान् जीवों के लिए स्वकर्मानुसार कर्मफलभोग की व्यवस्था भी करता है, इसलिए भी ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है।[5] इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकगण ब्रह्म को

---

१. वेदान्त पारिजात सौरभ, पृ० १। १। २ सूत्र।

२. ब्रह्मस्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं पारिणम्य अव्याकृतेनस्वरूपेणशक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति। वेदान्त पारिजात सौरभ, १। ४। २६

३. सर्वज्ञः सर्वशक्तिरप्रच्युतस्वरूपः परमात्मा स्वात्मक स्वाधिष्ठित निजशक्ति विक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमयति।

वेदान्त कौस्तुभ सूत्र पृ० १।४।२६ श्रीनिवासाचार्य।

४. वेदान्त कौस्तुभ भाष्य सूत्रः पृ० १। १। २

५. सिद्धान्त जाह्नवी, पृ० १२१

अभिन्न निमित्त उपादानकारण कहते हैं। अभिन्ननिमित्त उपादानत्व ब्रह्म का लक्षण है, ऐसा सिद्धान्त जाह्नवीकार कहते हैं।[1]

निम्बार्क दार्शनिक बड़ी कुशलता से प्रकृतिपरिणामवाद से अपने को पृथक् करते हैं। निम्बार्क दार्शनिकगण भी अपने दार्शनिक आधार उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता को मानते हैं। ब्रह्मसूत्रों में प्रकृतिकारणवाद का खण्डन किया गया है, क्योंकि प्रकृति ईक्षण नहीं कर सकती, इसलिए प्रकृति जगत् कारण नहीं है।[2] ईक्षणा के अभाव से निमित्त कारण नहीं बन सकती, यह बात समझ में आती है, किन्तु उपादान कारण क्यों नहीं बन सकती? जिस प्रकार जड़ परमाणु वैशेषिकों के अनुसार उपादान कारण बन सकते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी उपादान बन सकती है, ऐसा हमें ऊपर से लगता है, परन्तु विचार करने पर सांख्य की प्रकृति को उपादान एवं निमित्त दोनों ही नहीं माना जा सकता। उपादान कारण को पृथक् मानने पर उसे चेतन निमित्तकारण द्वारा अधिष्ठित होना पड़ेगा। सांख्य में चेतन पुरुष निमित्तकारण भी नहीं बनते। इसलिए प्रकृति को निमित्त एवं उपादान दोनों ही माना नहीं जा सकता। सांख्य भौतिकवादी है नहीं, इसलिए जड़ को ही अन्तिम तत्त्व मानकर उसकी स्वतः प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।

निम्बार्क दार्शनिक ब्रह्म के शक्ति-विक्षेप को माध्यम बनाकर के प्रकृति परिणामवाद से तथा विवर्तवाद से अपने आपको मुक्त करते हैं। शक्ति को ब्रह्माधिष्ठित मान कर उसे पृथक् रूप से उपादानत्व भी प्रदान नहीं किया गया। यद्यपि उपादानत्व में शक्ति-विक्षेप की मध्यस्थता आवश्यक लगती है, फिर भी परमेश्वर मायावी एवं शक्तिमान् होने के कारण वह उससे अतिक्रान्त भी रहता है। इसलिए उसके अधीन नहीं है। माया ब्रह्माश्रित है, निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार माया का आश्रय होने पर भी परमेश्वर मायिक गुणों से अतीत है।

ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम् है। निम्बार्क दार्शनिकगण 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रुतियों की व्याख्या रामानुज के ही समान करते हैं। ब्रह्म एक है, अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त स्वतन्त्ररूप से द्वितीय कोई नहीं है। इस अर्थ में ब्रह्म अद्वितीय है। जीव, जगत् ब्रह्माधीन हैं, इसीलिए गुण या शक्ति के रूप में जीव-जगत् को ब्रह्म के अन्दर आत्मसात् करा देने पर द्वितीय नहीं कुछ रहता, अर्थात् गुण-गुणी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इसलिए निम्बार्क दार्शनिकगण जीव-जगत् एवं ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं। जीव-जगत् ब्रह्म से स्वरूपतः भिन्न भी हैं, क्योंकि ये ब्रह्म से विलक्षण हैं। साथ में जीव-जगत् ब्रह्म से अभिन्न भी हैं, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है, सर्वव्यापक, सर्वाधार है, इसीलिए जीव-जगत् भी ब्रह्म में आश्रित होने के कारण ब्रह्मात्मक ही हैं।[3] अतः अभेद भी है, भेद भी है। गुण-गुणी में जिस प्रकार भेदाभेद दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव-जगत् एवं ब्रह्म में भेद-अभेद

---

१. तत्सिद्धं जगदभिन्न निमित्तोपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। सिद्धान्त जाह्नवी, पृ० ११७

२. ईक्षतेर्नाशब्दम्, ब्रह्मसूत्र, पृ० १।१।५

३. ब्रह्मणश्चेतनाचेतनयोश्चस्वरूपेणभेदः इतरेतरात्यन्तविलक्षणत्वात्, एवमेव तस्य तयोश्च सर्वात्मत्व…………आदि योगेन चाभेदः। सिद्धान्त जाह्नवी, पृ० ४४

दोनों ही सत्य हैं। भेद अभेद दोनों स्वाभाविक सत्य हैं।[1] अद्वैत वेदान्त के समान अभेद सत्य एवं भेद मिथ्या, इस प्रकार का सिद्धान्त निम्बार्क दर्शन को मान्य नहीं है। यहाँ तक कि निम्बार्क दार्शनिक भेद को गौण भी मानने को तैयार नहीं है। इसलिए इनको स्वाभाविक भेदाभेदवादी कहते हैं।

जीव—निम्बार्क मत में जीव ब्रह्म का अंश है। संख्या में जीव अनन्त हैं, जीव ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञातृत्व गुण सम्पन्न है। ब्रह्मांश होने के कारणजीव सर्वदा ब्रह्माधीन है। अविद्या के कारण जीव के गुणों का प्रकाश सीमित हो जाता है। इसी कारण स्वभावतः ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप होने पर भी जीव अल्पज्ञ, दुःखी होकर जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता है। साधना एवं भगवत्प्रसाद से जब अनादि माया से युक्त जीव अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब उसको स्वरूपभूत ज्ञानादि प्राप्त होते हैं।[2] अपने स्वरूप में जीव ज्ञानस्वरूप में होते हुए भी बद्धावस्था में अनन्त ज्ञानप्रकाश से वंचित रहता है। मुक्ति में वह परमेश्वर सदृश ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त करता है। इस मत में जीव ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता-दोनों है। निम्बार्क मत में जीव में ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदि स्वाभाविक एवं नित्य धर्म हैं। जीव में पूर्वोक्त धर्म आध्यासिक नहीं हैं। जीव मिथ्या या अध्यस्त नहीं है, क्योंकि जीव ईश्वरांश है। इस लिए मिथ्या नहीं हो सकता। निम्बार्क मत में ब्रह्म के चार रूप हैं। जीव, जगत्, ईश्वर एवं अक्षर ब्रह्म। जीव भी ब्रह्म का ही रूप अर्थात् अंश है। इसलिए जीव मुक्ति अवस्था में ब्रह्म सदृश हो जाता है। बद्ध जीव की जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाएं हैं। इस मत में रामानुज के ही समान परिमाण में जीव अणु है। अणु होते हुए भी जीव अपने गुणों में विभु है। गुणों का विभुत्व उसके सर्व शरीर में उसकी सुखदुःखानुभूति से जाना जा सकता है। ऐसे तो जीव अनन्त हैं एवं मुक्ति अवस्था में भी निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव, जीव-भेद, जीवेश्वरभेद आदि बने रहते हैं। फिर भी श्रेणी की दृष्टि से, बद्ध, बद्ध-मुक्त, नित्यमुक्त—तीन प्रकार के जीव हैं।[3] बद्ध जीव मुमुक्षु एवं बुभुक्षु भेद से दो प्रकार के हैं। मुमुक्ष भी दो प्रकार के हैं—भगवत्भावापत्तिरूप मुक्तिकामी एवं निज आत्म-स्वरूप प्राप्तिरूप मुक्तिकामी।[4]

जगत्—निम्बार्क के अनुसार जगत् ब्रह्म का शक्ति-विक्षेपरूप परिणाम है। इस अर्थ में निम्बार्क दार्शनिक रामानुज के समान ब्रह्म परिणामवादी हैं। ब्रह्म स्वयं जगत् रूप में परिणत होता है, इस विषय में निम्बार्क दार्शनिकगण ब्रह्म की जगत् परिणति को मिथ्या नहीं कहते हैं। इस जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण ब्रह्म है। इसलिए जगत् के साथ भी ब्रह्म का भेदाभेद सम्बन्ध है। जगत् से ब्रह्म अभिन्न होते हुए भी ब्रह्म जगत् को अतिक्रमण करके है, क्योंकि जगत्-सृष्टि ब्रह्म के एक पाद से है। ब्रह्म के

---

१. वेदान्त तत्व बोध, पृ० ३ अनन्तराम, चौखम्बा १६०७

२. अनादिमायापरियुक्तरूपत्वेनविर्दुर्वैभगवत्प्रसादात्। दशश्लोकी, श्लोक २

३. मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तं। प्रभेद बाहुल्यमर्थेषु बोध्यम्, दशश्लोकी, श्लोक २

४. वेदान्त रत्न मंजूषा, पृ० २२

तीन पाद विश्वातीत हैं। इस जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय ब्रह्म में एवं ब्रह्म द्वारा हैं। निम्बार्क के अनुसार जीव जगत् दोनों ही सत्य हैं। ईश्वर ने ईक्षणापूर्वक सृष्टि की है। इसीलिए सृष्टि मिथ्या नहीं हो सकती, अर्थात् ईश्वर की ईक्षणा मिथ्या नहीं हो सकती।[1] यह जगत् ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म अंशी है। अंश-अंशी में अपृथक् सम्बन्ध है। निम्बार्क दार्शनिकों ने जगत्-मिथ्यात्ववाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि जगत् ब्रह्म का अंश एवं गुणस्थानीय है। श्रुति जगत् को सत्य कहती है। तस्मादसतः सज्जायते ·········छान्दोग्य ६। २। १, २ इत्यादि श्रुतियां तथा 'एतत् सत्·········तस्यैतस्य सतः एष रसो य एष तपति, सतो ह्येष रसः', बृहदारण्यक २। ३। २। श्रुति भी जगत् को स्पष्टरूप से सत् कहती है। निम्बार्क दार्शनिक भी सत्कार्यवादी हैं। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण के सत् होने पर कार्य भी सत् होगा। अतः यदि कारणरूप ब्रह्म सत् है तो कार्यजगत् भी सत् होगा। छान्दोग्य में लिखा हुआ 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान' कथन भी सत्कार्यवाद में ही सार्थक हो सकता है। कारण सत् हो, कार्य मिथ्या हो, ऐसी स्थिति में कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान सम्भव नहीं है। एक विरुद्ध वस्तु के ज्ञान से दूसरी विरुद्ध वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। श्रुति 'एक ब्रह्म के विज्ञान से कार्य-रूप जीव-जगत् का ज्ञान हो जाता है' कहती है। इससे ज्ञात होता है कि कार्यरूप जीव-जगत् सत्य हैं। घटादि कार्य के सम्पूर्ण रूप से अलीक होने पर मृत्तिका के ज्ञान से घटादि का ज्ञान सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिए निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है।[2] केशव काश्मीरी भट्ट का तर्क है कि जगत् यदि मिथ्या होता तो मिथ्या वस्तु के परिपालन का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में ईश्वर को जगत्-पालक, जगत् नियन्ता आदि कैसे कह सकते हैं? सर्वज्ञ ईश्वर मिथ्या जगत्-परिपालन के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता। श्रुति में जगत्-परिपालन आदि बातें कही गयी हैं। श्रुतिवाक्य मिथ्या नहीं हो सकता, इसलिए जगत् सत्य है, अध्यस्त नहीं।[3] केशव काश्मीरी भट्ट का कहना है कि शुक्तिरजत में शुक्तिज्ञान से रजत ज्ञान नहीं होता, अपितु शुक्ति ज्ञान से रजत ज्ञान बाधित होता है। इसी प्रकार जगत् को मिथ्या मानने पर ब्रह्मज्ञान से उसका ज्ञान नहीं हो सकता और 'वाचारम्भण' श्रुति निरर्थक हो जाएगी।[4]

मोक्ष एवं मोक्षसाधन—निम्बार्क मत में मुक्ति की दो स्थितियां हैं। ब्रह्मस्वरूप प्राप्ति अर्थात् तद्भावापत्ति एवं आत्मस्वरूप प्राप्ति। ब्रह्मस्वरूप प्राप्ति का अर्थ ब्रह्म हो जाना नहीं है; अपितु ब्रह्म का सायुज्यभाव प्राप्त करना है। उस स्थिति में मुक्त जीव परमेश्वर के तुल्य गुण, ऐश्वर्य, शक्ति आदि को प्राप्त कर लेता है। मुक्ति में जीव ब्रह्म का अंश ही रहता है। उसका जीवत्व नष्ट नहीं होता। निम्बार्क मत में जीवत्व सत्य है। भगवत्कृपा से एवं साधना से मुमुक्षु अधिकारी के प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर शेष सभी

---

१. वेदान्त दर्शन निम्बार्क भाष्य, स्वामी सन्तदास की भूमिका, पृ० ३३

२. वही, पृ० ३४

३. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, सूत्र २।१।१४

४. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, सूत्र २।१।१४

कर्मों का नाश हो जाता है। प्रारब्ध कर्मों के कारण ही शरीर चलता रहता है। जब तक शरीर रहता है, तब तक उसे मुक्त जीव नहीं कहा जाता। निम्बार्क दार्शनिक जीवन्मुक्ति नहीं मानते। देहपात अनन्तर भगवत्कृपा सम्पन्न साधक अधिकारी देवयानमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक गमन करता है एवं ब्रह्म साक्षात्कार करता है। प्रारब्ध कर्मों के नाश होते ही शरीर छूट जाता है और जीव मुक्त हो जाता है। अद्वैत वेदान्त में प्रारब्ध कर्मों को मानकर जीवन्मुक्ति स्वीकार की गयी है। निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार जीवन्मुक्ति मुक्ति नहीं है। मुक्ति में जीव ब्रह्म सदृश होता है, इसीलिए मुक्ति में जीवत्व का पूर्ण विकास होता है। मुक्त जीव ब्रह्म से भिन्नाभिन्नरूप होता है। मुक्ति में जीव आत्मस्वरूप लाभ करता है। जीव को इस मत में अपरिमित ज्ञान सम्पन्न माना जाता है। यह अपरिमित ज्ञान अविद्या से सीमित हो जाता है। अविद्या के नाश द्वारा उस अपरिमित ज्ञानस्वरूप को प्राप्त करके जीव आत्मस्वरूप लाभ करता है, तब वह क्षुधा, तृष्णा, जरा, शोक, पाप एवं समस्त हेय गुणों से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञानवान्, सत्यकाम सत्यसंकल्प बन जाता है। स्वरूपतः जीव पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न होता है। साधना एवं भगवत्कृपा से उन्हें पुनः प्राप्त करना पड़ता है। इसलिए मुक्ति को आत्मस्वरूप उपलब्धि भी कहते हैं। आत्मस्वरूप लाभ होने पर जीव सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति कर लेता है। मुक्त अवस्था में शरीर एवं अन्तःकरण न होने के कारण उनकी सीमा समाप्त हो जाती है। इसलिए असीम गुणों से वह परिपूर्ण हो जाता है। फिर भी मुक्त जीव परमेश्वर के अधीन ही रहता है। मुक्त जीव मोक्ष लाभ के अनन्तर अपने कर्मों से मुक्त हो जाता है; इस कारण संसार में उसका पुनरागमन नहीं होता। किन्तु निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार मुक्त जीव लीला करने के लिए अपनी इच्छा से किसी भी लोक में किसी भी शरीर को धारण कर सकता है। शरीर धारण करके मृत्युलोक में भी अवतीर्ण हो सकता है। यह उसकी इच्छाधीन है।[1] मुक्त जीव ज्ञान से पूर्ण होने पर भी अपने स्वरूप से वह अणु परिमित रहता है। ज्ञान से वह विभु हो जाता है। उसका ज्ञान व्यापक हो जाता है। मुक्त पुरुष को सृष्टि आदि करने की शक्ति प्राप्त नहीं होती, क्योंकि उस स्थिति में भी वह अपने अंशी रूप ब्रह्म के अधीन रहता है।

निम्बार्क आचार्य के अनुसार ब्रह्म तत्व के विचार, मननसहित भक्ति एवं शरणागति साधना के प्रधान अंग हैं। इस मत में सगुण ब्रह्म ही उपास्य है। निम्बार्क के मत में ब्रह्मज्ञ गुरु ही ब्रह्म दर्शन करा सकता है। गुरु-कृपा के बिना ब्रह्म ज्ञान लाभ सम्भव नहीं।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में 'आचार्यवान् पुरुषोवेद' कहा है। इससे गुरु की महत्ता का कथन हुआ है। गुरु को आत्मसमर्पण करते हुए उनके आदेश का पालन करना ही साधक का कर्तव्य है।[3] निम्बार्क के अनुसार आत्मज्ञानलाभ का उपाय भगवत्कृपा एवं भक्ति है। भगवत्कृपा से प्रेमलक्षणाभक्ति उत्पन्न होती है। यही

---

१. वेदान्त पारिजात सौरभ, सूत्र, पृ० ४।४ १, २, ४, ७, १२ इत्यादि।
२. मन्त्र रहस्य षोड़शी, श्लोक, पृ० ३, ४, ८, १३ इत्यादि।
३. सिद्धान्त रत्नांजलि, श्लोक ९ की टीका।

पराभक्ति है। पराभक्ति से भिन्न भक्ति को साधन भक्ति कहते हैं।[1] निम्बार्क मत में चित्तशुद्धि के लिए शास्त्र विहित नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान निष्काम भाव से करना आवश्यक है। शुद्ध चित्त द्वारा ही तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन सम्भव हैं। शुद्ध चित्त में भगवत्तत्व का प्रकाश होता है। निम्बार्क आचार्य के अनुसार ज्ञान, भक्ति, ध्यान, प्रपत्ति एवं गुरू पसत्ति—ये मुक्ति के साधन हैं। ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान मुक्ति का प्रधान उपाय है। ज्ञान के समान ध्यान भी आवश्यक है। ध्यान ब्रह्म विषयक अनवरत चिन्तन को कहते हैं। ध्यान की तीन प्रधान प्रणालियां हैं। जीव ब्रह्म अभेद ध्यान, ब्रह्म जगत्-अतिरिक्त रूप से ध्यान, अर्थात् जगत् शासक के रूप में ब्रह्म का ध्यान एवं चित्-अचित् भिन्न रूप से सच्चिदानन्द ब्रह्म का ध्यान। भक्ति ध्यान का नित्य अंग है। रामानुज के अनुसार भक्ति का अर्थ ध्यान है। किन्तु निम्बार्क के अनुसार भक्ति और ध्यान में अंगांगी भाव है। भक्ति उपासना ही नहीं भगवत्प्रीति भी है। ब्रह्म के माधुर्य विषयक ज्ञान होने पर श्रद्धा का संचार होता है। उससे भगवत्प्रीति रूप भक्ति का संचार होता है। ज्ञानमूलक भक्ति को पराभक्ति एव कर्ममूलक भक्ति को अपराभक्ति कहते हैं। पराभक्ति एवं आत्मसमर्पण द्वारा ही भगवत्तत्व का ज्ञान हो सकता है।[2] गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि अनन्य भक्ति के द्वारा भगवत्ज्ञान सम्भव है।[3] भक्ति के साथ अर्थात् कर्ममूलक भक्ति के साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भावों को भी मोक्ष साधन के रूप में प्रपन्नकल्पवल्ली में लिखा है। प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति।[4] प्रपन्नकल्पवल्ली में शरणागति का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि गुरु द्वारा परमात्मा में सम्पूर्ण रूप से आत्मानिक्षेप करना ही प्रपत्ति है। आत्मा का अर्थ अहं एवं मम है। अहं एवं मम दोनों प्रकार के भावों को श्रीभगवान् में समर्पित करना ही शरणागति है। श्री निम्बार्क ने गुरु के माध्यम से भगवान् में आत्मसमर्पण की बात कही है। इससे प्रपत्ति में गुरु की महत्ता बढ़ जाती है।[5] गुरूपसत्ति गुरु में आत्मसमर्पण है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु के माध्यम के बिना ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। निम्बार्क साधनापद्धति में विग्रहपूजा का भी विधान है। इस मत में भगवान् की विग्रहपूजा प्रचलित है। श्री राधाकृष्ण, श्रीगोपालविग्रह एवं शालग्रामशिला विग्रह की पूजा हुआ करती है।

निम्बार्कसाधना में रामानुज के समान ही ज्ञान एवं भक्ति के ऊपर ही अधिक जोर दिया गया है। भक्ति के साथ-साथ अर्थात् कर्ममूलक भक्ति के साथ-साथ श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि उपासनाओं की भी महत्ता कम नहीं है। साथ में चित्तशुद्धि के

---

१. दशश्लोकी, श्लोक ९

२. वेदान्त पारिजात सौरभ, सूत्र, पृ० ३।२।२४

३. भवक्त्यात्वनन्यया शक्यः अहमेवंविधोऽर्जुन
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं चपरन्तप। गीता ११।५४

४. प्रपन्नकल्प वल्ली। श्लोक ४, ५

५. प्रपत्तिश्च आत्मनिक्षेपो गुरुणा परमात्मना।
सर्वसम्बन्ध युक्तेन गोप्ता वोढाभरस्य हि॥ प्रपन्न कल्प वल्ली, श्लोक ४ तथा मन्त्र-रहस्य षोड़शी, श्लोक ४, ८। प्रपन्नसुरतरुमंजरी श्लोक, ४ पर टीका।

लिए नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान निष्काम भाव से करने का विधान हैं। नित्य नैमित्तिक कर्मों में भगवद्विग्रह में पूजा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन सबके अतिरिक्त आत्मसमर्पण एवं गुरुशरणागति को भी कम महत्व नहीं दिया गया है। साधनाप्रणाली की इस प्रक्रिया में अन्त में जाकर भक्ति एवं ज्ञान से ही मुक्ति होती हैं। बिना ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान के अविद्या का नाश नहीं हो सकता और अविद्या के नाश के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। यही निम्बार्क साधनाप्रणाली का सार है।

प्रथम अध्याय

द्वैताद्वैत दर्शन में ब्रह्म

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' ब्रह्म सूत्र के इस प्रथम सूत्र में ब्रह्म के लिए जिज्ञासा विहित है। ब्रह्म के विषय में यदि ज्ञान लाभ न हो सकता होता, अर्थात् ब्रह्म सर्वथा ज्ञान का अविषय होता; तब ब्रह्म की जिज्ञासा की उपपत्ति नहीं हो सकती थी। ब्रह्म शास्त्र का विषय है। वह जिज्ञासा का विषय होता हुआ शास्त्रादि प्रमाणों का विषय है। श्री निवासाचार्य ने वेदान्त कौस्तुभ में कहा है कि 'विषयश्चास्य ब्रह्मादिशब्दाभिधेयः'।[1] श्री निम्बार्काचार्य ने स्वय कहा है कि 'ब्रह्मशब्दाभिधेयस्तद् विषयिका जिज्ञासा सततंसम्पादनीया'।[2] अर्थात् ब्रह्मशब्द से अभिधेय विषय की जिज्ञासा करनी चाहिए। श्री निम्बार्क और श्री निवासाचार्य के अनुसार ब्रह्मसर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अनन्त कल्याणगुणमय, सर्वनियन्ता, अतएव सगुण और सविशेष है। इसीलिए एवंभूत ब्रह्म की जिज्ञासा की उपपत्ति होने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में ब्रह्म का लक्षण कथित हुआ है। श्री निम्बार्कभाष्य के अनुसार इस अचिन्त्य, विचित्र, संस्थान सम्पन्न विश्व की सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि सर्वज्ञ, अनन्त गुण-सम्पन्न ब्रह्म से संभव हैं। उक्त सूत्र में इसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म का लक्षण किया गया है।[3] श्री निवास ने वेदान्त कौस्तुभभाष्य में भी ब्रह्म को सर्वज्ञ, शक्तिमान् मानते हुए जगत्-कारण कहा है।[4] प्रथम सूत्र में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा विहित है, उसी का लक्षण द्वितीय सूत्र में प्रस्तुत किया गया है। निम्बार्क आचार्य के अनुसार भी ब्रह्म का यह लक्षण 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार है। ब्रह्म को इस विचित्र संसार के कारण के रूप में प्रतिपादित करने का अर्थ है—ब्रह्म सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ

---

१. वेदान्त कौस्तुभ, पृ० १।१।१। श्री निवासाचार्य।

२. वेदान्त पारिजात सौरभ, पृ० १।१।१। सू०, श्री निम्बार्काचार्य।

३. वही पृ० १।१।२। सूत्र।

४. वेदान्त कौस्तुभ, पृ० १।१।२। सू०

है। निम्बार्क मत में भी ब्रह्म इस संसार का निमित्त एवं उपादान कारण है। श्रीनिम्बार्काचार्य के अनुसार ब्रह्म के सर्वज्ञत्व एवं सर्वशक्तिमत्व आदि धर्म स्वाभाविक हैं। परमेश्वर जगत्-सृष्टि अपने स्वरूप से करता है। इसी कारण जगत्सृष्टि निम्बार्क मत में मिथ्या नहीं है, अपितु ब्रह्म का स्वाभाविक व्यापार है। इस मत में ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों है। वह द्वैत भी है, अद्वैत भी है। जगत्-अतीत अवस्था में वह एकीभूत होकर प्रतिष्ठित रहता है। वही उसका स्वरूप है। इसी अवस्था को लक्ष्य करके ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है। इस अवस्था में ब्रह्म की गुण-शक्ति अव्यक्त रूप से ब्रह्म में एकीभूत हो कर के रहती है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस अवस्था में ब्रह्म में गुण-शक्ति होती ही नहीं। गुण-शक्ति आदि तो ब्रह्म में स्वाभाविक है। जगत्सृष्टि, स्थिति और लय कर्ता के रूप में ब्रह्म सगुण है। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिक ब्रह्म को सगुण—निर्गुण दोनों रूपों में देखते हैं। जीव, जगत् आदि समस्त सृष्टि ब्रह्म की शक्ति है। ईक्षण-शक्ति-विशिष्ट ब्रह्म ही अपनी शक्ति द्वारा जीव-जगत् को अभिव्यक्त करता है, इसीलिए जीव-जगत् ब्रह्म की शक्ति और ब्रह्म शक्तिमान् है। शक्तिमान् शक्तिमात्र ही नहीं होता, अपितु उसका अतिक्रमण करके भी रहता है। जिस प्रकार देवदत्त की बहुत शक्तियां हैं—दर्शन शक्ति, श्रवण शक्ति, स्पर्श-शक्ति आदि। देवदत्त कहने पर हम मात्र देवदत्त की दर्शन शक्ति ही नहीं समझते या दर्शन-शक्ति, श्रवण-शक्ति आदि ही देवदत्त नहीं हैं। इन शक्तियों के अतिरिक्त इनसे अधिक देवदत्त है। इसी प्रकार जीव-जगत्-शक्तियों का अतिक्रमण करके भी ब्रह्म की सत्ता है। जीव-जगत् ही ब्रह्म नहीं है। इसलिए श्रुति में 'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' कहा है। इसी रूप को बतलाने के लिए ब्रह्म को निर्गुण कहा जाता है। इसी आधिक्य के कारण वह गुणातीत है। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिक ब्रह्म को निर्गुण होते हुए भी सगुण भी मानते हैं।

उपनिषदों में सगुण और निर्गुणपरक श्रुतियां बहुशः उपलब्ध होती हैं। अद्वैत वेदान्त में सगुणपरक श्रुतियों की संगति निर्गुण ब्रह्मपरकता में लगायी गयी है। रामानुज और निम्बार्क दार्शनिकगण निर्गुणपरक श्रुतियों की संगति सगुणपरकता में लगाते हैं। दोनों ही सम्प्रदाय अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार उपनिषदों को ही मानते हैं। उपनिषदों का समन्वय करने वाला ब्रह्मसूत्र भी उनका आधार ग्रन्थ है। विशेष बात यह है जिन श्रुतियों को अद्वैत वेदान्ती निर्गुण ब्रह्मवाद के समर्थन में उद्धृत करते हैं, उन्हीं को निम्बार्क दार्शनिक भी करते हैं।

ब्रह्म सगुण और निर्गुण—निम्बार्क दर्शन में ब्रह्म का सगुण और निर्गुण-दोनों रूपों में समन्वय किया गया है। निर्गुण मात्र कहने पर ब्रह्म के स्वरूप के विषय में कुछ कहना शेष रह जाता है। इस कारण ब्रह्म के सगुण भाव को भी यथार्थ रूप में मान लेना चाहिए। यही उपनिषद्-शास्त्र एवं ब्रह्मसूत्र को अभिप्रेत है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, फिर भी वह सर्वातीत है। आकाश के समान निर्लेप होने के कारण ही उसे निर्गुण भी कहा जाता है। निर्गुण होने पर भी समस्त गुणों का वह आधार है। गीता में कहा है कि जितने भी सत्व-रजस्-तमस् आदि भाव हैं—सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। मेरे से ही

प्रकाशित हैं, फिर भी उनमें मैं लिप्त नहीं हूं ।[1]

ब्रह्म हेयगुण रहित है, इसमें 'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोक:' इत्यादि श्रुति प्रमाण है तथा सगुण होने में 'सत्य संकल्प:, सत्यकाम: ………' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।[2] य: सर्वज्ञ, सर्ववित्, आदि श्रुति भी ब्रह्म के सगुण भाव में प्रमाण है। वस्तुत: सगुणत्व और निर्गुणत्व में कोई विरोध नहीं है। महाभारत शान्ति पर्व के ३३८ अध्याय में तृतीय श्लोक में 'निर्गुणाय गुणात्मने' इत्यादि का उल्लेख निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी सन्तदास जी ने अपने वेदान्त दर्शन की भूमिका में ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों भावों के समर्थन में किया है ।[3] उनका भी यही कहना है कि सगुणत्व और निर्गुणत्व में वस्तुत: कोई विरोध नहीं है। गुणी कहने से गुणी के अन्दर गुण भी आ जाते हैं। फिर भी गुणी निम्बार्क-दर्शन के अनुसार गुणों का अतिक्रमण करके भी हो सकता है। अंश सर्व अवयवों से अंशी के अन्तर्गत होते हैं, किन्तु अंशी अंश को अतिक्रमण करके भी विद्यमान होता है। इन दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध होने में किसी प्रकार विरोध नहीं ।[4] इनके मत में ब्रह्म सम्पूर्ण जीव-जगत् को उत्पन्न करता हुआ स्वयं जीव-जगत् से अतीत और अविकारी भी है। यह मत द्वैत में अद्वैत की स्थापना करता है, अर्थात् द्वैत भी उतना ही सत्य है जितना कि अद्वैत।

अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता—रामानुज के ही समान निम्बार्क दार्शनिक भी निर्विशेष ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय नहीं बताते। उनके अनुसार 'ब्रह्म च स्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्निरतिशयबृहत्तमोभगवान्वासुदेवाख्य:, बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परंब्रह्म, बृहन्तोगुणाअस्मिन् इति श्रुते:'[5] इस प्रकार अनन्तगुण, निरतिशय गुण सम्पन्न ब्रह्म ही जिज्ञासा का विषय है। वह अनन्त गुण सम्पन्न श्री पुरुषोत्तम ब्रह्म अभिधेय है। उसी ब्रह्म की जिज्ञासा का कथन 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र में हुआ है।

निम्बार्क आचार्य माधव मुकुन्द के अनुसार अद्वैतवेदान्त में प्रतिपादित निर्विशेष ब्रह्म जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म में विषयता नहीं है। अत: अविषय होने के कारण उसे जिज्ञासा का विषय नहीं कहा जा सकता। यदि उसको जिज्ञासा का विषय कहा गया तो उसमें विषयत्व आने से वह ब्रह्म नहीं रह सकेगा। माधव मुकुन्द ने अद्वैतवादी से प्रश्न किया है कि शुद्ध ब्रह्म जिज्ञासा का विषय है? अथवा मायोपहित ब्रह्म? अथवा अज्ञानाध्यस्त ईश्वर जिज्ञासा का विषय है? प्रथम पक्ष को अद्वैतवादी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में जिज्ञासा-विषयत्व

---

१. ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ गीता ७। १२

२. छान्दोग्य उपनिषद् ८। १। ५

३. वेदान्त दर्शन पारिजात सौरभ, भूमिका—स्वामी सन्तदास, पृ० २२

४. वही।

५. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४१८

नहीं रह सकता। अन्यथा वह मिथ्या हो जाएगा। उन्होंने अनुमान द्वारा जिज्ञासा के विषय ब्रह्म को मिथ्या सिद्ध किया है। अनुमान इस प्रकार है—'शुद्ध ब्रह्म, (पक्ष) मिथ्या, (साध्य) क्योंकि वह जिज्ञासा का विषय है, (हेतु) जो जिज्ञासा का विषय है, वह मिथ्या होता है, जैसे अद्वैतवाद में स्वीकृत घटादि वस्तु (दृष्टान्त)। अद्वैतवेदान्त के अनुसार घटादि वस्तु मिथ्या है, उसमें जिज्ञासा का विषयत्व भी है। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु-साध्य की व्याप्ति सिद्ध होने पर हेतु बल से पक्ष में भी साध्य की सिद्धि हो जाएगी। साध्य मिथ्यात्व है। शुद्ध ब्रह्म में इस प्रकार मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाएगी, जोकि अद्वैत वेदान्त को अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार से अपसिद्धान्त भी हो जाएगा। अर्थात् शुद्ध ब्रह्म को अद्वैत वेदान्ती अविषय ही मानते हैं। उसमें विषयत्व स्वीकार करने पर सिद्धान्त की हानि होगी।[1] और अद्वैतवादी मायोपहित ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि उपहित ब्रह्मविषयक जिज्ञासा से पुनः-पुनः श्रवण-मनन आदि करने पर उपहित ब्रह्म का ही साक्षात्कार होगा एवं तद्विषयक अज्ञान का ही उक्त-श्रवण, मनन आदि से नाश होगा। ऐसी स्थिति में शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश नहीं हो सकेगा। वह ज्यों का त्यों रह जाएगा। फलतः एवंभूत ब्रह्म की जिज्ञासा द्वारा मोक्ष नहीं हो सकेगा। अर्थात् परमपुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो पाएगी। यदि उपहित ब्रह्म विषयक जिज्ञासा से प्रेरित श्रवण-मनन आदि द्वारा मुक्ति होती है, मान लिया जाए, तब शुद्ध ब्रह्म की स्वीकृति अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यर्थ हो जाएगी, क्योंकि परमपुरुषार्थ मुक्ति के लिए शुद्ध ब्रह्म की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि उपहित ब्रह्मविषयक जिज्ञासा से प्रेरित श्रवण-मनन आदि के द्वारा मुक्ति नहीं होती, तब एवंभूत ब्रह्म विषयक जिज्ञासा व्यर्थ ही है। माधव मुकुन्द आगे और भी कहते हैं कि एवंभूत मुक्ति में अप्रयोजक उपहित ब्रह्म के ज्ञान के लिए अद्वैत वेदान्तियों द्वारा भाष्यादि की रचना भी जल-ताड़न के समान व्यर्थ है। इसलिए भाष्यादि की रचना में अद्वैत वेदान्तियों को प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।[2]

अद्वैत वेदान्ती 'अज्ञानाध्यस्त ईश्वर जिज्ञासा का विषय' इस तृतीय पक्ष को भी नहीं मान सकते, क्योंकि अध्यास स्वयं अनुपपन्न है। अध्यास का लक्षण करने पर भी सद्असद्-अनिर्वचनीय के रूप से अज्ञान का निर्वचन नहीं हो पाएगा। अज्ञान का निर्वचन करने पर भी अज्ञान में अध्यस्त ईश्वर वस्तुतः अद्वैतवाद के अनुसार मिथ्या ही है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार मिथ्या ईश्वर मुक्ति का प्रयोजक नहीं हो सकता। यह बात उपहित ब्रह्म की आलोचना में कही जा चुकी है।

अद्वैतवेदान्त सम्मत ब्रह्म का लक्षणखण्डन—निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त स्वीकृत ब्रह्म के लक्षणों का प्रत्याख्यान किया है। वेदान्त दर्शन के द्वितीय सूत्र की भाष्य-टीकाओं में अद्वैत वेदान्तियों ने ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण भेद से-दो लक्षण किए हैं। निम्बार्क आचार्यों के अनुसार ये दोनों ही लक्षण ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का बोध

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४१९, माधव मुकुन्द।
२. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४१९, ४२०

कराने में समर्थ नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के वे दोनों लक्षण —स्वरूपलक्षण एवं तटस्थलक्षण हैं। स्वरूप से अभिन्न लक्षण ही स्वरूप लक्षण है। जैसे 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है, अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप है। यावत्काल लक्ष्य में न रहता हुआ लक्ष्येतर का जो व्यावर्तक होता है, उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं—जैसे 'यतः वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। प्रलय काल में ब्रह्म में जन्मादिकारणत्व लक्षण न रहने पर भी वह इतर व्यावर्तक है, इस लिए तटस्थ लक्षण है।

स्वरूप लक्षण खण्डन—लक्षण सब समय इतर व्यावर्तक हुआ करता है, साथ में वह वस्तु का असाधारण धर्म भी होता है। निम्बार्क आचार्यों का कहना है कि अद्वैतवादी द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के स्वरूप लक्षण से असाधारण धर्म का बोध और इतर व्यावृत्ति नहीं होती। इसलिए वस्तु के स्वरूप मात्र को लक्षण नहीं कहा जा सकता। घट-स्वरूप कहने पर घट का लक्षण नहीं हो जाता। स्वरूप मात्र ही इतर का व्यावर्तक नहीं हो जाता।[1] इस पर अद्वैतवादियों का कथन है कि ब्रह्म के स्वरूपलक्षण के विषय में उक्त प्रकार दोष देना संगत नहीं है। स्वरूप में धर्मधर्मिभाव कल्पना करके स्वरूपलक्षण मानने पर पूर्वोक्त दोष नहीं लग सकता। ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञान स्वरूप एवं अनन्तस्वरूप है। स्वरूपभूत सत्य, ज्ञान एवं अनन्त में सत्यत्व, ज्ञानत्व एवं अपरिच्छिन्नत्व धर्म की कल्पना करके ब्रह्म का लक्षण करने पर किसी प्रकार का दोष नहीं है। कहा भी गया है 'आनन्दोविषयानुभवोनित्यत्वंचेतिसन्तिधर्माः, अपृथक्त्वेपिचैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते'। इस पर निम्बार्क आचार्य माधव मुकुन्द का उत्तर है कि कल्पित धर्म कभी भी व्यावर्तक नहीं हो सकते। यदि 'आदित्योयूपः' इस प्रकार यूप की कल्पना की जाय तो कल्पित सूर्यत्व धर्म सूर्य-भिन्न वस्तुओं का व्यावर्तक हो सकेगा क्या? नहीं हो सकता। इसी प्रकार सत्यत्व आदि को ब्रह्म के कल्पित धर्म मानने पर भी वे धर्म ब्रह्मेतर का व्यावर्तक नहीं हो सकते। न ही ब्रह्म के असाधारण धर्म हो सकते हैं, अतः वे लक्षण भी नहीं हो सकते।[2] स्वरूप लक्षण के विषय में निम्बार्क आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट ने भी इसी प्रकार के विचार वेदान्त कौस्तुभ प्रभा में प्रकट किये हैं।[3] वेदान्त कौस्तुभ प्रभाकार केशव काश्मीरी भट्ट एवं परपक्षगिरिवज्रकार माधवमुकुन्द अद्वैतवेदान्ती से प्रश्न करते हैं कि सत्यादि यदि ब्रह्म के स्वरूपलक्षण हैं तो क्या वे सत्यादि शब्द यौगिक हैं अथवा रूढ? यौगिक शब्द प्रकृति एवं प्रत्ययार्थ के योग से बनते हैं एवं प्रयुक्त होते हैं। ऐसी स्थिति में सत्यादि को अद्वैतवादी यौगिक स्वीकार नहीं कर सकते। करने पर अखण्डार्थत्व-भंग हो जायेगा। जो शब्द प्रकृति प्रत्ययार्थ के योग से प्रयुक्त होते हैं, वे अखण्डार्थक किस प्रकार हो सकते हैं? इसी प्रकार सत्यादि शब्दों को रूढ़ भी नहीं कह सकते, क्योंकि रूढ़ शब्द, गुण, जाति आदि

---

१. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, १।१।१

२. कल्पितस्यव्यावर्तकत्वासम्भवात्। अन्यथायूपे कल्पितादित्यत्वस्यासूर्यात् व्यावर्तकत्वापत्तेः। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२३

३. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृ० ३८

अनेकधर्म-विशिष्ट वस्तु का ही बोधक होते हैं। निर्विशेष वस्तु का बोधक नहीं होते।[१] शब्दमात्र ही सप्रवृत्तिपूर्वक निवर्त्तक हुआ करता।

अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि सत्यादि पद अपनी शक्ति वृत्ति द्वारा सविशेष वस्तु के प्रतिपादक होते हैं, तथा वे लक्षणा द्वारा निर्विशेष वस्तु के भी प्रतिपादक हो सकते हैं, अर्थात् सत्यादि पदों का शक्यार्थ सविशेष वस्तु, एवं लक्ष्यार्थ निर्विशेष वस्तु है। निम्बार्क आचार्य माधवमुकुन्द का इस पर कहना है कि अद्वैतवादी उक्त प्रकार से लक्षणा-द्वारा निर्विशेष वस्तु को सत्यादि पदों द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते। लक्षणा का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि लक्षणा जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था भेद से दो प्रकार की है। यदि अद्वैत वेदान्ती सत्यादि पदों में जहत्स्वार्थ लक्षणा स्वीकार करते हैं तो 'गंगायाम् घोष:' वाक्य में लक्षणा के समान स्थिति होगी। उक्त वाक्य में गंगा पद का शक्यार्थ प्रवाह एवं जहत् स्वार्थ लक्षणा का अर्थ गंगातट है। यहाँ पर गंगा पद शक्यार्थ को त्याग करके अगंगारूप तीर का प्रतिपादक हुआ है। क्या सत्यादि पद भी शक्यार्थ को त्याग करके जहत् स्वार्थ लक्षणा द्वारा शक्य भिन्न अशक्य अर्थ के प्रतिपादक होंगे ? ऐसा मानने पर सत्य पद का लक्ष्यार्थ असत्य, ज्ञान पद का लक्ष्यार्थ जड़ एवं अनन्त पद का लक्ष्यार्थ सान्त एवं परिच्छिन्न होगा। इससे 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' इस वेदान्त वाक्य का लक्षणा द्वारा अर्थ होगा कि असत्य, जड़, परिच्छिन्न ब्रह्म है। तथा ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का अर्थ होगा असत्य, जड़ एवं परिच्छिन्न। इस प्रकार अद्वैतवाद की हानि होगी।[२] यदि सत्यादि पदों में अजहत् स्वार्थ लक्षणा स्वीकार करें तो सत्यादि पद सत्यत्वादि-विशिष्ट अर्थ के बोधक होंगे। जैसे नील, शुक्ल आदि पद अजहत् स्वार्थ लक्षणा द्वारा नीलादि गुण-विशिष्ट द्रव्य के बोधक होते हैं। सत्यादि पदों को भी वैसे ही समझना चाहिए। ऐसा होने पर अद्वैत-वेदान्त अभिप्रेत अखण्डार्थ भंग हो जाएगा तथा विशिष्टार्थकत्व की आपत्ति होगी।

सत्यादि पदों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का बोध कराने के लिए यदि अद्वैतवादी यहाँ पर भाग-त्याग-लक्षणा अर्थात् जहदजहत् लक्षणा स्वीकार करें तो भी स्वरूप लक्षण की संगति नहीं बैठती। विशिष्ट अर्थ का वाचक शब्द यदि विशेषणांश को परित्याग करके मात्र विशेष्य अंश का प्रतिपादक होता है तो ऐसे स्थलों में भाग त्याग लक्षणा स्वीकार की जाती है। इस लक्षणा के अनुसार सत्यादि पद विशिष्ट भाग मात्र के बोधक होने पर भी उन पदों का अर्थ निर्धारण नहीं हो पाएगा। सत्यत्वादि धर्मविशिष्ट वस्तु ही सत्यादि पदों का शब्दार्थ है। सत्यत्वादि धर्मों का त्याग करके सत्यादि पद किसके बोधक होंगे ? सत्यत्व रहित सत्य पद का लक्षणार्थ क्या है ? निश्चय कर पाना संभव नहीं। सर्वधर्म-रहित वस्तु का निर्देश नहीं हो सकता। वह किसी पद का न तो शब्दार्थ हो सकती है और न लक्ष्यार्थ। सत्य, ज्ञान और अनन्त इन तीन पदों द्वारा यथाक्रम से सत्यत्व, ज्ञानत्व और

---

१. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृ० ३८ परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२३

२. लक्षणांगीकारे जहत्स्वार्थाभिप्रेताचेत, गंगायाम् घोष इत्यत्र यथा प्रवाहरूप शक्य-त्यागेन अगंगारूपस्तीर: लक्ष्यार्थ:, तथा प्रकृते सत्यादि पदार्थ त्यागेन असत्य जड़ परिछिन्न रूपो वाक्यार्थ: स्यात्। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२४

अनन्तत्व—इन तीनों विशेषणों का परित्याग करके यदि विशेष्यमात्र का बोधन किया जाए तो भी समीचीन नहीं होगा, क्योंकि विशेष्य स्वरूप ब्रह्म है, तीन पदों द्वारा विशेष्य रूप से अवबोधित ब्रह्म का भी त्रैविध्य हो जाएगा। इस प्रकार ब्रह्म निर्विशेष तथा अद्वितीय न रह पाएगा। वह सविशेष एवं सद्वितीय हो जाएगा। यदि अद्वैतवादी भागत्याग-लक्षणा द्वारा प्रतिपादित विशेष्य का एकार्थकत्व स्वीकार करते हैं, तब सत्यादि तीनों पदों का एकार्थकत्व हो जाएगा, इस प्रकार वे पर्यायवाचक शब्द हो जायेंगे। घट, कुम्भ, कलश ये तीन पद जिस प्रकार एकार्थक हैं, उसी प्रकार सत्य, ज्ञान एवं अनन्त—ये तीन पद भी एकार्थ हो जाएगे। अतः तीनों पदों में से किसी एक को छोड़कर शेष दो पद व्यर्थ हो जाते हैं या निरर्थक हो जाते हैं।[1]

यदि अद्वैतवादी भागत्याग-लक्षणा द्वारा शक्य विशेष्यांश को सत्यादि पदों का लक्ष्यार्थ माने तब केवल विशेष्यांश सत्यादि पदों का वाच्य होगा तथा सत्यादि पद उसके वाचक होंगे। ऐसी स्थिति में घटादि पद वाच्य घटादि वस्तुओं के समान सत्यादि पद वाच्य ब्रह्म भी सविशेष हो जाएगा तथा निर्विशेषत्व की हानि होगी। अद्वैतवादी के मत में सविशेष वस्तुमात्र ही मिथ्या है, अतः ब्रह्म भी मिथ्या हो जाएगा। आचार्य माधव मुकुन्द ने परपक्षगिरिवज्र में इस प्रकार से निर्विशेष वस्तु के लिए मिथ्यात्वानुमान प्रस्तुत किया है—'निर्विशेषं वस्तु मिथ्या शक्यैकदेशत्वात् तवमते घटत्वादिवत्'[2] अद्वैतवाद में शक्यैकदेश वस्तुमात्र को मिथ्या कहा गया है। जैसे घटपद का शक्यैकदेश घटत्व अद्वैतवादी के मत में मिथ्या है, उसी प्रकार निर्विशेष वस्तु अथवा निर्विशेष ब्रह्म भी मिथ्या है।

अद्वैतवादियों का कहना है कि सत्यादि पदों का शक्य सत्यत्वादि अनृतादि का व्यावृत्तिस्वरूप हैं। अर्थात् अनृत व्यावृत्ति सत्यत्व, जड़ व्यावृत्ति ज्ञानत्व अथवा अस्व-प्रकाश व्यावृत्ति ज्ञानत्व एवं परिछिन्नव्यावृत्ति अनन्तत्व है। इस प्रकार सत्यादि पद असत्यादि की व्यावृत्ति द्वारा लक्ष्य ब्रह्म में पर्यवसित होते हैं। इस प्रकार वाच्य न होकर भी उक्त रूप से ब्रह्म लक्षित हो सकता है। इसके उत्तर में माधव मुकुन्द का कहना है कि असत्यादि व्यावृत्ति सत्यादि ज्ञान का धर्मी ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मस्वरूप के रूप में असत्यादियों का व्यावृत्तिज्ञान होता है, यही अद्वैत वेदान्त का कहना है। व्यावृत्तिज्ञान धर्मिज्ञान साध्य है। धर्मिज्ञान के बिना व्यावृत्ति ज्ञान नहीं होता। असत्यादि व्यावृत्ति का अर्थ असत्यादि भेद है। भेदज्ञान भेदाश्रयीभूत धर्मिज्ञान की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार धर्मिज्ञान पूर्व से ही अपेक्षित हुआ।[3] ब्रह्मस्वरूपज्ञानसाध्य व्यावृत्ति ज्ञान होगा, क्योंकि व्यावृत्ति ज्ञान धर्मिज्ञान साध्य है। व्यावृत्ति के लिए व्यावृत्ति के ज्ञापक व्यावर्तक धर्मों को स्वीकार करना होगा। व्यावर्तक धर्मों को स्वीकार करने का अर्थ होगा ब्रह्म भी सविशेष है। यदि ब्रह्मनिष्ठ व्यावर्तक धर्मों को परमार्थिक न मानकर व्यावहारिक माना जाए तो भी समीचीन नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक व्यावर्तक धर्म द्वारा पारमार्थिक व्यावृत्ति की

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२५
२. वही, पृ० ४२५
३. वही, पृ० ४२७

सिद्धि नहीं हो सकती। अतः ब्रह्म भी व्यावहारिक सत्य हो जाएगा। व्यावर्तक धर्मों को मिथ्या मानने पर व्यावृत्ति भी मिथ्या होगी। ब्रह्म में असत्यादि व्यावृत्ति स्वीकार करने पर व्यावृत्ति-विशिष्ट ब्रह्म में सद्वितीयत्व एवं सविशेषत्वापत्ति-दोष होंगे; और भी 'सत्यं, ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' इस ब्रह्म लक्षण वाक्य में ब्रह्म लक्ष्य है और सत्यादि लक्षण हैं। लक्ष्य एवं लक्षण को एक वस्तु मानने पर अर्थबोध संभव नहीं। लक्ष्य के अनुसार लक्षण किया जाता है। लक्ष्य उद्देश्य होता है एवं लक्षण विधेय। सत्यादि पद यदि ब्रह्म मात्र के प्रतिपादक हैं तब तो उद्देश्य एवं विधेय का भेद नहीं रहता। ऐसी स्थिति में उक्त प्रकार लक्षण द्वारा लक्ष्य का बोध नहीं हो सकता।

अद्वैतवादी यदि स्वरूप लक्षण का लक्ष्य उपहित ब्रह्म को मानते हैं, तो उपहित ब्रह्म में ही असत्यत्वादि की व्यावृत्ति सिद्ध होगी, शुद्ध ब्रह्म में नहीं।[1] इसलिए माधवमुकुन्द का कहना है कि उक्त स्वरूपलक्षण उपहित ब्रह्म का नहीं हो सकता। वह लक्षण शुद्ध ब्रह्म का ही होना चाहिए। शुद्ध ब्रह्म को लक्ष्य करने के लिए ही अद्वैतवादी लक्षणा का आश्रय लेते हैं, परन्तु कठिनाई यह है कि शुद्ध ब्रह्म में सत्यत्व आदि धर्म नहीं हैं। वह निर्धर्मक है। इसलिए शुद्ध और उपहित दोनों में ही सत्यादि पदों की प्रवृत्ति नहीं है।

आचार्य माधवमुकुन्द का कहना है कि ब्रह्म यदि किसी पद का वाच्य नहीं होता तो लक्ष्य भी नही हो सकता। इनके अनुसार लक्ष्यत्व एवं वाचत्व-दोनों में सामानाधिकरण्य नियम है।[2] इन दोनों में से एक के न रहने से दूसरा भी नहीं रहता। जो वस्तु पदान्तर का लक्ष्य होगी, वह पदान्तर का वाच्य भी होगी। जिस प्रकार गंगा-पद का लक्ष्य तीर, तीर शब्द का वाच्य भी है। जो वाच्य नहीं है, वह लक्ष्य भी नहीं होता—जैसे आकाश कुसुम। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अवाच्य ब्रह्म में लक्ष्यत्व भी असिद्ध हो जाता है।[3]

'सत्यं ज्ञानं'—इत्यादि लक्षण वाक्य में सत्य पद द्वारा ब्रह्म से असत्य व्यावृत्ति की सिद्धि होती है अर्थात् सत्यादि पदों द्वारा असत्यादिकों की व्यावृत्ति होती है, यही अद्वैतवादियों का कथन है। इस व्यावृत्ति का आश्रय ब्रह्म व्यावृत्त एवं सत्यादि व्यावर्तक हैं। व्यावृत्ति के प्रतियोगी को व्यावृत्य, एवं अनुयोगी को व्यावृत्त कहा जाता है। सत्य पद द्वारा व्यावृत्य जो प्रतियोगी है, उसका स्वरूप क्या है? असत्य पद का वाच्य यदि सद्विलक्षण होता है तो वह असत् होगा, जोकि अद्वैतवादियों को स्वीकार नहीं है। इसी प्रकार उसे असद्विलक्षण मानने पर दो सत् वस्तुओं की स्वीकृति के कारण अद्वैतसिद्धान्त की हानि होगी। माधवमुकुन्द ने और भी प्रश्न उठाया है कि असत्यादि की व्यावृत्ति ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? भिन्न होने पर द्वैतापत्ति होगी, अभिन्न

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२६

२. लक्ष्यत्ववाच्यत्वयोः सामानाधिकरण्यनियमात्, परहक्षगिरिवज्र, पृ० ४२६

३. यथागंगापदलक्ष्यस्यतीरशब्दवाच्यत्वं, यत्रैवं तत्रैवं ख-पुष्पवत् इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां लक्ष्यत्वासिद्धेः, परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२६

होने पर व्यावृत्ति एवं ब्रह्म में एकत्वापत्ति होगी तथा व्यावृत्ति एवं ब्रह्म में अभेद व्यवहार हो जाएगा।

पुनश्च पूछा जा सकता है कि असत्यादि की व्यावृत्ति ब्रह्म में कल्पित है या यथार्थ ? व्यावृत्ति यदि कल्पित है तो व्यावर्तक धर्म भी कल्पित होगा, परन्तु कल्पित धर्म व्यावर्तक नहीं हो सकता। आचार्य माधवमुकुन्द का कहना है कि यदि कल्पित धर्म व्यावर्तक हो सकता है, तब तो ब्रह्म हत्या इत्यादि महापाप कार्यों में धर्मत्व की कल्पना करके उस कल्पित धर्मत्व द्वारा ब्रह्म हत्यादि अधर्मों की व्यावृत्ति करायी जा सकती थी। ऐसी स्थिति में कल्पित धर्मत्व से भी अधर्म की व्यावृत्ति की आपत्ति हो जाएगी। शूद्रादि में कल्पित ब्राह्मणत्व धर्म से शूद्रादिव्यावर्तकत्व की आपत्ति होगी, इसीलिए कल्पित पक्ष समीचीन नहीं है। यथार्थ पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, करने पर अद्वैतसिद्धान्त भंग हो जाएगा।[1]

इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैतवेदान्तियों द्वारा प्रदर्शित ब्रह्म के स्वरूपलक्षण का अनेकों युक्ति एवं तर्कों से खण्डन किया है। इन खण्डन युक्तियों में मूल बात यह है कि निर्विशेष वस्तु का किसी भी प्रकार लक्षण नहीं हो सकता। निर्विशेष वस्तु लक्षण एवं प्रमाणों से रहित है, ऐसा तो अद्वैतवेदान्ती भी मानते हैं, परन्तु निम्बार्क एवं रामानुजादि आचार्यों के विचार से निर्विशेष वस्तु हो नहीं सकती। अतः उनके अनुसार निर्विशेष ब्रह्म की कल्पना कल्पनामात्र है। निर्विशेष ब्रह्म की न सिद्धि हो सकती है और न ही उसका कोई अस्तित्त्व है। सिद्धि-असिद्धि लक्षण-प्रमाणाधीन हैं, लक्षण प्रमाणों से सप्रकारक वस्तु का ही ज्ञान हो सकता है, निष्प्रकारक का नहीं। अतः स्वरूपलक्षण नाम से वस्तु का कोई लक्षण हो ही नहीं सकता। ऐसा निम्बार्काचार्यों का विचार है।

तटस्थलक्षणखण्डन—चूँकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्विशेष है, इस लिए पूर्वोक्त प्रकार से ही ब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी सम्भव नहीं है। अद्वैतवादियों ने 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण माने हैं। निम्बार्काचार्यों को ब्रह्म की जगत्कारणता के विषय में कोई सन्देह नहीं है। ब्रह्म जगत्कारण है, सम्पूर्ण सृष्टि, स्थिति, प्रलय ब्रह्म से हैं—ये बातें निम्बार्क दार्शनिकों को भी मान्य हैं, परन्तु वह ब्रह्म निर्विशेष—निष्प्रकारक है, यह बात उन्हें स्वीकार नहीं। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि लक्षण के लिये वस्तु को लक्ष्य बनाना पड़ता है। लक्षण और लक्ष्य में लक्ष्य लक्षण-भाव सम्बन्ध होता है, अर्थात् वाच्य-वाचकत्व सम्बन्ध होता है। ब्रह्म में जोकि निर्विशेष है, तटस्थ लक्षण का लक्ष्यत्व धर्म मानना पड़ेगा और लक्ष्यत्व धर्मविशिष्ट ब्रह्म सविशेष हो जायेगा, वह निर्धर्मक नहीं रह पायेगा।[2] लक्षण का लक्ष्य ब्रह्म को मानने पर ब्रह्म लक्षण-लक्ष्यभाव सम्बन्ध से सम्बन्धित हो जायेगा। सम्बन्धित ब्रह्म निष्प्रकारक नहीं हो सकता, वह सप्रकारक हो जायेगा। अध्यस्त ब्रह्म अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार भी मिथ्या है, इसीलिये उसे अर्थात् उपहित ब्रह्म को तटस्थ लक्षण का लक्ष्य नहीं माना जा

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४२६, माधवमुकुन्द।
२. वेदान्तकौस्तुभ प्रभा, पृ० ३९-४१

सकता, मानने पर वह मिथ्या ब्रह्म का लक्षण होगा। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म का चाहे स्वरूप लक्षण करें या तटस्थ लक्षण, वे इन लक्षणों से शुद्ध ब्रह्म की ओर ही संकेत करना चाहते हैं। पर कठिनाई यह है कि शुद्ध ब्रह्म अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म का किसी भी प्रकार लक्षण नहीं हो सकता। यह ऐसी कठिनाई है कि जिस प्रकार कोई कहे कि मेरे मुँह में जिह्वा नहीं है। इस प्रकार के कथन करने में ही सिद्ध होता है कि वक्ता के मुंह में जिह्वा है। यह विरोधपूर्ण बात है कि वक्ता स्वयं जिह्वा के अनस्तित्व का कथन करे। इसी प्रकार निर्विशेष ब्रह्म का लक्षण-कथन आदि विरोध पूर्ण बातें हैं।

अद्वैतवेदान्त अभिप्रेत ब्रह्म की जगत्कारता का खण्डन—श्रुति में ब्रह्म को जगत् कारण कहा गया है, परन्तु अद्वैतवेदान्त द्वारा स्वीकृत ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता। ब्रह्म को जगत्कारण मानने पर अद्वैतवादी से यह प्रश्न किया जा सकता है कि उसके मत में शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण है? अथवा उपहित ब्रह्म या अज्ञान अध्यस्त परमेश्वर जगत् का कारण है? तीनों पक्षों में से अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक पक्ष भी संगत नहीं है? शुद्ध ब्रह्म को जगत्कारण स्वीकार करने पर पूछा जायेगा कि शुद्ध शब्द का क्या अर्थ है? क्या भगवान् श्री पुरुषोत्तम ही शुद्ध ब्रह्म हैं? अथवा सर्व प्रमाणों का अविषय निर्विशेष चेतनमात्र शुद्ध ब्रह्म है? श्री भगवान् पुरुषोत्तम को शुद्ध अद्वैतवादी नहीं मानते। मानने पर उनकी सिद्धान्त हानि एवं द्वैताद्वैतवाद में प्रवेश होगा।[1] सर्वप्रमाणों का अविषय निर्विशेष चित् मात्र ब्रह्म को शुद्ध ब्रह्म कहने पर उपनिषदों में उक्त तद्विषयक ईक्षण, बहुभवन आदि संकल्पों की उपपत्ति उसमें नहीं होगी।[2] उपहित ब्रह्म को अद्वैतवादी जगत्कारण नहीं स्वीकार कर सकते। निम्बार्काचार्यों का कहना है कि सावयवरूपवत् द्रव्य दर्पण आदि में मुखादि का प्रतिविम्ब सम्भव है, किन्तु निराकार शुद्ध चैतन्य का अविद्या में प्रतिविम्ब कैसे सम्भव हो सकता है? अतः शुद्ध ब्रह्म की अविद्या उपाधि नही वन सकती। उपाधि के बिना ब्रह्म उपहित नहीं हो सकता। अतः उपहित ब्रह्म जगत् कारण नहीं वन सकता।[3] अज्ञान अध्यस्त परमेश्वर भी अद्वैतमतानुसार जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या एवं अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती।[4]

अद्वैत वेदान्तभिप्रेत ब्रह्म का जगत् उपादानत्व खण्डन—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जगत् उपादान भी कहा गया है। निम्बार्क आचार्यों का कहना है कि अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, अतएव उपादानत्व भी उसमें नहीं माना जा सकता। आचार्य माधवमुकुन्द ने परपक्षगिरिवज्र में उपादान के विषय में प्रश्न

---

१. श्रीभगवान्पुरुषोत्तमोवासर्वप्रमाणाविषयोनिर्विशेषसंज्ञकोवा? नाद्यः, अनंगीकारात् अन्यथापसिद्धान्तापत्तेरस्मत्पक्षप्रवेशाच्च। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३०।

२. श्रुत्युक्तेक्षण बहुभवन्संकल्पाद्यनुपपत्तेःसर्वप्रमाणशून्यस्यअवस्तुत्वात्। वही, पृ० ४३१

३. वेदान्तकौस्तुभ प्रभा, पृ० १८ से २० तक।

४. वही सू० १। १। १, परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३३

उठाया है कि 'किं तावदुपादानत्वं ? भ्रमाधिष्ठानत्वंमितिचेत् न', अर्थात् उपादानत्व क्या है ? भ्रम का अधिष्ठान ही उपादानत्व है, ऐसा अद्वैतवेदान्ती नहीं कह सकते, क्योंकि घटादि का उपादान मृत्तिकादि है। उसमें भ्रम अधिष्ठानत्व व्यवहार नहीं होता। घट सत्य वस्तु है, सत्य वस्तु का उपादान सत्य है, इसीलिए मृत्तिका भ्रमाधिष्ठान नहीं है। शुक्ति रजत भ्रम में रजत में शुक्ति के उपादानत्व का व्यवहार नहीं होता। भ्रमकालीन रजत का अधिष्ठान शुक्ति है, परन्तु उसे रजत का उपादान नहीं कहा जाता। अर्थात् जो वस्तुतः भ्रम का अधिष्ठान है, वह उसका उपादान नहीं है।[1] अद्वैतवादियों का कहना है कि 'असत्यरूपान्तर आपत्ति विवर्त एवं सत्य रूपान्तर आपत्ति परिणाम होता है।' रूपान्तर कहीं पर मिथ्या और कहीं पर सत्य दोनों प्रकार का होता है। वस्तुतः ब्रह्म और अज्ञान दोनों ही जगत् उपादान हैं, ब्रह्म विवर्त उपादान एवं अज्ञान परिणामी उपादान है। मिथ्या रजत् शुक्ति का विवर्त है एवं शुक्ति विषयक अज्ञान का परिणाम है। शुक्ति-रजत जिस प्रकार उभय-उपादानक है, उसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म एवं अज्ञान उभय-उपादानक है। इस प्रकार उपादानकारणविषयक स्पष्टीकरण को निम्बार्क दार्शनिक स्वीकार नहीं करते। निम्बार्क दार्शनिक आचार्य माधव मुकुन्द के अनुसार मिथ्याभूत वस्तु का उपादान भी मिथ्या ही होता है। इसके लिये वे सत्कार्यवाद का तर्क उपस्थित करते हैं। अद्वैतवादी भी सत्कार्यवादी हैं। निम्बार्क दार्शनिक भी सत्कार्यवादी हैं। अद्वैतवादी सत्कार्यवादी होते हुए भी विवर्तवादी भी हैं; और निम्बार्क दार्शनिक सत्कार्यवादी होते हुए परिणामवादी हैं। आचार्य माधवमुकुन्द ने दोनों दर्शनों में स्वीकृत साधारण सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कार्य कारणस्वरूप होता है, मान करके अद्वैत वेदान्त के ऊपर आक्षेप किया है। उनका कथन है कि यदि उपादान सत्य होगा तो उपादेय अर्थात् कार्य भी सत्य होगा।[2] इसीलिए सत्य वस्तु असत्य रूप नहीं हो सकती। यदि सत्य वस्तु असत्य रूप हो जाती, तो असत्य कार्य के लिए असत्य उपादान का अन्वेषण नहीं करना होता। सत्य वस्तु की असत्य रूपापन्नता स्वीकार करने पर सत्य वस्तु का स्वभाव त्याग-प्रसंग आ जायेगा। ब्रह्म यदि जगत् विवर्तरूप असत्य रूप धारण कर लेता है, तो उसमें उस प्रकार की योग्यता रूप धर्म अवश्य मानना पड़ेगा, ऐसा मानने पर ब्रह्म निर्विशेष नहीं रहता।[3]

माया के उपादानत्व का खण्डन—यदि अद्वैतवादी शुद्ध ब्रह्म को जगत् उपादान न कह करके माया को जगत् उपादान कहते हैं तो भी समीचीन नहीं है। माया को उपादान मानने पर आचार्य माधव मुकुन्द एवं केशव काश्मीरी भट्ट के अनुसार अद्वैतमत में सिद्धान्त हानि का प्रसंग आ पड़ेगा। अद्वैतवाद में जगत् का निमित्त एवं उपादान एक है। इसका समर्थन वेदान्त सूत्र में भी 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादि सूत्र

---

१. वेदान्तकौस्तुभ प्रभा सू० १। ४। २३, पृ० १३७, १७४
२. मिथ्याभूतस्य मिथ्याभूतं एव उपादानम्, अन्वेषणीयम् सत्यत्वे कार्यस्यापि कारण-स्वभावतया सत्यत्वप्रसंग इति। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३४
३. तथात्वे च निर्विशेषत्व भंगात्। वही, पृ० ४३४

द्वारा किया जा चुका है। इसलिये अद्वैतवादी माया को जगत् का उपादान नहीं कह सकते।[1]

अद्वैत वेदान्त अभिप्रेत ईश्वर निमित्तकारणत्व खण्डन—अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को निमित्ति कारण कहा गया है। उनके मत में मायोपहित चैतन्य ही ईश्वर है। आचार्य माधवमुकुन्द ने पूर्व पक्ष के रूप में 'मायावछिन्न चेतन ईश्वर' है ऐसा कहा है। साथ में उन्होंने आपत्ति यह दिखाई कि मायाविशिष्ट होने के कारण ईश्वर भ्रान्त होगा, इससे परमेश्वर के विषय में सर्वज्ञत्व एवं सत्यकामत्व आदि प्रतिपादक श्रुतियां व्यर्थ हो जायेंगी। आचार्य माधव मुकुन्द 'यः सर्वज्ञ, सत्यकामः सत्यसंकल्पः,' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रदर्शित सर्वज्ञत्व, सत्य संकल्पत्व, सत्यकामत्व आदि गुणों को माया-विशिष्ट चैतन्य में मानने को तैयार नहीं हैं।[2] अद्वैत वेदान्त के अनुसार ये गुण शुद्ध में नहीं हो सकते, मायोपहित में ही हो सकते हैं। निम्बार्काचार्यों के कथन का तात्पर्य यह है कि मायाविशिष्ट चेतन सीमित हो जाया करता है,, सीमित होने के कारण उसमें सर्वज्ञत्वादि गुण संभव नहीं हैं। इधर अद्वैत वेदान्तियों के कथन का तात्पर्य है कि सर्वज्ञत्वादि गुणों की हम किसी न किसी रूप में धारणा बना सकते हैं। चूंकि शुद्ध ब्रह्म हमारी धारणा से परे है, अतः इन गुणों को शुद्ध में मानने का अर्थ शुद्ध को सीमित करना होगा। अद्वैत वेदान्त में माया को चेतन की उपाधि और मायोपहित चेतन को ईश्वर कहा है। विशिष्ट विशेषण-प्रयुक्त होता है। विशेषण-विशिष्ट को ही विशिष्ट कहते हैं। शुद्ध चेतन की माया विशेषण न होकर उपाधि है। उपहित एवं विशिष्ट में इस प्रकार अन्तर हो जाता है। इस अन्तर की ओर निम्बार्क आचार्यों ने शायद ध्यान न दिया हो। जो भी हो, निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार माया से विशिष्ट होने के कारण पूर्वोक्त गुण अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत ईश्वर में नहीं हो सकते, उनके मत में ईश्वर निमित्त कारण नहीं बन सकता।

अद्वैतवादी यह कह सकते हैं कि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायितं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुति के अनुसार ईश्वर को मायी अर्थात् माया-विशिष्ट होने में कोई दोष नहीं है और एवंभूत ईश्वर की निमित्तकारणता हो सकती है। निम्वार्क दार्शनिकों का उत्तर है कि उक्त प्रकार से भी अद्वैतवेदान्ती मायाविशिष्ट ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण नहीं कह सकते। उक्त श्रुति में मायी का अर्थ है मायानियन्तृत्व अर्थात् माया का नियन्ता ईश्वर है। माया का नियन्ता होने के कारण परमेश्वर स्वाभाविक रूप से सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुणों एवं शक्ति का आश्रय है। अद्वैतवादियों द्वारा स्वीकृत शुद्ध ब्रह्म में उक्त प्रकार के गुण सम्भावित नहीं हैं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यदि ईश्वर को अद्वैतवादी जगत् का निमित्त कारण कहते हैं तब उसमें जगत्कर्तृत्व धर्म मानना पड़ेगा। आचार्य माधव मुकुन्द ने अद्वैतवादियों से प्रश्न किया है कि कर्तृत्व क्या वस्तु है?

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३४ एवं वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृ० १७३, १७४
२. मायावच्छिन्नस्यभ्रान्तस्यसार्वज्ञ्यादि योगम् उपहासमात्रमेवेत्यर्थः। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३४।

क्या वह अधिष्ठान मात्रत्व है अथवा भ्रान्त के समान अध्यास-द्रष्टृत्व है ? अथवा जादूगर के समान अन्य के लिए सम्मोहनजनकत्व ही ईश्वर का कर्तृत्व है ? या घटादि कार्य के लिए कुलाल के समान उपादान गोचर प्रयत्न आदिमत्व ही ईश्वर-कर्तृत्व है ?[1] उक्त चार पक्षों में से कोई भी पक्ष कर्तृत्व का लक्षण नहीं बन सकता। प्रथम पक्ष इसलिए समीचीन नहीं है कि उसमें अधिष्ठान होना ही कर्त्ता होना कहा गया है। अधिष्ठान उपादान को कहते हैं। जब अधिष्ठान को कर्त्ता कहेंगे तो अधिष्ठान अतिरिक्त कर्तृत्व नहीं रह जायेगा। इस प्रकार दोनों शब्द समानार्थक अर्थात् एकार्थक हो जायेंगे। श्रुति में संकल्प पूर्वक सृष्टि का कथन है। वह अद्वैत पक्ष में सम्भव नहीं है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रान्त पुरुष में बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व नहीं होता। माधवमुकुन्द का कहना है कि ईश्वर का जगत् कर्तृत्व यदि अध्यासपूर्वक होता तो उसमें जीवकर्मानुसार सृष्टि न करने पर भी विकारित्व एवं निर्दयत्व के दोष नहीं लगते। ऐसी स्थिति में उक्त दोषों की आपत्ति को दूर करने के लिए ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्मसूत्र २।१।३३ में जीव कर्मसापेक्षत्व का तर्क उपस्थित न किया होता। अध्यस्त कर्तृत्व में किसी प्रकार का वास्तविक दोष हो ही नहीं सकता था, फिर सूत्रकार के द्वारा उसके परिहार करने की क्या संगति है ? क्या अप्राप्त दोष के परिहार के लिए सूत्र की रचना की गई ? अतः जगत्कर्तृत्व का अद्वैत-वादी के द्वारा प्रस्तुत पक्ष समीचीन नहीं है। इसी प्रकार माधवमुकुन्द ने मायाविमोहकत्व पक्ष का भी खण्डन किया है। श्रुति में 'नामरूपेव्याकरवाणीति' छान्दोग्य ६।३।२, 'नामरूपेव्याकरोत्' छान्दोग्य ६।३।३, इत्यादि सत्य सृष्टि का उल्लेख है। जब मायावी माया सृष्टि का दर्शन कराता है, उसमें सत्य सृष्टि नहीं होती। ऐसी स्थिति में ईश्वर को मायावी कर्ता कहने पर पूर्वोक्त श्रुतियों का विरोध हो जायेगा।[2]

इसी प्रकार जगत् कर्तृत्व का 'कुलालादिवत्' चतुर्थ पक्ष भी समीचीन नहीं है। अद्वैतवादी के अनुसार ईश्वर का जगत् कर्तत्व कल्पित है। इसीलिए कुलालादि के समान सत्य कर्तृत्व ईश्वर में वे नहीं मान सकते। घट को कुलाल सत्य घट के रूप में बनाता है। न घट मिथ्या है और न घट निर्माण ही मिथ्या है।[3] इस प्रकार ईश्वर में जगत्कर्तृत्व अनुपपन्न होने से अद्वैतवेदान्त अभिप्रेत ईश्वर की निमित्तकारणता सिद्ध नहीं होती।

निम्बार्क आचार्यों के अनुसार उक्त प्रकार से अद्वैत मत में न ब्रह्म जगत् का उपादान बन सकता है और न माया। न ही मायोपहित ईश्वर जगत् का निमित्त कारण बन सकता है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में जो ब्रह्म को अभिन्न निमित्त उपादान कहा जाता है, वह अनुपपन्न है, मूल बात यह है कि निर्विशेष वस्तु में कारणता की उपपत्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

निम्बार्क मत में परमेश्वर की जगत्कारणता—निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३५

२. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३७

३. नापि चतुर्थः, कार्यस्यकल्पितत्वे उक्त लक्षणकर्तृत्वायोगात्। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३८

जो परमेश्वर समस्त प्रकार हेय गुणों से रहित एवं अनन्त कल्याण गुण युक्त हैं, जो सर्वज्ञ जो सर्वशक्तिमान् हैं, जिनकी शक्ति एवं गुण अचिन्त्य एवं स्वाभाविक हैं, जो मुक्त पुरुषों द्वारा प्राप्य हैं तथा मुमुक्षुओं द्वारा उपास्य हैं, एवंभूत सच्चिदानन्दस्वरूप श्री भगवान् पुरुषोत्तम ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण हैं। 'यतो वा इमानि भूतादि जायन्ते' इत्यादि उपनिषद् मन्त्रों द्वारा इन्हीं परमेश्वर को जगत् कारण कहा गया है। इन्हीं परमेश्वर से जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय होती हैं। परमेश्वर ही जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। सम्पूर्ण वेद-उपनिषदों का तात्पर्य इन्हीं पुरुषोत्तम परमेश्वर में ही है।[1] निर्गुण, निर्विशेष निःशक्तिक ब्रह्म जगत्कारण है, यह श्रुति को अभिप्रेत नहीं है। निम्बार्क दर्शन में प्रतिपादित जगत् कारण परमेश्वर सविशेष, सगुण है। जहां पर श्रुति में 'अशब्दमस्पर्शम्' आदि निर्गुण बोधक वाक्य आये हैं, उन वाक्यों का तात्पर्य गुणों की इयत्taराहित्य में है। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' आदि मन्त्रों द्वारा परमेश्वर के गुणों की हम कल्पना कर सकते हैं। परमेश्वर या ब्रह्म इस दर्शन के अनुसार समस्त दोषों से रहित है। परमेश्वर जगत् का उपादान है, क्योंकि अन्तिम सत्य के रूप में परमेश्वर ही सर्वोपरि है। निम्बार्क दार्शनिक ब्रह्म या परमेश्वर को उपादान कारण परमेश्वर की शक्ति के माध्यम से मानते हैं।[2] चूंकि परमेश्वर शक्तिमान् है। शक्ति उनसे भिन्न नहीं है, इसीलिए उपादानत्व परमेश्वर में ही आ जाता है। परमेश्वर की माया शक्ति मिथ्या नहीं है, जैसा कि अद्वैतवेदान्त में कहा गया है। सदसद्अनिर्वचनीया नहीं है। वह तो परमेश्वर की शक्ति है। उस माया शक्ति से परमेश्वर शक्तिमान् है। यह स्वाभाविक शक्ति है। कहा भी है 'परास्य शक्तिविवधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच'। इसी स्वाभाविकी शक्ति से परमेश्वर जगत् की सृष्टि करता है। वह जगत् को वस्तुतः अपने स्वरूप ही से उत्पन्न करता है। वस्तुतः ही पालन करता है और वस्तुतः ही संहार करता है। परमेश्वर जगत् अतीत होते हुए भी अतीत, अनागत और वर्तमान सब उसी में एकीभूत होकर अवस्थित हैं। इस अर्थ में परमेश्वर एक है। परमेश्वर सृष्टि से विकार को प्राप्त नहीं होता; वह निर्विकार ही रहता है।[3] ब्रह्म को एकमात्र निर्गुण कहने पर उसमें जगत्कारणता सिद्ध करना सम्भव नहीं। सृष्टि, स्थिति, लय आदि उसी के कार्य हैं। निम्बार्क दर्शन के अनुसार ब्रह्म का सगुणत्व एवं निर्गुणत्व दोनों ही नित्य सिद्ध हैं।[4] इसीलिए निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी सन्तदासजी ने वेदान्त दर्शन में लिखा है कि 'अतएव निम्बार्क स्वामी ने जो ब्रह्म को सगुण और निर्गुण इन दोनों रूपों से व्याख्यात किया है, वही समीचीन सिद्ध होता है। एक ओर ब्रह्म पूर्ण स्वभाव, सर्वविद् विकार रहित एक अद्वैत है, यही उसका निर्गुणत्व है, और दूसरी ओर

---

१. भगवान् श्री पुरुषोत्तमोमुकुन्द एव जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणम् तत्रैव उक्त लक्षणस्य समन्वय इति सिद्धान्तः। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ४३८

२. Indian philosophy-Vol. II, pase 754. Dr. Radhakrishnan.

३. वेदान्त दर्शन, पृ० ९७, स्वामी सन्तदास।

४. वही, पृ० ९८

वह सर्वशक्तिमान् है, अपने स्वरूप को अनन्तभाव से प्रकट करके पृथक्-पृथक् रूपों से आस्वादन करता है—अद्वैत होकर भी द्वैत होता है, यही उसका सगुणत्व और द्वैतत्व है।'[1] ब्रह्म का द्विरूपत्व ही द्वैताद्वैत सिद्धान्त है। इसी का उपदेश भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में किया है। ब्रह्म की द्विरूपता अविद्याजनित नहीं है। जीव-जगत् को ब्रह्म से भिन्न रूप समझना तथा इनको मिथ्या समझना ही अविद्या है। उपनिषद् में घट, शराब आदि तथा स्वर्ण वलयादि के दृष्टान्तों द्वारा श्वेतकेतु को भेदाभेद ही समझाया गया है। नानात्व में एकत्व है, यही बात कही गयी है। जो ब्रह्मवित् होता है, वह नाना पदार्थों में ब्रह्म को ही देखता है। बृहदारण्यक १। ४। में 'ब्रह्म — सर्व अभवत् वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्व भवति' इस प्रकार का विवरण आया है, वह एक ब्रह्म को बहुरूप में दर्शनार्थ है, एक ब्रह्म को बहुरूप में अर्थात् सर्वत्र देखना अविद्या नहीं, अपितु विद्या है। बहुत्वरूप में परिवर्तित होने की क्षमता ब्रह्म में है। इसलिए अनन्त जीव-जगत् के रूप में वह परिवर्तित हो जाता है। अनन्त जीव-जगत्को जो कि ब्रह्म के ही नाना रूप हैं, पृथक् सत्तावान् वस्तु के रूप से जो व्यक्ति समझता है, वही अज्ञानी है। सभी वस्तुओं को ब्रह्म के ही रूप समझना ब्रह्मविद्या या ब्रह्म ज्ञान है। सम्पूर्ण दृश्य जगत् का मिथ्यात्व श्रुति में वर्णित नहीं है। श्रुति में जीव जगत् को ब्रह्म स्वरूप के अन्तर्गत अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न रूप में उपदेश किया गया है। इसीलिए तो ऋषि वामदेव ब्रह्म ज्ञानी होने पर भी केवल ब्रह्म को न देखकर ब्रह्म के ही रूप मनु, सूर्य आदि को भी देखते हैं। अर्थात् ऋषि वामदेव की दृष्टि में सूर्य, मनु आदि ब्रह्म रूप ही हैं। इसीलिए जहां पर श्रुति में ब्रह्म का सगुण रूप में वर्णन किया गया है, वह अज्ञान कल्पित या अविद्याकल्पित नहीं है।[2]

ब्रह्म सच्चिदानन्द है—निम्बार्क दर्शन के अनुसार भी ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द रूप है, परन्तु सत्-चित् आनन्द इनके अनुसार ब्रह्म के गुण भी हैं। अद्वैत वेदान्तियों ने ब्रह्म को सत्-चित् आनन्द स्वरूप सिद्ध किया था। वे इस बात का जोरदार खण्डन करते हैं कि सत्-चित् आनन्द आदि ब्रह्म के गुण हैं। निम्बार्क दार्शनिकगण इस विषय में रामानुज का अनुसरण करते हुए लगते हैं, वे परमेश्वर स्वरूप ब्रह्म का वर्णन सत्ता-विशिष्ट, चित्-विशिष्ट एवं आनन्द विशिष्ट रूप में करते हैं। ब्रह्म और ब्रह्म की सत्ता में अविनाभाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार गुण गुणी के बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार सत्य आदि गुण भी ब्रह्म को छोड़कर नहीं रह सकते। सूर्य प्रभा जिस प्रकार सूर्य को त्याग करके नहीं रह सकती, उसी प्रकार सत्, चित् एवं आनन्द आदि गुण ब्रह्म को छोड़कर नहीं रहते। अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार इन गुणों को गुण न मानकर ब्रह्म स्वरूप माना है, वैसा निम्बार्क दार्शनिक नहीं मानते।

ब्रह्म ज्ञानगुण विशिष्ट है, तभी तो वह सर्वज्ञ एवं नित्य ज्ञानी है और जगत् का निमित्तकारण भी बनता है। ब्रह्म सत् है, इसी कारण वह अपनी शक्ति द्वारा जगत् का उपादान कारण भी बनता है। ब्रह्म आनन्द गुण विशिष्ट है, इसी कारण वह भक्तों द्वारा

---

१. वेदान्त दर्शन, स्वामी सन्तदास, पृ० १००
२. वेदान्त दर्शन भूमिका, स्वामी सन्तदास, पृ० १६, १८

प्राप्य एनं उपास्य है ।

ब्रह्म का आनन्द वह साधारण आनन्द नहीं है । ब्रह्म का आनन्द, आनन्दाधिक्य है । श्रुति में आनन्द से ही सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं, कहा गया है । इससे ब्रह्म आनन्द गुण का आधार है, यह सिद्ध होता है । इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है 'यो वैभूमा तत् सुखं अस्ति, भुमैव सुखम्' । जो भूमा है, वह महान् है, उसी में सुख है अर्थात् वही सुख का आधार है, जो अल्प है, जो क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं । जो परिछिन्न है, जो सीमाबद्ध है, वही अल्प है, अल्प में सुख नहीं, ब्रह्म अनन्त है, इसलिए आनन्दमय है ।[1]

ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीय' भी है, परन्तु 'एकमेवाद्वितीय' का अद्वैत वेदान्त द्वारा कृत अर्थ निम्बार्क आचार्यों को स्वीकार नहीं है। निम्बार्क आचार्यों के अनुसार ब्रह्म एक है। वह अद्वितीय भी है, अर्थात् सर्वोपरि सत्ता के रूप में एकमात्र सत्ता, जिसे द्रव्य भी कह सकते हैं, ब्रह्म ही है । इस अर्थ में ब्रह्म अद्वितीय है । एक या अद्वितीय का यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म में जीव-जगत् गुण भी नहीं । जीव-जगत् रूपी गुण तो अनिवार्य रूप से ब्रह्म में हैं, क्योंकि निम्बार्क दर्शन के अनुसार गुणी में गुण होता ही है । पर गुण गुणी में आश्रित है । गुणी गुणों को अपने में आत्मसात् किया हुआ होता है । गुणों के रहने पर भी गुणी एक ही है, इस अर्थ में ब्रह्म एकमेवाद्वितीय है ।

चतुर्व्यूह—निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर लीलापूर्वक वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध नामक चार रूपों में अपने आपको प्रकाश करता है । ये चारों ब्रह्म के परमूर्त रूप हैं । इन चारों को चतुर्व्यूह कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ही वासुदेव हैं । संकर्षण वासुदेव का अंश है । प्रद्युम्न संकर्षण का अंश एवं अनिरुद्ध प्रद्युम्न का अंश है । इस चतुर्व्यूह का अंगी अर्थात् प्रधान भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव हैं और संकर्षणादि वासुदेव के अंगस्वरूप हैं । इसीलिए 'दशश्लोकी' में श्रीकृष्ण को 'व्यूहांगिनम्' कहा है ।[2] पंचरात्र एवं पुराणों में भी चतुर्व्यूह का विशेष रूप से वर्णन है । महाभारत में भी चतुर्व्यूह का विस्तृत वर्णन मिलता है ।[3]

उक्त चारों रूप वस्तुतः परमेश्वर ब्रह्म ही हैं । स्वयं परब्रह्म ही इन रूपों में अपने आपको परिवर्तित करता है । ब्रह्मसूत्र २। २। ४२। के भाष्य में शंकराचार्य ने इस चतुर्व्यूहवाद का खण्डन किया है । आचार्य रामानुज ने शंकर के खण्डन का प्रत्याख्यान करके ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य में चतुर्व्यूहवाद की स्थापना की है । परन्तु श्री निम्बार्काचार्य ने शंकर द्वारा उक्त मत के खण्डन का उल्लेख अपने भाष्य में नहीं किया है, अपितु उन्होंने उक्त

---

१. वेदान्त दर्शन, स्वामी सन्तदास, पृष्ठ १२१, १२२

२. व्यूहांगिनं ब्रह्मपरं वरेण्यंध्यायेमकृष्णं कमलेक्षणं हरिम् । दस श्लोकी, श्लोक ४ ।

३. यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता वै द्विजसत्तमाः ।
सः वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा सनातनः २५
यो वासुदेवो भगवान्क्षेत्रज्ञोनिर्गुणात्मकः ।
ज्ञयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः । ४० प्रद्युम्नादयोऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः सः ईश्वरः ।। महाभारत शान्तिपर्व ४१। १। ३। ६ अध्याय ।

खण्डन को शक्तिवाद का खण्डन माना है। निम्बार्क सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट ने शकर द्वारा उक्त चतुर्व्यूहवादखण्डन की वेदान्तकौस्तुभप्रभा में आलोचना की है और पंचरात्र मत की प्रतिष्ठा की है। यद्यपि बाद में उन्होंने भी शंकर द्वारा उक्तखण्डन को श्री निम्बार्क के समान ही शक्तिवाद खण्डन परक माना है।[1]

ब्रह्म एवं जीव जगत्—निम्बार्क मत में ब्रह्म एवं जीव-जगत् स्वरूपतः तथा धर्मतः भिन्नाभिन्न हैं। ब्रह्म कारण है, जीव-जगत् कार्य हैं। ब्रह्म शक्तिमान् है, जीव-जगत् शक्ति हैं। ब्रह्म अंशी है, जीव-जगत् अंशमात्र हैं, परन्तु कार्य एवं कारण अंश एवं अंशी इनके मत में भिन्नाभिन्न हैं। कार्य कारणात्मक है, इसलिए वह स्वरूपतः कारणअभिन्न है, परन्तु कार्य ही कारण नहीं है। इसीलिए कार्य कारण से स्वरूपतः भिन्न भी है। मृत्-पिण्ड कारण है तो घट उसका कार्य है। घट मृत्तिका रूप है, इसीलिये वह मृत्तिका से अभिन्न है। परन्तु मृत पिण्ड से घट का स्वरूप भिन्न भी है। कार्य कारण से धर्मतः भिन्नाभिन्न है। घट का धर्म कम्बुग्रीवादिमत्व तथा कार्य जल आहरण आदि हैं। इस प्रकार मृत् पिण्ड से घट का धर्म और कार्य भिन्न हुए, इतना होने पर भी मृत्तिका दोनों में उपस्थित है। इस प्रकार मृत्तिका रूप धर्म दोनों में समान भी है और इसलिए कारण से धर्मतः कार्य भिन्नाभिन्न है। कारण की ओर से देखने पर कारण कार्य से स्वरूपतः एवं धर्मतः भिन्नाभिन्न है। कारण कार्य में समाया हुआ है, फिर भी कार्य के अतिरिक्त भी है। जैसाकि मिट्टी घट में निहित है, फिर मृतपिण्ड घट से भिन्न भी है, इसी प्रकार ब्रह्म और जीव-जगत् स्वरूपतः भिन्नाभिन्न हैं। जीव-जगत् ब्रह्मस्वरूप हैं, फिर भी ब्रह्म ब्रह्म ही है, जीव जीव है, ब्रह्म नहीं। जगत् जगत् ही है, ब्रह्म नहीं है। फिर भी जीव जगत् सत्य एवं नित्य हैं। इसीलिये निम्बार्क मत में भेद एवं अभेद दोनों ही समान भाव से सत्य हैं। दोनों में कोई विरोध नहीं है। भेद अभेद दोनों ही स्वाभाविक हैं। इसके लिये निम्बार्क आचार्य गण अहि कुण्डल का दृष्टान्त दिया करते हैं।[2] जिस प्रकार अहि कुण्डल में भेद एवं अभेद अविरुद्ध हैं। उसी प्रकार ब्रह्म और जीव-जगत् के भेदाभेद को समझना चाहिए। अहित्व और कुण्डलत्व के रूप में दोनों में भेद है, किन्तु सर्पत्व के रूप में भेद नहीं है। सर्प और कुण्डल अपृथक्सिद्ध हैं। कुण्डल रूप में सर्प अव्यक्त है और लम्बायमान रूप में व्यक्त है, किन्तु व्यक्त अवस्था में भी सूक्ष्म अवस्था अनुगत रहती है, इसीलिए उनमें स्वाभाविक भेदाभेद है। इसी प्रकार कारण ब्रह्म भिन्नरूप से प्रतीत होने पर भी वह कार्य से अभिन्न भी है, फिर भी कार्य से कारण स्वतन्त्र है। कारण कार्याधीन नहीं है।[3]

अभेदवाद का खन्डन एवं भेदावाद की स्थापना—निम्बार्क दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण विश्व अर्थात् जीव-जगत् ब्रह्म से भिन्नाभिन्न रूप हैं। इसीलिए भेद एवं अभेद दोनों ही सत्य हैं। अद्वैत-वेदान्त भेद को मिथ्या कहता है। आचार्य श्री हर्ष ने खण्डनखण्ड-

---

१. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, सूत्र २।२।४२-४५

२. वही, पृ० ३। २। २९

३. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ६३४, ६३५

खाद्य में भेद की आलोचना की है। एवं उसका खण्डन करके अनिर्वचनीयवाद की स्थापना की है।[1] अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि भेद मिथ्या है, क्योंकि भेद का स्वरूप निर्धारण नहीं हो सकता। घट का भेद पट में है, वह घटभेद पटस्वरूप है या पट से भिन्न पट का धर्म विशेष है ? भेद अधिकरण स्वरुप है या अधिकरण अतिरिक्त है ? भेद प्रतियोगि-सापेक्ष है। भेद अधिकरणस्वरूप नहीं हो सकता।[2] इसी प्रकार अद्वैतवेदान्ती द्वितीय विकल्प के रूप में भी भेद का खण्डन करते हैं। भेद को वस्तुस्वरूप से भिन्न धर्म मानने पर वह भेद पुनः अन्यभेदवान् होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[3] इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्तियों ने भेदको भिन्न मानने पर अन्योन्याश्रय दोष भी दिया है। निम्बार्क दार्शनिक माधवमुकुन्द ने परपक्षगिरिवज्र में अभेदवाद का खण्डन करते हुए भेद का समर्थन किया है। माधवमुकुन्द का कहना है कि अद्वैतवेदान्तियों की भेद विषयक आपत्तियाँ निर्मूल हैं। उनके अनुसार एक वस्तु किसी रूप में सापेक्ष होने पर भी अन्य रूप में निरपेक्ष भी हो सकती है।[4] इसलिए भेदअधिकरणस्वरूप हो सकता है। भूतल में घटभेद पक्ष में भूतल-भूतलत्वरूप में निरपेक्ष है, किन्तु घट भेद के अधिकरण रूप में भूतल सापेक्ष भी हो सकता है। द्वितीय पक्ष का उत्तर देते हुए माधवमुकुन्द कहते हैं कि भेदरूप धर्मी में भेदत्व धर्म के भेद रहने पर भी भेद धर्मी से भिन्न नहीं है, इसलिए अनवस्था दोष नहीं दिया जा सकता। भेदत्व धर्म का भेद अधिकरण स्वरूप है। इसीलिये भेद धारा स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। निरवधिक भेद धारा स्वीकार करने पर ही अनवस्था दोष होता है। भूतल में घट प्रतियोगिक भेद में घट का भेद एवं भेद का भेद दोनों एक हैं, क्योंकि भेदत्व धर्म समान है, इसीलिए भेद परम्परा की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। भूतल निष्ठघटनिरूपित भेद एवं भूतलनिष्ठ भेदनिरूपित भेद—ये दोनों एक हैं। जिस प्रकार तार्किक मत में समवाय सम्बन्ध निरूपक जाति, गुण, कर्मादि भेद से समवाय भिन्न नहीं होता, अपितु एक रहता है, उसी प्रकार भूतलनिष्ठ घटभेद आदि में भी समझना चाहिए। वेदान्तियों ने जो अन्योन्याश्रय दोष दिया था वह भी संगत नहीं है। भेद प्रत्यक्ष में प्रतियोगी ज्ञान कारण होने पर भी अनुयोगी से भिन्न रूप में प्रतियोगी ज्ञान कारण नहीं है। किन्तु प्रतियोगिता अवच्छेदक धर्म रूप से प्रतियोगी ज्ञान भेद प्रत्यक्ष में कारण है। घट में स्तम्भ के भेद प्रत्यक्ष में स्तम्भस्वरूप से स्तम्भ का ज्ञान कारण है, किन्तु घट से भिन्न रूप में स्तम्भ का ज्ञान उक्त भेद प्रत्यक्ष में कारण नहीं है। प्रकृत स्थल में भी यही समझना चाहिए। माधव मुकुन्द ने अद्वैत वादियों से प्रश्न किया है कि यदि अद्वैतवादी भेद स्वीकार नहीं करते तब तो उनको स्वपक्ष परपक्ष में भेद ज्ञान नहीं होगा। ऐसी स्थिति में वे स्वपक्ष का समर्थन एवं परपक्ष का खण्डन नहीं कर पायेंगे।

---

१. खण्डनखण्डखाद्य-चतुर्थ परिच्छेद, भेद खण्डन, प्रकरण।
२. खण्डनखण्डखाद्य पृ० ५७४, ५७५ शारदा टीका भी।
३. खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ५७९-५८१ शारदा टीका भी।
४. भूतलत्वादिना निरपेक्षत्वेऽपि अधिकरणत्वेन सापेक्षत्वेक्षतेरभावात्। परपक्षगिरिवज्र, पृ० २०

उन्होंने अद्वैतवादियों पर पुनः आक्षेप किया है कि यदि अद्वैतवादी भेद स्वीकार नहीं करते तब स्वप्रकाश ब्रह्म से अस्वप्रकाश प्रपंच का भेद नहीं कर पायेंगे। सत्य ब्रह्म से मिथ्या प्रपंच का भेद नहीं होगा। अर्थात् सत्य मिथ्या भेद भी सम्भव नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में प्रपंच के साथ ब्रह्म का अभेद सिद्ध होगा तथा ब्रह्म भी प्रपंच के समान मिथ्या होने लगेगा अथवा प्रपंच ब्रह्म के समान सत्य हो जायेगा। स्वयं आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में नित्यानित्यवस्तु विवेक आदि विवरण द्वारा नित्यानित्य वस्तु में भेद बतलाया है। ऐसी स्थिति में अद्वैतवादी भेद स्वीकार न करके आचार्य वाक्य का विरोध कर रहे हैं।[1]

इस प्रकार आचार्य माधवमुकुन्द यह सिद्ध करते हैं कि भेद प्रमाण-सिद्ध है। अद्वैतवादी जो भेद का खण्डन करना चाहते हैं, उनके प्रयास करने के विपरीत भी भेद सिद्ध हो ही जाता है। भेद बाधक कोई भी प्रमाण नहीं है। आचार्य माधवमुकुन्द का-कहना है कि अनिर्वचनीय के रूप में भी भेद की सिद्धि नहीं हो सकती। भेद को अनिर्वच-नीय सिद्ध करने में जितने भी तर्क दिये गए हैं वे सब तर्काभास हैं।[2] माधव मुकुन्द का प्रश्न है कि यदि भेद अनिर्वचनीय है तो जीव-ब्रह्म-भेद अनिर्वचनीय क्यों नहीं है? माधव मुकुन्द ने अद्वैतवेदान्ती के ऊपर और आक्षेप किये हैं कि अद्वैतवेदान्ती जो भेदमात्र को मिथ्या कहते हैं उनके स्वसिद्धान्त के अनुसार वह प्रतिकूल है। अद्वैतवेदान्ती को ब्रह्म में प्रपंच भेद मानना पड़ेगा। प्रपंचभेद मोक्ष में भी रहेगा। मोक्ष में स्थित प्रपंचभेद अबाध्य-भेद होगा और अबाध्यभेद पारमिथक भेद सिद्ध होगा।[3] यदि प्रपंच भेद मिथ्या है तो प्रपंच सत्य होगा। इस प्रकार माधवमुकुन्द ने अद्वैतवेदान्तियों के भेद मिथ्यावाद का खण्डन किया है तथा भेदाभेद को पारमार्थिक सत्य सिद्ध किया है। निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार गुण-गुणी में भेद-अभेद स्वाभाविक हैं। जीव-जगत् के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध भेदाभेद सम्बन्ध है। जीव-जगत् ब्रह्म के अधीन हैं, इसीलिए कारण रूप ब्रह्म के अंश हैं। इस रूप में ब्रह्म से जीव-जगत् अभिन्न हैं, और जीव-जगत् के रूप में वे भिन्न भी हैं।

रामानुज का विशिष्ट अद्वैतवाद एवं निम्बार्क दार्शनिक—निम्बार्क दर्शन स्वाभाविक भेदाभेदवादी दर्शन है। इसी कारण निम्बार्क दार्शनिकों ने रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद अर्थात् जीव-जगत्-विशिष्ट ब्रह्मवाद का खण्डन किया है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ करते हुए आचार्य माधवमुकुन्द ने परिपक्षगिरिवज्र में लिखा है कि 'तत्र चेतन विशिष्टं च अचेतन विशिष्टं च विशिष्टे तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्'[4] अर्थात् चेतनविशिष्ट एवं अचेतनविशिष्ट—इस प्रकार दोनों का जो अद्वैत है वह विशिष्टाद्वैत है। इस मत में जीव-जगत्विशेषणविशिष्ट परमेश्वर ही एकमात्र सत्य है। जीव और जगत् विशेषण के रूप में सत्य हैं। विशेषण का अन्तर्भाव विशिष्ट में हो जाता है। जिस

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० २४
२. न च अनिर्वचनीयो भेदोऽंगीक्रियते·········परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ २८।
३. वही, पृष्ठ ३२।
४. वही, पृष्ठ ६११।

प्रकार अवयवी में अययवों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना है। आचार्य माधवमुकुन्द ने इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान किया है। उनकी आपत्ति है कि चेतन जीव एवं अचेतन जगत् ब्रह्म के विशेषण नहीं हो सकते। विशेषण सब समय व्यावर्तक धर्म हुआ करता है। जिस प्रकार 'रामो दाशरथिः' इस स्थल में दाशरथि पद विशेषण है एवं व्यावर्तक भी, क्योंकि राम कहने पर सामान्यतया परशुराम, बलराम, दाशरथि राम—इन तीन रामों की उपस्थिति होती है। जब दाशरथि राम कह देते हैं तो परशुराम और बलराम—दोनों रामों की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि वे दोनों राम तो हैं, पर दशरथ का राम नहीं है। अतः दाशरथि शब्द विशेषण होता हुआ इतर व्यावर्तक है। विशिष्टाद्वैतवाद में जीव-जगत् को जो विशेषण माना गया है, वे दोनों विशेषण किसके व्यावर्तक होंगे? व्यावर्तक हुए बिना विशेषण नहीं हुआ करता।[1] चित् और अचित् रामानुज के मत में दोनों विशेषण हैं। इन विशेषणों द्वारा व्यावृत ब्रह्म है। किन्तु व्यावृत्ति के प्रतियोगी व्यावर्त्य प्रसिद्ध नहीं हैं। चित् अचित् एवं ब्रह्म के अतिरिक्त व्यावर्त्य नाम की कोई वस्तु रामानुज मत में नहीं है। अतः व्यावर्त्य के बिना जीव-जगत् को व्यावर्तक मानकर विशेषण नहीं कह सकते। विशिष्टाद्वैतवाद में जीव-जगत्-ब्रह्म—इन तीनों के अतिरिक्त चतुर्थ तत्त्व नहीं है, जिसकी कि जीव-जगत् विशेषणों के द्वारा व्यावृत्ति हो सके। जीव-जगत् का विशेषणत्व असिद्ध है। विशेषण के असिद्ध होने हर विशिष्ट की भी असिद्धि हो जाती है। दण्ड अभाव से पुरुष के रहते हुए भी दण्डी पुरुष का अभाव हो जाता है; और भी विशेष बात यह है कि यदि ब्रह्म जीव-जगत् विशिष्ट होगा तो विशिष्ट होने के कारण उसमें जीव-जगत् के अल्पज्ञत्व एवं जड़त्व आदि गुण भी होंगे तथा ब्रह्म अशेष कल्याण गुणों का आश्रय नहीं रह पायेगा। यदि कहा जाय कि ब्रह्म तो सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व आदि गुण सम्पन्न हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा कि विशेषण प्रयुक्त अल्पज्ञत्व एवं जड़त्वादि गुण भी ब्रह्म में कहीं न कहीं पर रहेंगे। इस प्रकार ब्रह्म एक देश में कल्याण गुण सम्पन्न एवं अन्य देश में अकल्याण गुण सम्पन्न हो जायेगा। ऐसे ब्रह्म की स्थिति वैसी होगी जैसे मनुष्य के शरीर के एक देश में चन्दन आदि का लेप और दूसरे पार्श्व में कीचड़ आदि का क्रियात्मक लेप किया जाय।[2] इसलिये विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार सर्व-नियन्ता परमेश्वर की व्याख्या नहीं हो सकती। निम्बार्क दार्शनिक रामानुज के समान ब्रह्म को आत्मा अथवा शरीरी, जीव-जगत् को शरीर कहते हैं। वे जीव-जगत् को ब्रह्म का कार्य अथवा शक्ति कहते हैं। इनके अनुसार चेतन अचेतनरूप जगत् ब्रह्मात्मक है; जो यदात्मक होता है, वह उससे अपृथक्सिद्ध होता है, जैसे घट मृदात्मक है, इसीलिये मृत्तिका से अपृथक्-सिद्ध है। जीव जगत् ब्रह्माधीन हैं, इसलिए भी जीव जगत् ब्रह्म से अपृथक्-सिद्ध हैं। इस प्रकार ब्रह्मकारण से कार्य रूप जगत् की अपृथक्-सिद्धि सिद्ध

---

1. व्यावर्तकत्वं तावत् विशेषणत्वं, यथा रामोदाशरथिः……इत्यादि। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ६१२।
२. परपक्षगिरिवज्र, पृ ६१५।

करने के लिये आचार्य माधवमुकुन्द ने परपक्षगिरिवज्र में ५ अनुमान प्रस्तुत किये हैं।[1]

भास्कर मत का खण्डन—निम्बार्क के समान भास्कराचार्य भी द्वैताद्वैतवादी हैं। किन्तु निम्बार्क मत से भास्कर मत का अन्तर है। भास्कर ईश्वर का चतुर्व्यूह के रूप में वर्णन नहीं करते हैं। भास्कर के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं—कारणरूप और कार्यरूप।[2] कारण रूप में ब्रह्म एक है, किन्तु कार्य रूप में बहु। जैसे स्वर्ण रूप में स्वर्ण एक है, किन्तु कुण्डलादि रूप में अनेक हैं। इसलिए ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप है।[3] भास्कर मत में कारण-रूप अभिन्न ब्रह्म नित्य सत्य एवं स्वाभाविक है, किन्तु कार्य रूप ब्रह्म उपाधिवश नाना है। रूप धारण करना, उसका आगन्तुक भाव। स्वरूपतः ब्रह्म भेदरहित, निराकार, निर्विशेष, एक, अद्वितीय, शुद्ध एवं कारणस्वरूप है। उपाधि के योग से वह सगुण, सविशेष सावयव अर्थात् मूर्तरूप धारण करता है। इनके मत में ब्रह्म का बहुत्व अथवा द्वैतभावत्व औपाधिक है, इसलिये इनके मत को औपाधिक भेदाभेदवाद कहते हैं।[4] कार्यरूप ब्रह्म औपाधिक है, फिर भी वह मिथ्या नहीं है।[5] निम्बार्काचार्यों ने इस औपाधिक भेदाभेदवाद का भी खण्डन किया, है क्योंकि निम्बार्क मत में कारण रूप में ब्रह्म निर्विशेष नहीं हो जाता। न ही इस मत में कार्य ही औपाधिक है। इस मत में जीव-जगत् ब्रह्म की शक्ति रूप हैं, न कि औपाधिक।

आचार्य माधवमुकुन्द ने औपाधिक भेदाभेदवाद का खण्डन करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म भास्कर मत में उपाधि द्वारा आच्छादित होते हैं या नहीं? यदि आच्छादित होते हैं, तो ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादी गुण स्वाभाविक नहीं हुए। यदि सर्वज्ञत्वादि गुणों को औपाधिक माना गया तब पूछा जायेगा कि वह उपाधि सत्य है या मिथ्या? सत्य होने पर ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? यदि ब्रह्म से भिन्न है तो वह स्वप्रयुक्त अर्थात् उपाधिप्रयुक्त है या अन्य प्रयुक्त है? अथवा ब्रह्म प्रयुक्त है? उपाधि को उपाधि प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहने पर आत्माश्रय दोष होगा। अन्य-प्रयुक्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि तब अन्योन्याश्रय दोष होगा। उपाधि की सिद्धि होने पर ब्रह्म की सर्वज्ञत्वसिद्धि होगी, एवं ब्रह्म की सर्वज्ञत्व-सिद्धि होने पर उपाधि की सिद्धि होगी, इस प्रकार अन्योन्याश्रय है। उपाधि का प्रयोजक यदि नित्य हुआ उसकी निवृत्ति कभी नहीं होगी। उपाधि यदि ब्रह्म से अभिन्न है तो सर्वज्ञत्वादि का उपाधिकत्व सिद्ध नहीं होगा। साथ में उपाधि ही ब्रह्म है, इस प्रकार अभेद प्रतीति होने लगेगी। उपाधि को मिथ्या कहने पर अद्वैत मत में प्रवेश हो जायेगा जो कि भास्कर मत को अभीष्ट नहीं है।

---

१. किं च चेतनाचेतनरूपं जगत्ब्रह्मापृथक्सिद्धियोग्यं ब्रह्मामकत्वात् मृदादिवत, तन्नि-यम्यत्वात् जीवशरीरवत्...इत्यादि। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ६२८।

२. भास्कर भाष्य सूत्र १।१।४, पृष्ठ १८, १९।

३. वही, पृष्ठ १८।

४. स च भिन्नाभिन्न स्वरूपोऽभिन्नरूपं स्वाभाविकं औपाधिकन्तु भिन्नरूपम्। भास्कर भाष्य सूत्र २। ३। ४३, पृष्ठ १४१।

५. वही. पृष्ठ १६५-१६८

सर्वज्ञत्वादि धर्मों को स्वाभाषिक भी नहीं कह सकते, स्वाभाविक कहने पर पूछा जायेगा कि वे धर्म ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न हैं अथवा अभिन्न ? अथवा भिन्नाभिन्न ? अत्यन्त भेद कहने पर शास्त्र विरोध होगा। स्वयं भास्करवादियों ने गुण को अत्यन्त भिन्न मानने वालों की आलोचना की है। इसलिये अत्यन्त भिन्न एवं अत्यन्त अभिन्न भी नहीं कह सकते। अत्यन्त अभिन्न कहने पर गुण-गुणी में सामानाधिकरण्य की आपत्ति होगी। और 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, परास्य शक्तिः' इत्यादि श्रुतियों में जो ब्रह्म एवं ब्रह्म के गुणों में भेद का निर्देश किया गया है उसका विरोध होगा। इसी प्रकार तृतीय पक्ष अर्थात् स्वाभाविक भेदाभेद स्वीकार करने पर भास्कर मत का निम्बार्क मत में प्रवेश होगा।[1]

माधवमुकुन्द ने औपाधिक भेदाभेदवाद का खण्डन करने के लिये उपाधि सहेतुक है या अहेतुक आदि प्रश्न भी उठाये हैं। सहेतुक मानने पर अनवस्था दोष होगा। अहेतुक मानने पर मुक्त पुरुष के पुनः बद्ध होने की आशंका हो जायेगी। इस प्रकार औपाधिक भेदाभेदवाद निम्बार्क दर्शन में स्वीकृत नहीं हुआ है। निम्बार्क दर्शन में तो भेदाभेद ही स्वीकृत हुआ है। निम्बार्क मत में भेद भी स्वाभाविक, अभेद भी स्वाभाविक है।[2]

ब्रह्म के विषय में निम्बार्क एवं बलदेव विद्याभूषण:—निम्बार्क के ही समान आचार्य बलदेव विद्याभूषण भी ब्रह्म को सगुण, सविशेष, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अनन्त कल्याण गुणराशि, प्राकृत-हेय-गुण-दोष आदि रहित, तथा जगत् का अभिन्न-निमित्त-उपादान कहते हैं।[3] निम्बार्क के ही समान बलदेव भी चतुर्व्यूहवाद को स्वीकार करते हैं।[4] किन्तु ब्रह्म के स्वरूप के विषय में निम्बार्क मत के साथ बलदेव विद्याविभूषण के मत का अन्तर भी है। बलदेव ने परब्रह्म श्रीकृष्ण के गुण, आकृति एवं धाम समूह को परब्रह्म से अभिन्नरूप कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि बलदेव के अनुसार ब्रह्म और ब्रह्म के गुण सम्पूर्णतया अभिन्न हैं, ब्रह्म और ब्रह्म का धाम अभिन्न हैं। उन्होंने अपने गोविन्द भाष्य में कहा है कि 'गुणगुणिभेद निषेधात् स्वरूपात् गुणा न भिद्यन्ते। अत-एवज्ञानादीनां धर्मानांभगवच्छव्द वाच्यता स्मर्यते— ज्ञानशक्ति बलैश्वर्य वीर्यतेजोऽस्या-शेषतः भगवच्छव्दवाच्यानि विनाहेयगुणदिभिः इति। तथा चैकस्यैव द्वैघाभणितिरम्बु-वीचिवद् विशेषाद्भवति।'[5] आगे बलदेव ने और भी कहा है कि जिस प्रकार सर्प और सर्प की कुण्डली सम्पूर्ण रूप से अभिन्न हैं, फिर भी सर्प की कुण्डली को सर्प का गुण कहा जा सकता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म होने पर भी चित् और आनन्द को ब्रह्म के धर्म अथवा गुण कह सकते हैं। सूर्य जिस प्रकार प्रकाश का आश्रय होता हुआ भी प्रकाश

---

१ परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ६३२।

२. वस्तुतस्तु स्वाभाविकस्यैव भेदस्य श्रौतत्वात् सूत्रकाराभिप्रेतत्वम्।…तत्रतावत् अचेतनस्य ब्रह्मणाभेदाभेदः सूपपन्न इत्याह… उभयव्यपदेशात् त्वहि कुण्डलवत् इति। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ६३३, ६३४

३. ब्रह्मसूत्र, गोविन्द भाष्य, सूत्र १। १। १-२ बलदेव विद्याभूषण।

४ गोविन्दभाष्य, ३। ३। १५

५. गोविन्दभाष्य, सू० ३। २। ३१

स्वरूप कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी ज्ञान धर्म का आश्रय भी होता है। काल अविछिन्न एवं व्यापक होने पर भी जिस प्रकार उसमें पूर्वापर विभाग किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होने पर भी ज्ञान का आश्रय, आनन्द स्वरूप होने पर भी आनन्द का आश्रय अर्थात् गुण स्वरूप होते हुए भी गुणों का आश्रय होता है।[1]

इस प्रकार वलदेव के मत में ब्रह्म गुणात्मा अर्थात् गुणस्वरूप है। उपासना की सुविधा के लिए गुण एवं ऐश्वर्य आदि को ब्रह्म से पृथक् रूप में वर्णित किया जाता है। वस्तुतः गुणों का पृथक्त्व औपचारिक है। निम्बार्काचार्यगण ब्रह्म को सम्पूर्ण अभिन्न नहीं कहते हैं। गुण और गुणी में निम्बार्क आचार्य स्वगत भेद मानते हैं। बलदेव ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं मानते।[2]

वलदेव ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के ऊपर विशेष जोर देते हैं। श्रुति में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्', 'एकं रूपं बहुधा यः करोति', 'अपाणिपादो···, इत्यादि जो ब्रह्म में विरुद्ध गुणों का उल्लेख है, यह एकमात्र ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से सम्भव है। श्रुति में भेदाभेद दोनों का उपदेश है। इस विरोध का समाधान हमारी बुद्धि नहीं कर सकती। इसलिये वलदेव ने अपने दर्शन को अचिन्त्य भेदाभेद कहा है। निम्बार्क दार्शनिक जीव-जगत् को ब्रह्म के अंश एवं ब्रह्म को जीव-जगत् के अंशी कहते हैं एवं स्वगत भेद स्वीकार करते हैं तथा भेदाभेद को स्वाभाविक मानते हैं। अतः निम्बार्क दर्शन में स्वीकृत ब्रह्म का स्वरूप वलदेव द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न है। साथ में निम्बार्क द्वारा की गयी ब्रह्मस्वरूप की व्याख्या शंकर, रामानुज, भास्कर, माधव आदि से भी भिन्न है एवं समीचीन है। अन्य दर्शनों में एकत्व और नानात्व की व्याख्या श्रुति-अनुकूल नहीं बन पाती है।

ब्रह्म उपास्य के रूप में—निम्बार्क आचार्यों के अनुसार अशेष-कल्याण-गुण-सम्पन्न परमेश्वर मुमुक्षुओं द्वारा उपास्य है। परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। वह अनन्त कृपा जलनिधि है, शरणागत वत्सल है। शरणागतों के प्रति उनकी कृपा अनन्त है। मोक्ष प्राप्ति के लिए निम्बार्काचार्यों ने भगवत्-कृपा-शक्ति के ऊपर अधिक जोर दिया है। भगवत्-कृपा से ही जीव के मन में वैराग्य उत्पन्न होता है और भगवत्-कृपा से ही मुमुक्षुत्व जाग्रत् होता है।[3] भगवत्-कृपा से ही वह मुक्ति के लिए साधन में रत हो जाता है। इसीलिये परब्रह्म परमेश्वर को निम्बार्क दार्शनिक अशेष कृपालु के रूप में वर्णन करते हैं। वस्तुतः निम्बार्क दर्शन के अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार रूप मुक्ति, भक्ति एवं भगवत्-कृपा से ही सम्भव है। इसके लिए निम्बार्क दार्शनिकगण श्रुति एवं स्मृतियों के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए भगवत्-कृपा की महत्ता पर जोर देते हैं। भगवान् ने गीता में

---

१. वही, सूत्र ३। २। २८-३०

२. न वा स्वगत भेदवदिति, गोविन्द भाष्य ३। २। २८ सूत्र, स्वगत भेदस्यापि प्रत्याख्यानात्, वही, ३।३।१३

३. श्रुत्यन्त कल्पवल्ली, पृष्ठ १४२-१४२ पुरुषोत्तम प्रसाद।

कई स्थलों में कहा है कि 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, गीता १८। ६६।' 'तमेव शरणं गच्छ' गीता १८।६२, इत्यादि उद्धरणों द्वारा निम्बार्क आचार्यगण परमेश्वर के उपास्य रूप को प्रस्तुत करते हैं। परमेश्वर के इस उपास्य रूप की उपेक्षा करके मात्र ज्ञान से ही मुक्ति का समर्थन वे नहीं करते।

इस प्रकार सम्पूर्ण जीव-जगत् का कारण, स्वरूपतः अनन्त-कल्याण गुण-सम्पन्न, परब्रह्म का एक उपास्य रूप भी निम्बार्क दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सत्ता की दृष्टि से निम्बार्क दार्शनिकों का ब्रह्म सर्वकारणों का कारण है, अर्थक्रिया की दृष्टि से वह सर्व कार्यरूप भी है। आदर्श की दृष्टि से वह भक्तों द्वारा उपास्य एवं प्राप्य है।

द्वितीय अध्याय

द्वैताद्वैत दर्शन में जीव

निम्बार्क मत में जीव-जगत् ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। ब्रह्म शक्तिमान् है। ब्रह्म ही जीव-जगत् के रूप में अपने को प्रकाशित करता है। फिर भी, जीव, जगत् के मध्य में ब्रह्म सीमित नहीं होता। जीव, जगत् के अतीत रूप में भी ब्रह्म विराजमान रहता है। इस अर्थ में ब्रह्म जगत् में ओत-प्रोत एव विश्वातीत भी है। इसीलिये श्रुति में कहा है 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्' इन श्रुतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि करके सृष्टि में स्वयं ब्रह्म ही प्रविष्ट होकर मूर्त तथा अमूर्त रूप में अपने को प्रकाशित करता है। वस्तुत; जीव-जगत् ब्रह्म के ही अंश हैं। निम्बार्काचार्यों ने श्रुति, स्मृति एवं भाष्य के उद्धरणों द्वारा जीव को ब्रह्मांश सिद्ध किया है।[1] अद्वैतवेदान्त के समान निम्बार्क दार्शनिक जीव भाव को मायिक नहीं कहते। निम्बार्क दर्शन के अनुसार 'देहेन्द्रिय-मनोबुद्धि-प्राणादि जड़-वर्ग-भिन्न, ज्ञानस्वरूप ज्ञातृत्वादि-धर्मों का आश्रय जीव है।'[2] यह जीव अहमर्थ से अभिन्न है। जीव का असाधारण लक्षण बतलाते हुए माधवनुकुन्द ने परपक्षगिरिवज्र में कहा है कि 'भगवत्पारतन्त्र्यमेवेति श्रुत्यादिमानैर्गम्यते सर्वावस्थासुज्ञानक्रियादौ च'।[3] अर्थात् समस्त अवस्थाओं में ज्ञान क्रिया आदि में भगवत् पराधीनता ही जीव का असाधारण लक्षण है। जीव अपने ज्ञान एवं क्रिया में सभी अवस्थाओं में ईश्वराधीन है। वह स्वतन्त्र नहीं है। श्रुति आदि प्रमाणों द्वारा जीव परमेश्वर अधीन है, यह सिद्ध होता है। कठोपनिषद् में 'तमेव भान्तमनुभाति सर्व ५। ६। १५ तथा

---

१. निम्बार्क दार्शनिकगण ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः, १५। ७, विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेनस्थितो जगत्। गीता १०। ४२। एवं अंशोनाना व्यपदेशात् २। ३। ४२, ब्रह्मसूत्र। पादोऽस्य विश्वाभूतानि, इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रमाणों द्वारा जीव को ब्रह्मांश सिद्ध करते हैं।

२. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ७५५, कलबत्ता संस्करण।

३. वही, पृ० ७६२

कौषीतकि में ' ऐषएव साधु कर्म कारयति' ३ । ९, अर्थात् परमेश्वर ही साधु कर्म कराता है, इत्यादि श्रुति प्रमाणों से जीव ईश्वर प्रेरित है तथा अपने कर्तृत्वादि में ईश्वर आधीन है, सिद्ध होता है । गीता में भी जीव को परमेश्वर के आधीन ही कहा गया है ।[1]

अद्वैतमतानुसार विशुद्ध चेतन अनेक उपाधियों द्वारा अवछिन्न होकर घटावछिन्न आकाश के समान भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है । भिन्न-भिन्न जीवों में सुख-दुखानुभूति में जो भिन्नता है, वह निज-निज उपाधि के कारण है । वस्तुतः आत्मा में कोई भेद नहीं है, आत्मा एक है, भेद का नियामक उपाधि है । इसलिए भिन्न-भिन्न जीवों की सुख-दुखानुभूति में सांकर्य नहीं होता । यही अवच्छेदवादी वेदान्तियों का मत है । प्रतिबिम्बवादी अद्वैतवेदान्ती के अनुसार जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अन्तःकरण उपाधि में चेतन का प्रतिबिम्ब होता है । वही जीव है । जीवत्व तथा जीव भेद आविद्यक है । भिन्न-भिन्न जलाशयों में प्रतिबम्बित सूर्य प्रतिबिम्ब वस्तुतः सूर्य नहीं होता है, उसी प्रकार अन्तः करणों में प्रतिबिबिम्त चेतन भी वस्तुतः जीव न होकर शुद्ध चेतन ही है । इस मत में भी उपाधि के भेद के कारण सुख-दुखानुभूति होने में परस्पर जीवों मे साँकर्य नहीं होता ।[2]

जीव विषयक अद्वैत वेदान्तियों के पूर्वोक्त दोनों मतों का निम्बार्क दार्शनिकों ने खण्डन किया है । निम्बार्क के अनुसार अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद—दोनों से ही जीव की व्याख्या नहीं हो सकती ।

अवच्छेदवाद का खण्डन—अवच्छेदवाद के अनुसार अविद्या अवच्छिन्न जीव है । महाकाश जिस प्रकार घटावच्छिन्न होता है तथा उसे घटाकाश कहा जाता है । एक ही महाकाश नाना घटों में नानाघटाकाश कहलाता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म अन्तःकरण अवच्छिन्न होकर जीवभावापन्न हो जाता है । नाना अन्तःकरणों के कारण एक ब्रह्म ही नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है । जिस प्रकार घटाकाश आकाश ही है, घट के नाश होने पर घटाकाश महाकाश ही रह जाता है । उसी प्रकार अन्तःकारणों के नाश हो जाने पर जीव ब्रह्मरूप हो जाते हैं । इस मत में अन्तःकरण अवछिन्न जीव कहलाता है, इसीलिए इस मत को अवच्छेदवाद कहते हैं । निम्बार्क दार्शनिक श्री पुरुषोत्तमाचार्य, श्री केशव काश्मीरी भट्ट, श्री पुरुषोत्तम प्रसाद, परपक्षगिरिवज्रकार माधव मुकुन्द आदि ने अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद का अपने-अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है । पुरुषोत्तमाचार्य ने वेदान्तरत्नमंजूषा में अवच्छेदवाद का खण्डन करते हुए कहा है कि अन्तःकरण उपाधि क्या ब्रह्म को उसी रूप में खण्डित करती है जिस रूप में कुठार काष्ठ को खण्डित करता है ? अथवा सर्वगत ब्रह्म के किसी एक अंश को सीमाबद्ध करती है ? प्रथम पक्ष संगत नहीं है । ब्रह्म सर्वव्यापी है तथा निराकार है । निराकार अंश रहित ब्रह्म का कुठार के द्वारा काष्ठ के खण्डन के समान खण्ड नहीं हो सकता ।[3] इस प्रकार ब्रह्म का खण्डन मानने पर ब्रह्म अनित्य हो जायेगा । ब्रह्म को शास्त्र में अज एवं

---

१. गीता, पृ० १० । ४, ।५

२. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ७४५, ७४६ ।

३. वेदान्त रत्न मंजूषा, पृष्ठ ७, पुरुषोत्तमाचार्य, चौखम्बा, १९०७ ।

नित्य कहा है, इसीलिए ब्रह्म अनित्य नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष में पुरुषोत्तमाचार्य का यह आक्षेप है कि ब्रह्म सर्वगत है, सर्वव्यापी है, इस प्रकार सर्वव्यापी ब्रह्म का उपाधि द्वारा परिच्छेद सम्भव नहीं है। परिच्छेद स्वीकार करने पर ब्रह्म में सर्वगतत्व की हानि होगी। एक प्रश्न यह है कि उपाधि स्वयं सर्वगत अर्थात् विभु है या अणु ? उपाधि को सर्वगत विभु मानने पर जीवात्मा के वन्ध, मोक्ष, उत्क्रान्ति आदि कुछ भी सम्भव नहीं होंगे। साथ में सर्वगत उपाधि के द्वारा सम्पूर्ण चैतन्यमात्र के आवृत हो जाने पर जगत् प्रकाश की उपपत्ति नहीं हो सकेगी एवं शुद्ध ब्रह्म के शुद्धत्व की हानि होगी। उपाधि को अणु मामने पर उपाधि के गमन-काल में ब्रह्म के गमन होने के कारण आकस्मिक बन्ध, मोक्ष की आपत्ति होगी। इस प्रकार के पुरुषोत्तमाचार्य ने अवच्छेदवाद में आक्षेप किये हैं।[1] उपाधि के द्वारा चैतन्य के भेद मानने पर भी शरीरादि उपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के कूटस्थ होने के कारण गमनागमन सम्भव नहीं हैं। ऐसी स्थिति में उपाधि के गमनागमन से क्षण-क्षण में वन्ध-मोक्ष का प्रसंग होगा, यही पुरुषोत्तमाचार्य का आशय है। एक प्रश्न और भी हो सकता है कि चैतन्य की जो उपाधि है, वह सत्य है या मिथ्या ? सत्य होने पर अद्वैतवाद भंग होगा, क्योंकि उपाधि का नाश कभी न होगा, ऐसी स्थिति में अद्वैतवाद में दो सत्य पदार्थ होंगे। उपाधि के सत्य होने के कारण चैतन्य कभी भी उपाधि से मुक्त नहीं होगा। उपाधि को मिथ्या मानने पर मिथ्या उपाधि सत्य जीवात्मा का वन्धन नहीं हो सकती। स्वप्नगत सांकल जाग्रत् व्यवित को नहीं बाँध सकती। इसीलिए अन्तःकरण अवच्छिन्न चैतन्य जीव है, यह मत अनुपयुक्त है।[2]

प्रतिबिम्बवाद का खण्डन— प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अद्वैत वेदान्ती चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव कहते हैं। एक जीववाद के अनुसार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है तथा अनेक जीववाद के अनुसार अन्तःकरण में प्रतिविम्वित चैतन्य जीव है, अविद्या या अन्तःकरण ही उपाधि है। दर्पण में जिस प्रकार मुख का प्रतिविम्ब पड़ता है, जलपात्रों में जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य का अविद्या में एवं अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रतिबिम्बवाद का भी निम्बार्काचार्यों ने खण्डन किया है। माधवमुकुन्द का कहना है कि दर्पण में जव मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब उस स्थल में दर्पण उपाधि एवं मुख बिम्ब—दोनों ही रूपवान् एवं सावयव हैं। अद्वैतवादी के अनुसार बिम्बभूत चैतन्य, उपाधिभूत अविद्या एवं अन्तःकरण रूपवान्, सावयव एवं प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हैं। इसीलिए अविद्या एवं अन्तकरणों में चैतन्य-प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। चैतन्य में अद्वैत के अनुसार किसी भी प्रकार के धर्म सम्भव नहीं हैं। अतः सर्व प्रकार धर्मशून्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।[3] पुरुषोत्तमाचार्य ने वेदान्त रत्न मंजूषा में प्रतिविम्बवाद का खण्डन करते हुए कहा है कि ब्रह्म एवं अविद्या दोनों ही नीरूप एवं निरवयव हैं। ब्रह्म का अविद्या में अथवा अन्तःकरणों में प्रतिबिम्ब मानने पर रसादि का प्रतिबिम्ब शब्दादि में एवं कालादि में होने लगेगा तथा शब्द एवं कालादि का

१. वेदान्त रत्न मंजूषा, पृष्ठ ७, पुरुषोत्तमाचार्य, चौखम्बा, १९०७।
२. वेदान्त रत्न मंजूषा, पृष्ठ ७ एवं वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, सूत्र १।२।६
३. परप्रक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ६४

प्रतिबिम्ब रसादि में होने लगेगा, क्योंकि रसादि में रूप नहीं है, इसी प्रकार काल में भी रूप नहीं है। अतः इनका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।[1] प्रतिबिम्बवादी कहते है कि नीरूप आकाश का जल में प्रतिबिम्ब देखा जाता है। इसी प्रकार नीरूप, निरवयव चैतन्य का प्रतिबिम्ब हो सकेगा। आचार्य पुरुषोत्तम कहते हैं कि गगनादि का नक्षत्र प्रभा युक्त होकर प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिये गगनादि का उदाहरण प्रस्तुत विषय में संगत नहीं है। वस्तुतः पुरुषोत्तमाचार्य के अनुसार गगन भी रूपवान् द्रव्य है। निम्बार्क दार्शनिकों की व्याख्या के अनुसार आकाश भी पंचीकृत तत्व है। पंचीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूतों के अवयव स्थित हैं। इसीलिए सभी में सब हैं, ऐसा कहा जा सकता है। इस व्याख्या के अनुसार आकाश में भी रूप है। इसलिए आकाश का प्रतिबिम्ब सम्भव है।[2] आचार्य माधव मुकुन्द ने भी परपक्षगिरिवज्र में पूर्वोक्त प्रकार के तर्क प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रस्तुत किये हैं। उनका भी कहना यह है कि अपंचीकृत शुद्धाकाश का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, न ही उसका प्रतिबिम्ब ही सम्भव है। पंचीकृत आकाश में पृथ्वी आदि के सावयवत्व, रूपत्व एवं चाक्षुषत्वादि धर्म विद्यमान हैं, इसीलिए उन धर्मो से युक्त पंचीकृत आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। नीरूप एवं निरवयव द्रव्य का प्रतिबिम्ब न प्रमाण सिद्ध है, न श्रुतिसिद्ध है।[3] अद्वैतवाद की ओर से यह शंका की गई कि गुण में गुण नहीं रहता। इसलिये गुण होने के कारण रूप में रूप नहीं माना जाता। रूप स्वयं नीरूप है, पर उसका प्रतिबिम्ब देखा जाता है, इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि नीरूप का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। माधव मुकुन्द का उत्तर है कि रूपहीन रूप का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, अपितु रूप का आश्रय द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। प्रकृत पक्ष में ब्रह्म रूपवान् नहीं है, इसीलिए रूप मानकर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता।[4] अद्वैतवादियों का कहना है कि 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्, अतएव चोपमासूर्यकादिवत्' ब्रह्म० १२ ३।२।१८ इत्यादि श्रुति एवं सूत्रों द्वारा प्रतिबिम्बवाद स्वीकार न करने पर उक्त श्रुति एवं सूत्रों का प्रामाण्य न हो सकेगा। आचार्य माधवमुकुन्द उक्त श्रुति और सूत्रों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उक्त श्रुति एवं सूत्रों द्वारा प्रतिबिम्बवाद का समर्थन नहीं होता। उनका तात्पर्य इतना ही है कि जिस प्रकार चन्द्र, सूर्य जलादि में प्रतिबिम्बित होकर भी स्वयं सर्वान्तर्यामी होकर जलादि के मलिन एवं शैत्य गुणों से निर्लेप रहते हैं, उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी परमात्मा भी सर्वत्र अवस्थित रहकर उनके गुण, दोषों से लिप्त नहीं होता। दृष्टान्तों से इतना ही तात्पर्य लेना है।[5] पुरुषोत्तमाचार्य ने कठोपनिषद् से अनेक मन्त्रों को उद्धृत करके प्रतिबिम्ब दृष्टान्तों की व्याख्या की है। सर्वत्र तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार नाना प्रतिबिम्ब रूपों में दिखने पर भी सूर्य उन प्रतिबिम्बगत दोषों से

१. वेदान्त रत्न मंजूषा, पृष्ठ ५
२. वही, पृष्ठ ५
३. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ६५
४. परपक्षगिरिवज्र, प्रृष्ठ ६५।
५. वही, पृष्ठ ६६

लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म को भी समझना चाहिए। उन दृष्टान्तों का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है।[1] माधवमुकुन्द का कहना है कि संसार में जहाँ भी प्रतिबिम्ब पड़ता दिखाई देता है, वहां पर बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब दोनों समान सत्ता विशिष्ट होते हैं। दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वहाँ पर दर्पण एवं मुख दोनों ही व्यावहारिक-सत्ता विशिष्ट हैं। इसीलिए वहाँ पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है। अद्वैतवाद के अनुसार बिम्बभूत ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता-विशिष्ट है। अविद्या अन्तःकरणादि उपाधि व्यावहारिक सत्ताविशिष्ट है। इस प्रकार दो भिन्न सत्ताओं में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव नहीं बन सकता। ऐसा मानने पर न्यून सत्ताविशिष्ट प्रातिभासिक मृग-मरीचिका जल में अधिक सत्ता-विशिष्ट व्यवहारिक सूर्यादि का भी प्रतिबिम्ब होने लगेगा। ऐसा होता नहीं है।[2] अद्वैतवादी से यह पूछा जा सकता है कि चैतन्य का उपाधि से सम्बन्ध स्वाभाविक है या औपाधिक है? उपाधि संयोग को स्वाभाविक मानने पर उसका विनाश कभी नही हो पायेगा। अतएव जीव की कभी भी मुक्ति नहीं हो सकेगी। उपाधि संयोग को औपाधिक मानने पर अनवस्था-दोष एवं अन्योन्याश्रय दोष होंगे। अर्थात् उपाधि संयोग को औपाधिक मानने पर उपाधि संयोग में जो उपाधि है, उसके संयोग को भी औपाधिक मानना पड़ेगा। इस प्रकार तृतीय उपाधि संयोग को भी औपाधिक मानना पड़ेगा। इसी क्रम से चलने पर अनवस्था दोष होगा। उपाधि सम्बन्ध होने पर जीव की सत्ता होगी अर्थात् जीव-भाव होगा, जीव-भाव होने पर उपाधि सम्बन्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। उपाधि ही उपाधि सम्बन्ध का हेतु है, इस कारण स्वयं इस सम्बन्ध का निमित्त होने के कारण आत्माश्रय दोष भी है। इसीलिए उपाधि सम्बन्ध को न स्वाभाविक कह सकते हैं, न औपाधिक।[3]

उपाधि के सम्बन्ध में पुनः प्रश्न किया जा सकता है कि वह उपाधि, जिस में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, सत्य है या मिथ्या? अद्वैतवादी उपाधि को पारमार्थिक सत्य नहीं कह सकते, क्योंकि वैसी स्थिति में पारमार्थिक उपाधि एवं ब्रह्म—इस प्रकार दो तत्वों को सत्य मानने के कारण अद्वैतवादी द्वैतवादी हो जायेंगे। इसी कारण अद्वैतवादीगण उपाधि को मिथ्या कहते हैं। मिथ्या उपाधि भिन्न-सत्ताक उपाधि होने के कारण, उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता; ऐसा पहले ही कहा चुका है। जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है, वहाँ पर प्रतिबिम्ब से बिम्ब भिन्न हुआ करता है तथा वह भिन्न स्थान में स्थित होता है। जैसे मुख बिम्ब से दर्पण स्थित प्रतिबिम्ब। उपाधि भी बिम्ब से दूरस्थ होती है एवं भिन्न होती है, जैसे दर्पण मुख से भिन्न है। प्रकृत स्थल में अविद्या रूप

---

१. वेदान्त-रत्न-मंजूषा, पृष्ठ ६

२. अन्यथा मृगमरीचिका जलेऽपिसूर्यादि प्रतिबिम्बदर्शनापत्तेः। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ६७

३. किं च उपाधि सम्बन्धो जीवे स्वाभाविक औपाधिको वा? नाद्यः, त्वन्मते अनिर्मोक्ष प्रसंगात्। न द्वितीयः, अनवस्थानादन्योन्याश्रयाच्च। परपक्षगिरिवज्र, पृ० ६६, ६७

उपाधि विम्ब रूप ब्रह्माश्रित है। ऐसी स्थिति में बिम्ब का प्रतिबिम्ब अविद्या में नहीं पड़ सकता। पुनः प्रश्न किया जा सकता है कि अविद्यारूप उपाधि जोकि ब्रह्म में अध्यस्त है, क्या ब्रह्म के एक देश में स्थित है ? या सर्व देश में एक देश में स्थित मानने पर ब्रह्म में देश मानना होगा। तब निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं हो पायेगा। सर्व देश व्यापी अविद्या उपाधि को आश्रित मानने पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव नहीं बनेगा तथा ब्रह्म की शुद्धता का नाश होगा। सर्वदेश में अविद्याग्रस्त ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता, जो कि अद्वैतवाद को अभीष्ट नहीं है।[1] उपाधि और बिम्ब को एकत्र मानने पर तथा उस स्थिति में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव मानने पर उसके लिए अद्वैतवादी कहीं से भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते। पुनः आचार्य माधवमुकुन्द आक्षेप करते हैं कि अद्वैतवादी के मत में तत्वज्ञान द्वारा जीवोपाधि के नाश होने पर क्या जीव का भी नाश माना जाता है ? यदि जीव का नाश माना जाय, तो विनाश ही मोक्ष हो जायेगा। तत्व-ज्ञान से उपाधिनाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता, मानने पर जीव का मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि मुक्ति दशा में भी ब्रह्मातिरिक्त जीव की स्थिति रही।[2] अद्वैतवादी यदि यह कहें कि जीव ब्रह्म में जो काल्पनिक भेद है, उसका निराकरण मुक्ति में होता है, इसीलिए किसी प्रकार की असंगति नहीं है। माधवमुकुन्द का कहना है कि किसकी कल्पना से जीव-ब्रह्म भेद होगा ? ब्रह्म की कल्पना से सम्भव नहीं क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में कल्पना नही हो सकती। जीव स्वयं काल्पनिक है, इसीलिए वह जीवेश्वर भेद की कल्पना नहीं कर सकता। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष होगा। इस प्रकार निम्बार्क आचार्यगण प्रतिबिम्बवाद के खण्डन में नाना युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं। दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब तथा दर्पण एवं मुख ये सभी जड़ पदार्थ हैं। जड़ पदार्थों में ही बिम्वप्रतिबिम्बभाव दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध चैतत्य का प्रतिबिम्बभाव अद्वैतवादी किस प्रमाण से सिद्ध करते हैं ? अतः जीव की अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद द्वारा व्याख्या नहीं दी जा सकती।

वस्तुतः अभौतिक तत्त्व की व्याख्या बहुत दुरूह है। अभौतिक तत्त्व की व्याख्या भी भौतिक वस्तुओं को अवलम्बन करके ही दी जाती है। दार्शनिकगण दर्शन में आत्मा-परमात्मा की व्याख्या भौतिक उदाहरणों के द्वारा ही दिया करते हैं। भौतिक उदाहरण उन अतिभौतिक तत्त्वों की व्याख्या नहीं दे सकते। उन उदाहरणों से स्पष्टीकरण के साथ-साथ विभ्रम भी पैदा होता है। इसीलिए दार्शनिकों में अभौतिक तत्त्व के विषय में मतभेद होते है। जीव के विषय में प्रस्तुत अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के सन्दर्भ में भी यही बात समझनी चाहिए। उदाहरण भौतिक वस्तुओं को समझाने में भी अंशतः चरितार्थ होते हैं। अतिभौतिक वस्तुओं के लिये तो बहुत ही कम अर्थ में उदाहरणों की समानता समझनी चाहिए। सूर्य, जलपात्र, मुख, दर्पण आदि बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव के उदाहरणों के विषय में अद्वैतवेदान्त एवं निम्बार्क दार्शनिकों में उक्त कारणों से ही मतभेद हैं। उदाहणों को उदाहरण के रूप में न लेकर व्याख्येय तत्त्व की प्रतिकृति के रूप में लेना भ्रामक है। इससे

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ ६८
२. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ७४७

वस्तु की व्याख्या नहीं हो सकती और न ही वस्तु के स्वरूप को ही समझा जा सकता है। निम्बार्क दार्शनिक जीव भाव को सत्य मानते हैं। इसीलिए अवच्छेद, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावादि सिद्धान्त जीव के विषय में उनके अनुसार संगत नहीं हैं। इसी कारण अद्वैतवेदान्तियों केउक्त सिद्धान्तों का इन्होंने खन्डन किया।

एक जीववाद खण्डन तथा जीव बहुत्व की सिद्धि—निम्बार्क दर्शन में जीव-बहुत्व माना जाता है। इस मत में ईश्वर से जीव भिन्न है, तथा जीव नाना हैं, अद्वैत वेदान्त वस्तुतः जीव को ब्रह्माभिन्न मानता है। औपाधिक जीव-भेद मानकर भी वस्तुतः जीव एक ही है, मानता है। अद्वैत वेदान्त स्वीकृत इस एक जीववाद का निम्बार्क दार्शनिकों ने खण्डन किया है। निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि श्रुति में अनन्त जीवों का कथन हुआ है। 'सच आनन्त्याय कल्पते, श्वेताश्वतर ५।९' 'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद भवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्', बृहदारण्यक १।४।१० 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्', कठोपनिषद् २।२।१३, इत्यादि श्रुतियों द्वारा बहु-संख्यक जीवों का प्रतिपादन हुआ है। उपरोक्त श्रुति वाक्यों में आनन्त्याय, देवानाम्, ऋषीणाम्, मनुष्यणाम्, नित्यानाम्, चेतनानम्, इत्यादि पदों द्वारा जीवात्मा के विषय में बहुवचन ही प्रयोग हुआ है, इसीलिये अद्वैतवादियों का कहना कि 'एक ही जीव है' असंगत है, अप्रामाणिक है। अद्वैतवादी दार्शनिक कहते हैं कि जीव वस्तुतः एक ही है, परन्तु जिस प्रकार स्वप्न में नाना विषयों की कल्पना होती है, उसी प्रकार आविद्या कल्पित नाना जीवभाव सिद्ध हो सकते हैं। जब तक स्वप्न रहता है, तब तक नाना जीवों के सुख दुःखादि की व्याख्या भी हो सकती है और बन्ध-मोक्ष की भी असंगति नहीं होती। इसका खण्डन करते हुए निम्बार्क दार्शनिकगण कहते हैं कि एक जीववाद में एक जीव के सो जाने पर सम्पूर्ण जीवों के सो जाने से जगत्-अप्रतीति की आपत्ति होगी। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। एक जीववाद में 'मैं', 'तुम' आदि व्यवहार भी नहीं बन सकते और न ही उक्त प्रकार से भिन्न-भिन्न ज्ञान सम्भव हैं। एक जीववाद के अनुसार तो जो 'देवदत्त' 'तुम' वही देवदत्त 'मैं' हूं', ऐसा अनुभव होना चाहिए।[1] अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि एक जीववाद में मैं, तुम, आदि ज्ञान-व्यवहारों की असंगति नहीं होती। जीव के एक होने पर भी अन्तःकरण नाना हैं। नाना अन्तः करणों के भेद से मैं, तुम, आदि भिन्न-भिन्न ज्ञान व्यवहार सम्भव हैं। एक जीव अध्यास के कारण अन्तःकरणों से तादात्म्य-बोध करके नानात्व का अनुभव करता है। इसका उत्तर देते हुए निम्बार्क दार्शनिक कहते हैं कि योगी पुरुष जब कायव्यूह धारण करते हैं, अर्थात् योगबल से नाना शरीर धारण करते हैं, तब नाना अन्तःकरण में तादात्म्यारोप होने पर भी नाना शरीरों को लेकर एक ही 'मैं' का व्यवहार करते हैं। प्रत्येक शरीर में मैं, तुम, आदि भिन्न व्यवहार नहीं करते। नाना शरीरों में कायव्यूह धारण करने वाले योगी के लिये अन्तःकरण एक ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहने पर बहिरेन्द्रिय तथा शरीर के भी एक होने से काम चल सकता है, फिर कायव्यूह धारण करने की क्या आवश्यकता होगी ? एक अन्तःकरण होने पर नाना शरीरों का धारण करना तथा युगपद्

---

१. परपक्षगिरिवज्रः पृष्ठ ६२

नाना विषयों का भोग सम्भव नहीं होगा। इसलिए एक जीववाद में 'मैं' 'तुम' का व्यवहार असंगत है।

एक जीववाद में उपास्य-उपासक भाव, तदर्थ गुरु-शिष्य भाव भी नहीं बन सकते। छान्दोग्य में 'आचार्यवान् पुरुषोवेद ६।१४२' इस प्रकार गुरूपदेश द्वारा पुरुषार्थ की अवगति बतलायी गयी है। एक जीव-वाद में अन्य जीवों का अभाव होने के कारण, न गुरु है, न शिष्य और न उपदेष्टा है, न उपदेश सुनने वाला, ऐसी स्थिति में तत्वज्ञान सम्भव नहीं है। एक जीववाद में जीव का कभी मोक्ष नहीं होगा।[1] इस प्रकार उपरोक्त प्रकार की श्रुतियां भी निरर्थक हो जायेंगी। अद्वैतवेदान्ती कह सकते हैं कि अज्ञान प्रयुक्त गुरु-शिष्य भाव की कल्पना हो जायेगी और कल्पित उपदेष्टा तथा उपदेश आदि के सम्भव होने पर किसी प्रकार की असंगति नहीं होगी। निम्बार्काचार्यों का कहना है कि कल्पित गुरु कभी भी उपदेशक नहीं हो सकता। कल्पित गुरु का उपदेशकत्व शास्त्रसमर्थित नहीं है। शास्त्र वास्तविक गुरु-शिष्य-भाव का प्रतिपादन करते हैं। मुण्डक में कहा गया है कि 'निर्वेद प्राप्त मुमुक्षु ब्रह्म को जानने के लिये समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठश्रोत्रिय गुरु के पास गमन करे'।[2] इससे सिद्ध होता है कि गुरु कल्पित नहीं हो सकता, और न ही शिष्य ही कल्पित हो सकता है। अद्वैतवेदान्तियों का स्वप्नवत् कल्पित गुरु-शिष्य भाव का कथन संगत नहीं है, क्योंकि स्वप्नदृष्ट गुरु अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता। स्वप्न में देखे हुए गुरु के उपदेश से किसी को विद्वान् या ज्ञानी होते नहीं देखा गया है। तत्वज्ञानी वास्तविक गुरु ही अपने उपदेशों द्वारा अज्ञान का निवर्तक होता है। यदि श्रुति का तात्पर्य स्वप्न दृष्ट कल्पित गुरु का उपदेश ही होता, तो श्रुति में यह नहीं कहा जाता कि 'यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' बृहदारण्यक २।४।३, अर्थात् आप जो जानते हैं, वही मुझे भी उपदेश कीजिये। इस प्रकार का श्रुतिवाक्य व्यर्थ हो जाता है। स्मृति में कहा गया है 'तत्वदर्शी ज्ञानी तुमको आत्मा और परमात्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान का उपदेश करेंगे'।[3] उपदेश एवं उपदेशक यदि स्वप्न के समान कल्पित होते, तो गीता में ऐसा नहीं कहा जाता।

एक जीववादी अद्वैतवेदान्ती के अनुसार गुरु में सर्वज्ञता भी कल्पित है, जीव भी अज्ञान कल्पित है, ऐसी स्थिति में कौन किसको उपदेश करेगा? गुरु को स्वयं ज्ञात है कि शिष्यभाव कल्पित है, शिष्य में अज्ञानभाव भी कल्पित है। इसलिए गुरु की उपदेश में प्रवृत्ति सम्भव नहीं होगी।[4] एक जीववाद के अनुसार एक जीव को अद्वैत तत्व का निश्चय है या नहीं? यदि अद्वैत का निश्चय है, तो उससे शास्त्रादि प्रणयन सम्भव नहीं हो सकेगा, क्योंकि शास्त्रादि का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। यदि उस एक जीव को अद्वैत तत्व का निश्चय नहीं है तो उससे निर्मित शास्त्र यथार्थ ज्ञानमूलक नहीं होगा। इसीलिए ऐसा

---

१. उपदेष्टुरभावेतत्वज्ञानासम्भवः, तदसम्भवे च मोक्षासम्भवः । परपक्षगिरिवज्र पृष्ठ ६६।

२. स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियंब्रह्मनिष्ठम्। मुण्डक १।२।१२

३. उपदेक्षन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः। गीता ४।३५

४. परपक्षगिरिवज्र' पृ० ७६

शास्त्र प्रमाणित नहीं हो सकेगा। शास्त्र प्रामाण्य को यथार्थ ज्ञानमूलक न मानकर अबाधित विषयक मानने पर भी शास्त्र की प्रमाणिकता की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि जो शास्त्र यथार्थ ज्ञानमूलक नहीं होगा, वह अबाधित विषयक भी नहीं होगा। पौरुषेय वाक्य यथार्थ ज्ञानमूलक न होने पर बाधित विषयक होंगे। अतएव अनिश्चित अद्वैततत्वज्ञानवान् जीव द्वारा रचित शास्त्र अप्रमाणिक ही होगा। एक जीववाद में वह एक जीव कौन है, निश्चित करना सम्भव नहीं है। इसीलिए मुक्ति के लिए परिश्रम कौन करेगा ? पुनः अद्वैतवादी से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि एक जीववादी 'अद्वैत वेदान्ती के अनुसार अब तक किसीजीव का मोक्ष हुआ है या नहीं ? यदि तत्वज्ञान द्वारा किसी का मोक्ष हुआ मानते हैं, तब तो सभी काल्पनिक जीवों की मुक्ति हो चुकी है, मानना होगा। ऐसी स्थिति में अन्य जीवों की मुक्ति के लिये प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये और यदि अब तक किसी की मुक्ति नहीं हुई है। तब तो संसार में तत्वज्ञानियों की परम्परा का अभाव हो जायेगा। बिना तत्वज्ञानी सम्प्रदाय के जीव की मुक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि तत्व-ज्ञानियों के अभाव में उपदेश कहां से ग्रहण करेंगे ?[1] एक जीववादी को भी यह मानना पड़ेगा कि श्रुति प्रसिद्ध वामदेवादि अवश्य तत्वज्ञानी होकर मुक्त हो चुके हैं। स्वयं अद्वैत-वाद में आचार्य गौड़पाद आदि मुक्त पुरुष हो चुके हैं। आचार्य माधवमुकुन्द कहते हैं कि एक जीववादी अद्वैतवादी गण यदि शुक, वामदेव तथा गौड़पाद आदि को मुक्त पुरुष नहीं मानेंगे, तब तो मुक्त पुरुषों की परम्परा के अभाव में मुक्ति में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। वेदान्त-श्रवण आदि से जब पूर्वोक्त महापुरुषों की मुक्ति नहीं हुई, तब साधारण पुरुष वेदान्त-श्रवण में क्यों प्रवृत्त होगा ?[2] अद्वैतवादी को श्रुति-स्मृति-प्रसिद्ध नित्य-सिद्ध जीव-भेद अर्थात् जीव बहुत्व को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। बहुजीववाद को स्वीकार करने पर ही शुक, वामदेवादि की मुक्ति सिद्ध की जा सकती है। 'एक बद्ध जीव प्रकृति के वश में होकर प्रकृति का भोग करता है। दूसरा मुक्त होकर भुक्त-भोग प्रकृति का परि-त्याग कर देता है।'[3] 'बहुत से जीव ज्ञान और तपस्या से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं।' 'इस ज्ञान को आश्रय करके जीवगण मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए हैं।'[4] इन श्रुति, स्मृतियों से नाना जीवों की सिद्धि होती है। कुछ जीव मुक्त हैं। कुछ प्रयास कर रहे हैं तथा कुछ प्रकृति के भोग में लिप्त हैं। कुछ वैराग्यवान् हैं, तो कुछ जीव भोग-वासना में लिप्त होकर जरामरण के चक्र में फंसे हुए हैं।

एक जीववाद के अनुसार संसार व्यवहार, भोग-मुक्ति-व्यवस्था सम्भव नहीं हैं। नाना श्रुतियां हैं, जोकि भोग मुक्ति का प्रतिपादन कर रही हैं। उनकी संगति एक जीव-वादी नहीं लगा सकते।[5] द्वैताद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवेश्वरभेद तथा जीवभेद स्वीकार

---

१. वही, पृ०७१।
२. वही, पृष्ठ ७१, ७२।
३. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।५
४. गीता—४।१४।२
५. अविद्यायामन्तरे वर्तमानः। कठ २।५, वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था···परामतत्वात् परिमुच्यन्ति सव। मुण्डक ३।२।६

करने के कारण सभी शास्त्रों की संगति लग जाती है। बन्ध, मोक्ष की व्यवस्था दृढ़ होती है। शास्त्रों की प्रामाणिकता के प्रति आस्था द्वैताद्वैत दर्शन के जीववाद के अनुसार ही दृढ़ होती है। द्वैताद्वैत दर्शन में जीव असंख्य हैं। असंख्य जीव काल्पनिक नहीं हैं, सत्य हैं। जीव का बन्धन भी सत्य है। मुक्ति भाव भी सत्य है। मुक्ति के लिये प्रयास भी सत्य है। गुरुशिष्यभाव भी सत्य है। इस मत के अनुसार शुक, वामदेव आदि ऋषि वस्तुतः मुक्त हो चुके हैं तथा अन्य असंख्य जीव बन्धन में पड़े हुए हैं। जीवों के लिये तत्वज्ञानियों की परम्परा भी बनी हुई है। वस्तुतः जीवभेद मान लेने पर काल्पनिक जीवभेद मानने की आवश्यकता नहीं है। इस मत में तत्वज्ञानी गुरु वस्तुतः अज्ञान बन्धन से बद्ध जीव को अपने उपदेश द्वारा ज्ञानमार्ग का दर्शन कराता है। निम्बार्क दर्शन में जीवों के व्यक्तित्व को पृथक् बनाये रखने के लिये जीवेश्वरभेद एवं नाना जीव माने गये हैं। इसलिये इस मत में संसारव्यवस्था, बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था आदि स्वाभाविक हैं। औपाधिक जीवभेद मानकर प्रत्यक्ष दृष्ट जीवभेद की व्यवस्था अद्वैत वेदान्ती भी करते हैं। वे अध्यासिक जीवेश्वर भेद तथा गुरु-शिष्य आदि व्यवहार की भी व्यवस्था करते हैं। निम्बार्क दार्शनिकगण अद्वैत वेदान्तियों के इस काल्पनिकवाद अर्थात् अध्यासवाद से असन्तुष्ट हैं, इसी कारण उक्त अध्यासवाद का उन्होंने डटकर खण्डन किया है।

जीव ज्ञान स्वरूप एवं ज्ञाता—निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार जीवात्मा ज्ञाता एवं ज्ञानस्वरूप भी है। अद्वैत वेदान्त के समान निम्बार्क दर्शन में आत्मा के ज्ञातृत्व को अध्यस्त नहीं कहा जाता। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसमें 'आत्माऽनन्तरोऽवाह्यःकृत्स्न प्रज्ञानघन एव', बृहदारण्क उपनिषद् ४।५।१३,' 'अत्रायं पुरुषः स्वय ज्योतिर्भवति' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। जीवात्मा के विषय में जीवात्मा ज्ञाता है, यह भी श्रुति एवं सूत्रों से सिद्ध होता है। 'जानात्येवायं पुरुषः, एष एव हि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के ज्ञातृत्व को सिद्ध करती हैं। अद्वैत वेदान्त में ज्ञाता आत्मा को अध्यस्त ही कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार वस्तुतः आत्मा निर्गुण एवं निर्विशेष है। ज्ञातृत्व भी आत्मा का गुण नहीं है। वृत्ति ज्ञान को लेकर ही ज्ञाता का व्यवहार होता है। इसीलिए अद्वैत के अनुसार आत्मा को ज्ञाता मानने का अर्थ है—ज्ञान का अधिकरण मानना। ऐसा अद्वैत वेदान्ती नहीं मानते और आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं। निम्बार्क दार्शनिक एवं रामानुज आदि वैष्णव वेदान्तीगण आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हुए भी ज्ञातृत्व गुणवान् भी मानते हैं। सूर्य जिस प्रकार प्रभावस्वरूप है, साथ में वह प्रभा का आश्रय भी है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञान-आश्रय भी है। यदि प्रश्न किया जाय कि एक ही आत्मा में आधार-आधेयभाव कैसे सम्भव हैं? दो भिन्न वस्तुओं में ही आधार-आधेयभाव होता है। इस प्रकार एक ही जीवात्मा में ज्ञानाश्रयत्व एवं ज्ञानस्वरूपत्व—दोनों विरुद्ध बातें हैं। वेदान्तकौस्तुभप्रभाकार ने इसका समाधान सूर्य एवं सूर्यप्रभा के दृष्टान्त द्वारा दिया है। सूर्य प्रभास्वरूप होने पर भी प्रभा के साथ सूर्य का धर्म-धर्मिभाव देखा जाता है। प्रभा सूर्य से पृथक् नहीं है, फिर भी उसे सूर्य का धर्म कहा जा सकता है।[1] स्वयं निम्बार्क आचार्य ने दशश्लोकी में आत्मा को ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानवान्

१. वेदान्त कौस्तुमप्रभा, सूत्र २।३।१८

बतलाया है।[1] इसलिए ज्ञानाश्रय होकर ज्ञानस्वरूप होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

आत्मा कर्ता एवं भोक्ता—निम्बार्क दर्शन के अनुसार जिस प्रकार आत्मा ज्ञाता है, उसी प्रकार कर्ता एवं भोक्ता भी है। उनके अनुसार आत्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व मिथ्या नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा का कर्तृत्व आरोपित है। जिस प्रकार जपाकुसुम का लौहित्य स्फटिक में आरोपित होता है, वस्तुतः स्फटिक में लालिमा नहीं होती, उसी प्रकार अद्वैत के अनुसार कर्तृत्व आदि आरोपित हैं। आत्मा में कर्तृत्व आदि को आरोपित न मानने पर आत्मा को विकारी मानना पड़ेगा। यह देखा भी जाता है कि जब तक अन्तःकरण आदि उपाधि होते हैं तभी तक आत्मा में कर्तृत्व आदि होते हैं। सुषुप्ति में अन्तःकरण के अभाव में आत्मा में कर्तृत्व आदि नहीं दिखायी देते। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि कर्तृत्व आदि धर्म आत्मा के न होकर अन्तःकरण के हैं और आत्मा के प्रतीत होते हैं।

निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत इस आध्यासिक कर्तृत्ववाद का जोरदार खण्डन किया है। आचार्य माधवमुकुन्द का आक्षेप यह है कि अद्वैत वेदान्तियों ने जो जपाकुसुम की लालिमा से स्फटिक में लालिमा आरोप का दृष्टान्त दिया है, वह असंगत है। व्यवहार में जहाँ पर 'रक्तःस्फटिकः' इस प्रकार भ्रम की प्रतीति होती है, वहाँ 'रक्तं कुसमम्' इस प्रकार से प्रमा की प्रतीति भी होती है। इसी प्रकार कर्तृत्व अध्यास के सम्वन्ध में भी दो भिन्न-भिन्न प्रतीतियाँ होनी चाहिए। भ्रमप्रतीति के रूप में 'चैतन्यं कर्तृ' एवं प्रमाप्रतीति के रूप में 'मनः कर्तृ' ऐसा होता नहीं है। इसलिए उक्त दृष्टान्त विषम-दृष्टान्त है। उक्तः दृष्टान्त द्वारा आत्मा के कर्तृत्व आदि आरोपित सिद्ध नहीं होते।[2] अद्वैतवादी से आचार्य माधवमुकुन्द प्रश्न करते हैं कि आत्मा के कर्तृत्व को जो अध्यस्त कहा गया है, वह कर्तृत्व अध्यास सोपाधिक है या निरुपाधिक? सोपाधिक मानने पर दृटान्त होगा 'रक्तः स्फटिकः'। इस प्रकार सोपाधिक अध्यास में भ्रम एवं प्रमा—दो प्रकार की प्रतीतियाँ होनी चाहिए, यह पहले ही कहा जा चुका है। 'चैतन्यं कर्तृ' एवं 'मनः कर्तृ' इस प्रकार की प्रतीतियाँ होती नहीं हैं, इसलिए सोपाधिक अध्यास नहीं हो सकता। अद्वैतवादियों का कथन है कि सोपाधिक भ्रम में जो 'रक्तः स्फटिकः' दृष्टान्त दिया गया है, उसमें स्फटिक में आरोपित रक्तत्व के अतिरिक्त जपाकुसुम का रक्तत्व जपाकुसुम में स्थित है। स्फटिक में लालिमा का आश्रय कुसुम का आरोप नही होता। कुसुम के लालिमाधर्म का ही आरोप होता है। आरोपित लालिमा कुसुम में स्थित लालिमा से भिन्न प्रातीतिक लालिमा है। यहाँ पर धर्मी का आरोप न होकर धर्म का आरोप होता है। आत्मा के कर्तृत्व अध्यास स्थल में कर्तृत्वधर्मविशिष्ट अन्तःकरण का अध्यास चैतन्य में होता है। अर्थात् कर्तृत्व धर्म अतिरिक्त कर्तृत्व के आश्रय अन्तःकरण का आरोप होता है। अध्यस्यमान कर्तृत्व के अतिरिक्त कर्तृत्व का आश्रय कोई भिन्नअन्तः

---

१. ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं, शरीरसंयोग-वियोग-योग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं, ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः। दशश्लोकी, श्लोक १।

२. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३६९, ३७०

करण वहाँ पर नहीं होता, इसलिए 'चैतन्यं कर्तृ, मनः कर्तृ' इस प्रकार भ्रम-प्रमा रूप-दो प्रकार की प्रतीतियाँ नहीं होतीं। अर्थात् कर्तृत्वआश्रय के अतिरिक्त अन्तःकरण न होने के कारण वहाँ पर उक्त दो प्रकार की प्रतीतियाँ नहीं होतीं। इसके उत्तर में निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि कर्तृत्वअध्यास सोपाधिक पक्ष में अद्वैतवादियों का वैसा कहना संगत नहीं है। यदि अद्वैतवादी पूर्वोक्त दो प्रकार की प्रतीतियों का सोपाधिक भ्रम पक्ष में, खण्डन करते हैं तो वैसी स्थिति में अतिरिक्त उपाधि के न रहने से सोपाधिक भ्रम सम्भव हो नहीं सकेगा, अर्थात् सोपाधिक अध्यास नहीं होगा। इस प्रकार निरुपाधिक अध्यास मानना पड़ेगा। कर्तृत्व धर्मयुक्त अन्तःकरण चैतन्य में आरोपित होता है, किन्तु अन्तःकरणगत कर्तृत्व के समान अन्य कर्तृत्व धर्म आरोपित नहीं होता। इसलिए रज्जु-सर्प अध्यास के समान कर्तृत्व अध्यास भी निरुपाधिक अध्यास हो जाता है, किन्तु अद्वैत-वादी उक्त स्थल में सोपाधिक अध्यास ही मानते हैं।[1] कर्तृत्व अध्यास स्थल में अद्वैत-वादी अध्यास को निरुपाधिक नहीं मान सकते। निरुपाधिक भ्रम का दृष्टान्त 'इदं रजतम्' है। कर्तृत्व अध्यास में 'इदं रजतम्' के समान निरुपाधिक अध्यास मानने पर जिस प्रकार 'नेदं रजतम्' करके एक बार के बाधक ज्ञान द्वारा रजत भ्रम की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार 'अयं कर्ता' भ्रम के अनन्तर 'नायं कर्ता' करके एक बार मात्र आत्मा के अकर्तृत्व ज्ञान से कर्तृत्व अध्यास की निवृत्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है। इसीलिए कर्तृत्व अध्यास को निरुपाधिक अध्यास नही कहा जा सकता। अध्यास मानने पर सोपाधिक अध्यास ही मानना पड़ेगा।[2]

माधवमुकुन्द ने और भी आक्षेप किया है कि जिस प्रकार रज्जुसर्प भ्रम में एवं शरीर आत्मभ्रम में इदं और सर्प में तथा शरीर और आत्मा में अभेद प्रतीतिपूर्वक 'अयं भीषणः', 'सर्पो भीषणः' तथा 'अहं गौरः', 'शरीरं गौरम्' इस प्रकार की दो प्रकार प्रती-तियाँ हुआ करती हैं, उसी प्रकार मन और चैतन्य के अध्यास में भी दोनों में 'मनः कर्तृ' एवं 'चैतन्यं कर्तृ', इस प्रकार प्रतीतियाँ होनी चाहिए।[3]

अद्वैत वेदान्तियों ने आत्मा के कर्तृत्व को बुद्धि का कर्तृत्व कहा है। बुद्धि के कर्तृत्व का ही आत्मा में अध्यास होता है तथा कर्ता के रूप में जीवात्मा प्रतीत होने लगता है, परन्तु अद्वैतवादी का यह सिद्धान्त स्वसिद्धान्त विरोधी है। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' ब्रह्म-सूत्र २।३।३३, इस अधिकरण में अद्वैतवादियों ने सांख्य के बुद्धिकर्तृत्ववाद का खण्डन किया है और जीव कर्तृत्ववाद सिद्ध किया है। सांख्य दर्शन के खण्डन के प्रसंग में अद्वैत-वादी जीव कर्तृत्ववाद को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अद्वैतवादी स्वसिद्धान्त विरोधी बातें करते हैं। यदि अद्वैतवादी बुद्धिकर्तृत्ववाद को स्वीकार करते हैं, तो फिर सांख्य-दर्शन में स्वीकृत बुद्धिकर्तृत्ववाद का पूर्वपक्ष के रूप में रखकर खण्डन क्यों करते है?

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३७१
२. वही, पृष्ठ ३७२
३. अभेदग्रहदशायामपि अयं भीषणः, सर्पो भीषणः, अहं गौरः, शरीरं गौरमितिवत् मनः कर्तृ, चैतन्यं कर्तृ इति प्रतीत्यापत्तेः। परपक्षगिरिवज्र पृष्ठ ३७४

इससे ऐसा लगता है कि अद्वैतवादी आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार करते हैं।[1] बुद्धिकर्तृत्व को मानने पर आत्मा के विषय में बन्ध-मोक्ष की उपपत्ति भी नहीं हो सकेगी, क्योंकि जो कर्ता होता है, वही क्रियाफल भोक्ता भी होता है। जिसका बन्धन होता है, उसी की बन्ध-निवृत्ति अर्थात् मुक्ति होती है, अन्य की नहीं। शास्त्रों में जीवात्मा के विषय में बन्धन और मुक्ति की बातें कही गयी हैं। बुद्धि कर्तृत्व पक्ष में मुक्ति भी बुद्धि की ही होगी। इस प्रकार जीवात्मा मुक्ति भागी नहीं हो सकेगा। शास्त्र वचन अनुसार बन्ध-मोक्ष आत्मा में ही मानने पड़ेंगे, बुद्धि में नहीं।

अद्वैतवादी आत्मगत कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि को अनर्थ कहते हैं। निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि अनर्थ का आश्रय आत्मा भी अनर्थ हो जायेगा। अद्वैतवादी अनर्थ की निवृत्ति को पुरुषार्थ कहते हैं। ऐसी स्थिति में कर्तृत्व-भोकर्तृत्व आदि के साथ अनर्थ का आश्रय आत्मा की निवृत्ति अर्थात्आत्महानि भी पुरुषार्थ हो जायेगी। इस प्रकार असंगत सिद्धान्त की आपत्ति होगी।[2] बुद्धि को कर्ता मानने पर तथा बन्धनमुक्त आत्मा को मानने पर 'कृतनाश-अकृतअभ्यागम' दोष होंगे। मुक्ति के लिए प्रयास बुद्धि ने किया, मुक्त जीवात्मा हुआ, इस प्रकार अनर्थ हो जायेगा।

मन के विषय में श्रुति में कहा गया है कि मन कृति का कर्म है, कहीं-कहीं पर करण भी कहा गया है, इसीलिए आत्मा अकर्ता एवं मन, बुद्धि आदि कर्ता, यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है। श्रुति में कहा गया है कि 'तन्मनोऽकुरुत' यहाँ पर मन को कर्मरूप में निर्देश किया है। 'श्रृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसा' इसमें मन को करण रूप में निर्देश किया है। 'मनः उत्क्रमन् मीलित इव अश्नन् पिवन् आस्ते इव' इस श्रुति में विज्ञान आत्मा को कर्ता कहा गया है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इस श्रुति में विज्ञान आत्मा का कर्तृत्व प्रतिपादित हुआ है। इसी प्रकार 'कर्ता विज्ञानं आत्मा' में भी आत्मा को कर्ता कहा गया है।[3] व्यवहार में भी 'अहं करोमि' इस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष का बाधक कोई प्रमाण नहीं होता। माधवमुकुन्द ने आत्मा के कर्तृत्व की सिद्धि में अनुमान भी प्रस्तुत किये हैं। कुछ अनुमान इस प्रकार हैं—'आत्मा (पक्ष) मोक्ष साधन विषय कृतिमान् है (साध्य), तत्फलभोगी होने से (हेतु), उभयमत सिद्ध यजमान के समान (दृष्टान्त)। जिस प्रकार उभयमत सिद्ध यजमान कर्मफल भोगी होता है एवं उस कर्म का कर्ता भी होता है, उसी प्रकार आत्मा भी कर्ता है। अज्ञान ज्ञान समानाधिकरण है, ज्ञान निर्वत्य होने से, ज्ञान प्रागभाव के समान। अर्थात् जिसका अज्ञान है, ज्ञान भी उसी को होगा, आत्मा में अज्ञान है, इसलिए ज्ञान भी आत्मा का ही होगा। जो ज्ञाता है, वही कर्ता होता है।' अज्ञान ज्ञान द्वारा निवर्त्य है, इसीलिए ज्ञान समानाधिकरण अज्ञान होता है। इस प्रकार अज्ञान आत्मा का ही ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व सिद्ध होते हैं। निम्बार्क दार्शनिक ज्ञान का ज्ञानकर्तृत्व अर्थ करते है। इस प्रकार निम्न

---

१. ब्रह्मसूत्र २।३।३३ शांकर भाष्य तथा अन्य टीकाएँ द्रष्टव्य।

२. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३७६

३. वही, पृष्ठ ३७९

अनुमान से भी आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है। 'दु:खादि भोग मोक्ष-समानाधिकरण है, बन्ध रूप होने से' अर्थात् दु:खादि भोग बन्धन है, बन्धन उसी को है जिसकी कि आगे मुक्ति होनी है, इस प्रकार बन्धन और मोक्ष समानाधिकरण होने पर कृतिमान् भी वही सिद्ध होता है। जो कर्ता नहीं होता, वह साधन अनुष्ठान नहीं करता। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण भी आत्मा के कर्तृत्व का समर्थन करता है।[1]

यदि अद्वैतवादी 'कर्ता विज्ञानं आत्मा' इत्यादि श्रुतियों को लौकिक अनुभव सिद्ध कर्तृत्व की अनुवादिनी मात्र कहते हैं तो समीचीन नहीं है। लौकिक अनुभव द्वारा 'अहं कर्ता' इस प्रकार अहं का ही कर्तृत्व सिद्ध होता है। श्रुति अहमर्थभिन्न आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार आत्मकर्तृत्व एवं ईश्वरकर्तृत्व लोकअनुभवसिद्ध नहीं हैं। निम्बार्क दार्शनिक आगे और भी कहते हैं कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि धर्म आत्मा में ही सम्भव हैं, अनात्मा में नहीं। आत्मा में यदि वे धर्म सत्य नहीं हुए, तब अन्यत्र उनकी सम्भावना न होने के कारण कहाँ पर सत्य होंगे ? इसलिए आत्मा कर्तृत्व आदि सत्यधर्मविशिष्ट है।

अद्वैतवादी कहते हैं कि सुषुप्ति में आत्मकर्तृत्व का अनुभव नहीं होता। वहाँ पर आत्मा की अवस्थिति होती है। इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में मन एवं बुद्धि आदि के अभाव के कारण कर्तृत्व नहीं होता। इसलिये कर्तृत्व आदि आत्मा के धर्म न होकर अन्तःकरण के धर्म हैं। इसके उत्तर में निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि सुषुप्ति में भी आत्मा का श्वास आदि कर्तृत्व अनुभूत है, वहाँ पर अन्तःकरण नहीं होता, इसलिये श्वास लेने का काम अन्तःकरण का न मानकर आत्मा का मानना पड़ेगा। श्रुति में कहा गया है 'भूर्भूरित्येवं प्रश्वसिति' अर्थात् सुषुप्ति में भी 'भूर्भूर् करके श्वास लेता है। इस प्रकार आत्मा के विषय में श्वासकर्तृत्व का कथन किया गया है। सुषुप्ति में मन रूप निमित्त कारण के अभाव से कर्तृत्व नहीं देखा जाता। निमित्त कारण के अभाव से कार्य का अभाव हुआ करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि निमित्त कारण में कर्तृत्व आ जायेगा। दण्ड के अभाव से घट का अदर्शन हो सकता है, परन्तु दण्ड में घटकर्तृत्व नहीं आता। इसलिये मनः कर्तृत्ववाद असंगत है।[2]

आत्मा का कर्तृत्व बद्ध एवं मुक्त-दोनों अवस्थाओं में है। यदि आत्मा का कर्तृत्व औपाधिक माना जाता तो मुक्तावस्था में उसका बाध हो जाता है। निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार ऐसा नहीं होता है। मुक्त और बद्ध अवस्थाओं में कर्तृत्व का इतना ही भेद है कि बद्धावस्था में जीव की ज्ञानक्रिया शक्ति सीमित होती है और मुक्त अवस्था में असीमित। इसलिए बद्धावस्था का कर्तृत्व भी सीमित है। मुक्तावस्था में असीमित कर्तृत्व होता है, फिर भी जीवका ईश्वराधीन कर्तृत्व होता है। बृहदारण्यक श्रुति में विज्ञान आत्मा को लक्ष्य करके कहा गया है कि 'ध्यायतीवलेलायतीव' बृहदारण्यक ४।३।७, अर्थात् ध्यान जैसा करता है, लीला सी करता है, इस प्रकार उक्त श्रुति इव शब्द

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३८०

२. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३८३

द्वारा वास्तविक अर्थ में आत्मा को अकर्ता ही कहती है, इस प्रकार शंका हो सकती है। निम्बार्क दार्शनिकगण उक्त श्रुति में प्रदर्शित 'इव' शब्द द्वारा जीव कर्तृत्व को ईश्वराधीन सिद्ध करते हैं। 'इव' शब्द द्वारा जीव कर्तृत्व स्वतन्त्र न होकर ईश्वर द्वारा प्रेरित है, सिद्ध होता है।[1] जिस प्रकार पराधीन प्रभु को 'प्रभु इव' कहा जाता है, उसी प्रकार पराधीन कर्ता को 'कर्ता इव' कहा जाता है। इससे जीव अकर्ता सिद्ध नहीं होता। गीता में भी १८।१६ श्लोक में 'केवलं' शब्द द्वारा जीव-स्वतन्त्र-कर्तृत्व का निषेध किया गया है। परतन्त्रकर्तृत्व का निषेध नहीं किया गया है।[2] 'एष एव साधु कर्म कारयति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा जीव कर्तृत्व ईश्वराधीन है, यह पुनः पुनः सिद्ध होता है। सुषुप्ति में भी 'सुखपूर्वक सोया था' इस प्रकार की स्मृति द्वारा आत्मा का सुख-भोक्तृत्व सिद्ध होता है। 'संकल्पादेवास्य' इत्यादि श्रुतियों द्वारा संकल्पसिद्धि मुक्त अवस्था में भी कही गयी है। इसलिए सर्वावस्था में जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि स्वाभाविक सिद्ध होते हैं।[3]

अहमर्थ के अनात्मत्व का खण्डन तथा आत्मत्वसिद्धि : अद्वैत वेदान्त के अनुसार अहमर्थ वास्तविक आत्मा नहीं है। अहमर्थ आध्यासिक है, इसीलिए मिथ्या है। वैष्णव दार्शनिकगण अहमर्थ को आत्मा कहते हैं। निम्बार्क दार्शनिक श्रुति-युक्तियों द्वारा अहमर्थ की आत्मत्वसिद्धि करते हैं। अद्वेत वेदान्ती जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में जिसकी अनुवृत्ति होती है, उसे वास्तविक आत्मा कहते हैं—और जिसकी व्यावृत्ति होती है, उसको अनात्मा कहते हैं। अहमर्थ वास्तविक आत्मा से भिन्न है; इसमें श्रुति प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि 'अथातोऽहंकारादेशः' ७।२५।१ छान्दोग्य तथा 'अर्थात आत्मादेशः, छान्दोग्य ७।२५।२, इन श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा से अहमर्थ भिन्न है। सुषुप्ति अवस्था में अहमर्थ की प्रतीति नहीं होती, किन्तु वहाँ पर आत्मा की स्थिति होती है, इन बातों से अहमर्थ का अनात्मत्व ही सिद्ध होता है, इसी-लिए अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है 'अहमर्थानात्मा सुषुप्तावस्थाननुगतत्वात् स्थूल देहादिवत्'।[4] जिस प्रकार स्थूल देह सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में अनुगत नहीं होता, इसी कारण आत्मा भी नहीं होता, उसी प्रकार अहमर्थ की सुषुप्ति में अनुवृत्ति न होने के कारण वह आत्मा नहीं है, अनात्मा है।

निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्तियों के इस अहमर्थ अनात्मवाद का प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि 'इदं रजतम्' इस भ्रम स्थल में जिस प्रकार रजत आरो-

---

१. किंच ध्यायातीव लेलायतीव बृ० ४।३।७ इति श्रुतौ इव शब्दः परतन्त्र प्रभौ प्रभुरिव इतिवत् जीव कर्तृत्वस्य ईश्वर पारतन्त्र्य प्रदर्शन परः। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३८४

२. तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यतिदुर्मतिः। गीता १८।१६

३. वेदान्तकोस्तुभप्रभा, सूत्र २।३।३२

४. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३४५

पित है, उसी प्रकार यदि 'अहमर्थ' भी आरोपित होता, तो उक्त भ्रमस्थल में 'इदं' एवं 'रजतम्' इस प्रकार अंश द्वय भान के समान अहमर्थ में भी अंश द्वय का भान होता, ऐसा नहीं होता है, इसीलिए अहमर्थ 'इदं रजतम्' के समान भ्रम-प्रयुक्त नहीं है। अहमर्थ को आध्यासिक समझाने के लिए 'अयो दहति' के समान 'अहं उपलभे' का उदाहरण भी संगत नहीं है, क्योंकि निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार 'अयो दहति' वाला वाक्य सद्वाक्य न होकर 'वह्निनासिंचेत्' अग्नि से सिंचन करें वाक्य के समान वाक्याभास है।[1] वस्तुतः लोहा तो जला सकता नहीं, इसलिए 'शोणो धावति', 'अग्निर्माणवकः' के समान 'अयोदहति' में 'अयः' पद में अजहल्लक्षणा द्वारा दाहाश्रय अग्नि विशिष्ट लोहा को समझना चाहिए। इसलिए उक्त 'अयो दहति' दृष्टान्त द्वारा 'अहं उपलभे' मेंअंशद्वय की व्याख्या नहीं दी जा सकती। अद्वैतवादी जो आपत्ति देते हैं कि सुषुप्ति में अहमर्थ का स्फुरण नहीं होता, इसलिए वह आत्मा नहीं है। माधवमुकुन्द का कहना कि 'अहमर्थ' इच्छादि विशिष्ट होकर स्फुरित हुआ करता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण के अभाव के कारण इच्छादि का अभाव रहता है, इसलिए 'अहमर्थ' का स्फुरण नहीं हो पाता।[2]

इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुषुप्ति में अहमर्थ का अभाव है। सुषुप्ति में अहमर्थ का अभाव मानने पर जाग्रत् में पुनः अहमर्थ की उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी। इस प्रकार सुषुप्तिपूर्व अहमर्थ तथा सुषुप्ति से उठने पर पश्चात् के अहमर्थ में भेद हो जायेगा। दोनों अहम् व्यक्ति भिन्न-भिन्न होने के कारण 'कृतनाश' एवं 'अकृताभ्यागम' दोष होने लगेंगे। सुषुप्ति से पूर्व अहमर्थ द्वारा किया हुआ कर्म का फल सुषुप्तोत्थित अहं भोग करेगा, जोकि भिन्न अहमर्थ है। सुषुप्ति में विषयविषयक ज्ञानाभाव से अहमर्थ के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि मात्र ज्ञातृ-सत्ता विषय-अनुभव में प्रयोजक नहीं है। सुषुप्ति में विषयों के अभाव के कारण विषय-अनुभव नहीं रहता, अहमर्थ रहता है।

'अहमर्थ अहम् प्रतीति का विषय होता है, इसलिए शरीर में अहम् प्रतीति के समान अहमर्थ भी मिथ्या है।' अर्थात् अनात्मा है। इस प्रकार अनुमान से भी अहमर्थ के अनात्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अधिष्ठानभूत चैतन्य में अध्यस्त अहमर्थ के होने के कारण, उसमें चित् भाग की भी अहम् प्रतीति होने के कारण उक्त अनुमान में व्यभिचार होगा, क्योंकि चिद्भाग अनात्मा नहीं है।[3]

अहमर्थ ही परम प्रेमास्पद है। आत्मा को शास्त्रों में परमप्रेमास्पद कहा गया है। अहमर्थ को अनात्मा मानने पर मोक्ष में उसका बाध होने पर आत्मनाश ही मुक्ति होगी तथा बौद्धमत में प्रवेश होगा, इसलिए अहमर्थ अनात्मा नहीं है, 'जानामि, अनुभवामि' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणों से अहमर्थ के आत्मत्व की सिद्धि होती है। अनुमान द्वारा भी

---

१. उक्त वाक्यस्य 'अग्निनासिंचेत इतिवत् वाक्याभासत्वेनत्वदीय कल्पनामात्रत्वात्। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३४६

२. वही, पृष्ठ ३४६, ३४७

३. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३५९

आचार्य माधवमुकुन्द ने अहमर्थ के आत्मत्व की सिद्धि की है। यथा-'अहमर्थो मोक्षान्वयी तत्साधन-कृत्याश्रयत्वात् सम्मतवत्' अर्थात् अहमर्थ साधन-कृति का आश्रय होने के कारण मोक्षभागी है—जिस प्रकार स्वर्ग फल साधन-कृति का आश्रय यजमान। इस प्रकार माधवमुकुन्द ने अनेकों अनुमानों से अहमर्थ को आत्मा सिद्ध किया है।[1] योग्यानुपलब्धि के द्वारा भी अहमर्थ के आत्मत्व की सिद्धि होती है, यथा यदि अहमर्थ से भिन्न आत्मा का अस्तित्व होता, तो उसकी भिन्नरूप से उपलब्धि होती। अहमर्थ से भिन्न रूप में आत्मा की उपलब्धि नही होती है, अतएव भिन्न रूप से आत्मा की प्रतीति-अभाव अन्यथा-अनुपपत्ति रूप अर्थापति द्वारा अहमर्थात्मत्व की सिद्धि होती है।[2]

वस्तुतः निम्बार्क वेदान्ती अहमर्थ को आत्मभिन्न नहीं मानते। यह बात ठीक है कि अविद्या आदि बन्धन-प्रयुक्त अहमर्थातमा ज्ञान-क्रियादि की दृष्टि से सीमित होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि सीमित आत्मा अनात्मा हो जाय, साधना तथा ईश्वर कृपा से जब अहमर्थातमा अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् अविद्या आदि बन्धनों को अतिक्रमण कर लेता है, तब वह असीमित ज्ञान-क्रियादि का भागी हो जाता है। इस प्रकार एक आत्मा की दो स्थितियाँ हो सकती हैं—बद्ध और मुक्त। बद्ध आत्मा अनात्मा हो जाय, यह युक्ति-विरुद्ध बात है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा में वस्तुतः बन्धन आदि को माना ही नहीं गया। इसीलिए शुद्ध आत्मा ही आत्मा है, अहन्तादिभाव आगन्तुक होने के कारण मिथ्या हैं।

देहात्मैक्याध्यास खण्डन—निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्तियों का देहेन्द्रिय आदि में आत्मा के ऐक्य-अध्यास का खण्डन किया है। अद्वैतवादियों का कहना है कि अनात्मा शरीर में आत्मा का ऐक्य अध्यास होने के कारण 'अहं गौरः', 'अहं स्थूलः' इस प्रकार बुद्धि होती है। गौरत्व, स्थूलत्वादि धर्म आत्मा के नहीं हैं, किन्तु शरीर के धर्म हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय के धर्मों को आत्मा में अद्वैत वेदान्ती अध्यस्त मानते हैं।

निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि देहात्मा के ऐक्याध्यास में किसी प्रकार का प्रमाण नहीं है। अद्वैत वेदान्ती के अनुसार अहमर्थ अनात्मा है। इसलिए 'अहं ब्राह्मणः' में ब्राह्मणत्व धर्म विशिष्ट आत्मा सिद्ध नहीं होता। दूसरी बात यह है कि देहात्मभेदबुद्धि सबको हुआ करती है। कोई व्यक्ति जब यह कहता है 'अहं गेही' इस प्रकार गृह और आत्मा में भेद बुद्धि उस व्यक्ति को रहती है। इसी प्रकार 'अहं देही' इस प्रतीति में भी देह और आत्मा में भेद बुद्धि रहती है, इसलि ए 'ब्राह्मणोऽहम' इत्यादि प्रतीतियाँ भ्रम नहींहैं, अपितु प्रमा है। इन प्रयोगों में ब्राह्मण आदि पद का अर्थ देह संयुक्त आत्मा है। इसी कारण भेद प्रतीतिपूर्वक 'मम देह' इस प्रकार की बुद्धि होती है, अन्धोऽहम्, काणोऽहम इत्यादि बुद्धि भी प्रमा बुद्धि है, क्योंकि भेद बुद्धि के द्वारा मम चक्षु, मम श्रोत्रं आदि व्यवहार भी हुआ करते हैं। 'कृशोऽहम' आदि भी प्रमा बुद्धि है। जब पुत्र के कृश होने पर

१. अहमर्थानात्मा अहं प्रतीति विषयत्वात् शरीरवदिति प्रयोगात्—तत्रव्यभिचारात् परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ३६६
२. वही, पृष्ठ ३६८

'अहं मूकृशः' इस प्रकार पिता को प्रतीति होती है, वह भी भ्रम नहीं, अपितु गौण प्रतीति है। निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार पूर्वोक्त प्रयोगों में देह एवं आत्मा में, इन्द्रिय एवं आत्मा में अध्यास नहीं है, अपितु वे गौण प्रयोग हैं। गौण प्रयोग भ्रम नहीं हुआ करता है। गौण प्रयोग में जैसे 'अग्निर्माणवकः' में बालक और अग्नि में भेदज्ञान रहता है, इसी प्रकार 'मंचाः क्रोशन्ति' में भी गौण प्रयोग है, इसी प्रकार 'अहं शरीरम्', 'अहं ब्राह्मणः' आदि प्रयोगों में भी समझना चाहिए।[1] उक्त स्थलों में अध्यास नहीं है। वस्तुतः निम्बार्क दार्शनिक अद्वैत वेदान्त के अध्यासवाद को नहीं मानते हैं। उन्होंने तथा अन्य वैष्णव दार्शनिकों ने भी अध्यासवाद का खण्डन किया है। इसलिए देहेन्द्रियों में जो 'अहं' का प्रयोग होता है, वे मिथ्या ज्ञानपूर्वक प्रयोग नहीं हैं, अपितु देह विशिष्ट आत्मा के लिए तथा इन्द्रिय विशिष्ट आत्मा के लिए प्रयोग हैं। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिक आत्मा के देह विशिष्ट होने को अस्वीकार नहीं करते, जीवात्मा देह विशिष्ट होता है, इन्द्रिय विशिष्ट होता है। तथा देहेन्द्रिय आदि के सम्पर्क में आकर सुखी-दुखी भी होता है। इसीलिए तो मुक्ति के लिए साधना करता है। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकगण जीवात्मा के विषय में इह लौकिक पक्ष को भी महत्व देते हैं। साथ में पारलौकिक अर्थात् मुक्त जीवन को भी आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं।

जीव परिमाण विचार:-विभु परिमाण खण्डन तथा अणु परिमाण की सिद्धि— जीव परिमाण के विषय में जैन दार्शनिकगण जीव को मध्यम परिमित कहते हैं। न्याय एवं अद्वैत वेदान्ती आदि दार्शकनिगण जीव को विभु परिमित कहते हैं तथा वैष्णव दार्शनिकगण जीव का परिमाण अणु है, कहते हैं। अणु परिमाणवादी वैष्णव दार्शनिकगण तथा विभु परिमाणवादी नैयायिक एवं अद्वैत वेदान्तीगण, जैन दर्शन द्वारा समर्थित मध्यम अर्थात् देह परिमाण का खण्डन करते हैं। मध्यम परिमाण के खण्डन में न्याय दार्शनिकों तथा अद्वैत वेदान्तियों ने अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। अद्वैत वेदान्तियों द्वारा मध्यम परिमाण के खण्डन में प्रस्तुत युक्तियों का हमने द्वितीय अध्याय में उल्लेख किया है। अणुपरिमाणवादी वैष्णव दार्शनिकों ने भी उन्हीं समान युक्तियों द्वारा मध्यम परिमाण का खण्डन किया है। आचार्य माधवमुकुन्द ने जीवात्मा के परिमाण-विचार में विभु परिमाणवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत दोष ही मध्यम परिमाण के खण्डन में दिये हैं। विभु परिमाणवादी एवं अणुपरिमाणवादी—दोनों ही मध्यम परिणाम मानने पर जीव के अनित्य होने का दोष देते हैं।[2] निम्बार्क दार्शनिकों ने जीव को अणु परिमाण माना है। जीव के अणु परिमाण में 'एषोऽणुरात्मा···' मुण्डक ३।१।९, बालाग्रशताभागस्या शतधाकल्पितस्य च, श्वेताश्वतर ५।९', 'आराग्रमात्र'···श्वेताश्वतर ५। ८, 'अणुप्रमाणात्' कठोपनिषद् १। २। ८, इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। इन श्रुतियों में आत्मा को अणु कहा है। कहीं पर बालाग्रशतभागपरि-

---

१. परपक्षगिरिवज्र, (पराभिमतदेहात्मैक्याध्यास निरसनम्) प्रकरण देखें, पृष्ठ ३९० से ४१४ तक।

२. मध्यम परिमाणक इति चेन्न, अनित्यत्वप्रसंगात्। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ७६४

मित जीव को कहा है, कहीं पर आराग्रपरिमाण आत्मा को कहा है। इन वाक्यों से जीवात्मा अणु परिमित है, यह सिद्ध होता है। आचार्य माधवमुकुन्द ने कहा है कि यदि जीवात्मा को अणु परिमित न माना जाये तो जीवात्मा की उत्क्रान्ति आदि सम्भव नहीं होंगी। उत्क्रान्ति आदि श्रुति में पतिपादित हैं। बृहदारण्यक में चक्षु से अथवा मस्तक से जीवात्मा का निष्क्रमण होता है, कहा गया है।[1] कौषीतकि श्रुति में भी कहा है कि जो कोई इस लोक से प्रस्थान करते हैं, वे चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं।[2] बृहदारण्यक में ही पुनः कहा गया है कि जीवात्मा उस लोक से कर्म लोक के लिये पुनः आगमन करता है।[3] इन श्रुतियों से आत्मा का गमन-आगमन सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्रकार ने भी 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' सूत्र २।३।१९ द्वारा जीवात्मा के विषय में गमनागमन का उल्लेख किया है। निम्बार्क दार्शनिकों का आत्मा में अणुत्व में गमनागमन विषयक तर्क ही जोरदार तर्क है। यदि जीवात्मा अणु परिमित नहीं होगा, तो उसके विषय में गमनागमन सम्भव नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में उन श्रुतियों में तथा सूत्रों में जीवात्मा के विषय में गमनागमन का कथन क्यों किया जाता? श्रुति वाक्य तथा सूत्र-वाक्य निरर्थक हों, यह तो अद्वैत वेदान्तियों को भी अभीष्ट न होगा। आत्मा को विभु परिमित मानने पर उसके विषय में उत्क्रान्ति आदि का कथन व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि विभु आत्मा सर्वव्यापी होने के कारण उसके गमनागमन का प्रश्न नहीं उठता। यदि विभुत्ववादी यह शंका करें कि 'एष महानज आत्मा' इत्यादि स्थलों में आत्मा को विभु कहा गया है, इस प्रकार अणुत्ववाद का खण्डन हो जाता है। इसका उत्तर निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार यह होगा कि उक्त स्थलों में आत्मा शब्द से ब्रह्म को लेना है, न कि जीवात्मा को। ब्रह्म विभु स्वरूप है, यह निम्बार्क दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं। यदि यह शंका की जाये कि आत्मा को अणु परिमित मानने पर सर्वांगानुगत सुख-दुःखादि का बोध नहीं हो सकेगा। परन्तु शीतल जल में स्नान करने पर सर्वांग में युगपत् शैत्य-उपलब्धि होती है। इसी प्रकार उष्णता की उपलब्धि भी समझनी चाहिये। इसके उत्तर में निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि जीवात्मा अणु परिमित है, यह ठीक है, किन्तु जीवात्मा का धर्म ज्ञान विभु है अर्थात् ज्ञान गुण व्यापक है। इसी कारण सर्वांग में एक साथ शैत्यानुभूति होती है। शास्त्र भी कहता है कि जिस प्रकार चक्षु का प्रकाश बहु देश-व्यापी होता है, परन्तु चक्षु अणु परिमित होता है, उसी प्रकार अणु परिमाण जीवात्मा का भी ज्ञानरूप प्रकाश वहु देशव्यापी होता है।[4] गीता में भी कहा गया है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही क्षेत्री जीवात्मा सम्पूर्ण

---

१. तेनप्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नोवा। बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।४।२

२. ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। कौषीतकि उपनिषद् १।२

३. तस्मात् लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे। बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।४।६

४. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ७६५

क्षेत्ररूप शरीर को ज्ञान से प्रकाशित करता है।[1] ब्रह्मसूत्रकार ने भी जीवात्मा के अणु होने पर भी उसमें ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र शरीर में है, इसका समर्थन 'तद्गुणसारत्वात्...' २।३।२६ सूत्रद्वारा किया है। इसी प्रकार सर्व शरीर में व्याप्त ज्ञान गुण द्वारा जीवात्मा सर्वांग में अनुगत सुख-दुःखादि का बोध करता है। यहाँ पर पुनः यह आशंका की जा सकती है कि ज्ञान आत्मा का धर्म है, निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार आत्मा अणु परिमाण है, गुण द्रव्यमात्रवृत्तिवाला होता है, ऐसी स्थिति में अणु परिमित आत्मा को छोड़कर शरीर के अन्य प्रदेशों में ज्ञान का अनुभव अर्थात् ज्ञान द्वारा अनुभव कैसे सम्भव है? इस पर निम्बार्क दार्शनिकों ने प्रदीप प्रभा एवं चन्दन बिन्दु का दृष्टान्त देकर यह समझाने का प्रयास किया है कि ज्ञान सर्वव्यापी हो सकता है, जिस प्रकार प्रदीप प्रभा प्रदीप को छोड़कर के सम्पूर्ण गृह में व्याप्त होती है, जिस प्रकार चन्दन बिन्दु की सुगन्धि चन्दन बिन्दु स्थल को छोड़कर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो सकती है, जिस प्रकार पुष्प गन्ध दूरवर्ती स्थान को भी व्याप्त करती है, उसी प्रकार अणु परिमित जीवात्मा का ज्ञान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो सकता है।[2] ज्ञान को व्यापक मानने पर चैत्र के ज्ञान से मैत्र के सुख-दुःखादि बोध का प्रसंग नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या के द्वारा बद्धजीव का ज्ञान व्यापक होने पर भी आवृत्त होता है। जीवात्मा का ज्ञान अविद्या द्वारा आवृत्त होता है, इसमें 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' तथा 'आवृतं ज्ञानमेतेन' इत्यादि गीता श्लोक प्रमाण है।[3] इसी कारण अर्थात् अज्ञानावृत ज्ञान होने के कारण देवदत्त यज्ञदत्त के सुख-दुःखादि को अनुभव नहीं कर सकता। अविद्या आवरण दूर होने पर जीवात्मा भी सभी के सुख-दुःखों को अनुभव कर सकता है। आत्मा का ज्ञान विभु है, इस बात को लक्ष्य करके ही कहीं-कहीं पर श्रुति-स्मृति में आत्मा को विभु कहा गया है। वहाँ पर विभु ज्ञान को मान करके ही आत्मा को विभु कहा गया है। वस्तुतः आत्मा अणु परिमित है।[4]

जीवेश्वर सम्बन्ध (तत्वमसि एवं अखंडार्थ-खण्डन)—निम्बार्क मत में जीव ब्रह्म का अंश है। अंश होने के कारण वह ब्रह्म से भिन्न एवं अभिन्न दोनों हैं। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिक जीव ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं। ईश्वर से जीव भिन्न है, क्योंकि जीव 'अज्ञ' है तथा ईश्वर 'ज्ञ' है। साथ में अंश-अशी भाव से जीवेश्वर अभिन्न भी हैं, यह बात तत्वमसि आदि वाक्यों द्वारा सिद्ध होती है।[5] जीव अल्प शक्तिमान् है। इसीलिये ईश्वर आधीन है। फिर भी निम्बार्क दर्शन में जीव का पृथक् व्यक्तित्व माना

---

१. यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत, गीता १३। ३३
२. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ७६६
३. गीता ५।१५ एवं ३।३९
४. हमने द्वितीय अध्याय में अद्वैतवेदान्त में जीवपरिमाण की चर्चा में जीवाणुत्व एव विभुत्व की विस्तृत चर्चा की है, अतः यहां पर अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं।
५. ब्रह्मसूत्र २।३।४२, निम्बार्क भाष्य।

गया है। निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार अंश और अंशी में स्वाभाविक भेद एवं अभेद सम्बन्ध होता है। जीव-जगत् से ईश्वर भिन्न भी है, अभिन्न भी है। श्रीनिवासाचार्य ने वेदान्त कौस्तुभ में कहा है कि भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम चिदचिद् स्वाभाविक भेदाभेद का आश्रय है।[1] भेद और अभेद में से दोनों ही सत्य एवं तुल्य बल हैं। श्रुति में भेदबोधक तथा अभेद बोधक—-दोनों ही प्रकार के वाक्य मिलते हैं। दोनों प्रकार के वाक्यों के तुल्यबल होने के कारण जीवेश्वर में स्वाभाविक भेदाभेद ही मानना चाहिये।[2] अंशी अंश का अतिक्रमण करके रहता है। इसीलिये ईश्वर का विश्वातीत स्वरूप भी है। किन्तु अंश अंशी को अतिक्रमण करके नहीं रह सकते, इसीलिये जीव ईश्वराधीन है। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकगण जीवेश्वर सम्बन्ध की व्याख्या में अत्यन्त भेदवाद का तथा अत्यन्त अभेदवाद का खण्डन करते हैं। दोनों प्रकार की श्रुतियों अर्थात् भेद प्रतिपादक एवं अभेद प्रतिपादक श्रुतियों के अर्थ को यथार्थ रूप में बनाये रखते हुए निम्बार्क दार्शनिक कहते हैं कि भेद विषयक श्रुतियां परतन्त्र सत्ता विषयक हैं तथा अभेद विषयक श्रुतियां स्वतन्त्र सत्ता विषयक हैं।[3] निम्बार्क दार्शनिक भेद एवं अभेद—दोनों को ही परमार्थ मानते हैं। वे अद्वैत वेदान्तियों के इस मत के घोर विरोधी हैं कि भेद व्यावहारिक एवं अभेद पारमार्थिक है।

निम्बार्क दार्शनिकगण स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध को मानते हुए ही 'तत्वमसि' महावाक्य की व्याख्या करते हैं। 'तत्वमसि' महावाक्य द्वारा जीवेश्वर सम्बन्ध की व्याख्या श्रुति ने स्वयं प्रस्तुत की है, इसलिये जीवेश्वर सम्बन्ध को स्वाभाविक भेदाभेद ही मानना उचित है। अद्वैत वेदान्तियों ने 'तत्वमसि' की व्याख्या द्वारा जीवेश्र में अभेदवाद की सिद्धि की है। निम्बार्क दार्शनिकों ने तत्वमसि की मात्र अभेद परक व्याख्या का प्रत्याख्यान किया है।

तत्वमसि की मात्र अभेदपरक व्याख्या का खण्डन—अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य के समान तत्वमसि वाक्य द्वारा जीव एवं ब्रह्म में ऐक्य-प्रतिपादन हुआ है। उनके अनुसार 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में तत्कालविशिष्ट देवदत्त एवं एतत्कालविशिष्ट देवदत्त में अभिधा द्वारा एकत्व नहीं हो सकता। इसलिये यहां पर भागत्याग लक्षणा द्वारा 'सः' पद से बोधित 'तत्काल' एवं 'तद्देश' तथा 'अयं' से बोधित 'एतत्काल' एवं 'एतद्देश' आदि विशेषणांशों को त्यागकर मात्र वेवदत्त पिण्ड का बोध होता है, इस प्रकार देवदत्त की एकत्व-सिद्धि होती है। उसी प्रकार तत्वमसि में भी भागत्याग लक्षणा द्वारा जीवब्रह्मएकत्व की सिद्धि अद्वैत वेदान्ती करते हैं। 'तत्' पद से सर्वज्ञत्व आदि विशिष्ट ईश्वर बोधित होता है 'त्वं' पद से अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जीव का बोध होता है। दोनों में अभिधा द्वारा पदार्थ ज्ञान होने में वाधा होने के कारण भाग-त्याग

---

१. वेदान्त कौस्तुभ, सूत्र १।१।१

२. वेदान्त कौस्तुभ भाष्य, सूत्र २।२।४२

३. तत्रभेदवाक्यानां परतन्त्र सत्ताविषयाकत्वेन स्वार्थविधायित्वम्…स्वतन्त्र सत्व विषयिका चाभेद वाक्यप्रवृत्तिः। वेदान्त कौस्तूभ प्रभा, सूत्र २।३।४२

द्वारा सर्वज्ञत्वादि विशिष्टत्व अंश का तथा अल्पज्ञत्वादि विशिष्टत्व अंश का त्याग करके मात्र चैतन्य का ही बोध होता है और जीव ब्रह्म एकत्व की सिद्धि होती है। निम्बार्क दार्शनिकों ने इस प्रकार एकत्ववाद का खण्डन किया है और कहा है कि उक्त 'तत्वमसि' की व्याख्या में 'सोऽयं देवदत्तः' वाला दृष्टान्त असंगत है। देवदत्त धर्म एक ही है अर्थात् देवदत्त व्यक्ति एक ही है, इसलिए कालभेद एवं देशभेद से भासमान उक्त धर्मद्वय देवदत्त धर्मी में विरुद्ध नहीं हैं। किन्तु 'तत्वमसि' वाक्य में 'तत्' पदार्थ द्वारा बोधित सर्वज्ञत्व एवं 'त्व' पदार्थ द्वारा बोधित 'असर्वज्ञत्व' दोनों ही एक ही काल में भासित होते हैं।[1]

अद्वैत वादी 'तत्वमसि' में लक्षणा नहीं मान सकते, क्योंकि गुणक्रियादि धर्मयुक्त वस्तु ही शब्द का लक्ष्य और वाच्य हो सकती है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष कहते हैं। इसलिये ब्रह्म लक्षणा का लक्ष्य नहीं बन सकता। लक्षणा में मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्यार्थ का ग्रहण किया जाता है, जैसे गंगा पद से गंगा सम्बन्धित तट लिया जाता है। तत् पद से क्या सगुण ब्रह्म से सम्बधित निर्गुण ब्रह्म लिया जायेगा ? अद्वैत वेदान्ती निर्गुण ब्रह्म को सगुण ब्रह्म से सम्बन्धित नही मान सकते। मानने पर उसमें निर्गुणत्व नहीं रहेगा। अद्वैत वेदान्ती 'तत्वमसि' वाक्य को अखण्डार्थक वाक्य मानते हैं। निम्बार्क दार्शनिकों ने अखण्डार्थक वाक्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार कोई भी वाक्य अखण्डार्थक नहीं हो सकता। समस्त वाक्य सखण्डार्थक एवं समस्त ज्ञान सविकल्पिक हैं, वाक्यमात्र ही पदार्थ-संसर्गबोधक हैं। आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि विशिष्ट पद समुदाय को वाक्य कहते हैं। जिसमें आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि नहीं हैं, वह वाक्य नहीं है, जो पद ससृष्टार्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, उनसे वाक्य नहीं बन सकता। संसृष्टार्थ बोधक पदों द्वारा सखण्डार्थक वाक्य का ही निर्माण होता है। ब्रह्म पद भी सखण्डार्थक पद है। श्रुति ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि बृहद् गुणों का कथन करती है। इसलिये 'तत्वमसि' में 'तद्' पद भी संसृष्टार्थ का बोधक है, अखण्डार्थ बोधक नहीं। अतः 'तत्वमसि' वाक्य को अखण्डार्थ बोधक वाक्य नहीं कह सकते। 'सोऽयं देवदत्तः' में भी विशेषणविशिष्टविषयक प्रतीति होती है। वह प्रतीति निष्प्रकारक प्रतीति न होने के कारण अखण्डार्थ विषयक प्रतीति नहीं है। इस-लिये अखण्डार्थ बोध में 'सोऽयं देवदत्तः' दृष्टान्त नहीं बन सकता।

निम्बार्क मत में तत्वमसि की व्याख्या—निम्बार्क दार्शनिकगण स्वतन्त्र सत्ता एवं परतन्त्र सत्ता भेद से दो प्रकार की सत्तायें स्वीकार करते हैं। स्वतन्त्र सत्ता एकमात्र परमेश्वर की ही है। जीव-जगत् की सत्ता परतन्त्र सत्ता है। 'तत्वमसि' वाक्य में जीवात्मा एवं ब्रह्म में तादात्म्य का उपदेश किया गया है। तादात्म्यउपदेश द्वारा समस्त जीवों की ब्रह्माधीन स्थिति बतलाई गयी है। जीव ब्रह्म में व्याप्त हैं, एक मात्र ब्रह्म ही जीवात्माओं का आधार है एवं जीव आधेय हैं। इस प्रकार का अभेद प्रतिपादन ही 'तत्वमसि' वाक्य द्वारा हुआ है। जीव ब्रह्म में पूर्णतया ऐक्य-प्रतिपादन करना 'तत्वमसि' वाक्य द्वारा अभि-प्रेत नहीं है, अन्यथा भेद प्रतिपादक श्रुतियां बाधित हो जायेंगी। ब्रह्म से जीवात्माओं का

---

१. तत्तेदन्तयोः कालभेदेनेकत्रैव सम्बन्ध सम्भवेन दृष्टान्तासिद्धेः। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ५७३

अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध 'तत्वमसि' द्वारा कहा गया है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों द्वारा भी जीव ब्रह्म में अपृथक्-सम्बन्ध ही बतलाया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने वेदान्त कौस्तुभ प्रभा में 'तत्वमसि' की व्याख्या करते हुए 'तत्' एवं 'त्वं' का अर्थ किया है, उन्होंने कहा है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र सत्ताश्रय श्री पुरुषोत्तम ही उक्त 'तत्' पद का अर्थ है। एवं तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय चेतन ही 'त्वं' पद का अर्थ है। 'असि' शब्द दोनों में तादात्म्यसम्बन्ध का अभिधायक है इसलिये 'तत्वमसि' का अर्थ हुआ—विश्वात्मा, परब्रह्म, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र सत्ता अवच्छिन्न, तत् पदार्थ अभिन्न, तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय चेतन 'त्वम्' है।[1] 'तत्वमसि' वाक्य में उक्त प्रकार से जीव ब्रह्म अभेद प्रतिपादित होने पर भी सर्वथा एकान्त अभेद प्रतिपादित नहीं हुआ है। क्योंकि निम्बार्क मत में जीव ब्रह्म में स्वाभाविक भेद है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस विषय में निम्बार्क सम्प्रदाय आचार्य श्री सन्त-दास स्वामी कहते हैं कि जीव स्वरूप बोधार्थ ही श्रुति 'तत्वमसि' द्वारा एकान्त अभेद स्थापित नहीं होता। जीव ब्रह्मप्राकृतिक अर्थात् ब्रह्माधीन है, यही कहा गया है। घट जिस प्रकार मृत्तिका से अभिन्न है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्माभिन्न है। अर्थात् घट मिट्टी से भिन्न होते हुए भी मृद् प्राकृतिक है, उसी प्रकार जीव अपने में भिन्न होते हुए भी ब्रह्म प्राकृतिक हैं।[2]

इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकगण जीव-ब्रह्म में स्वाभाविक भेदाभेदवाद की स्थापना करते हैं। अद्वैत वेदान्त द्वारा लक्षणामूलक ऐक्यवाद में उनकी आस्था नहीं है, क्योंकि उस प्रकार की व्याख्या में भेद की पूर्णतया अवेहलना की गयी है, जबकि निम्बार्क मतानुसार भेद भी स्वाभाविक है। अभेद तो स्वाभाविक है ही, इसी कारण निम्बार्क दार्श-निकों ने सम्पूर्ण द्वैत और सम्पूर्ण अद्वैत का प्रत्याख्यान किया है।

बद्ध एवं मुक्त जीव—निम्बार्क दर्शन के अनुसार आत्मस्वरूप-प्राप्ति एवं भगवत् भावापत्ति ही मोक्ष है। बद्ध अवस्था में जीव अविद्या द्वारा ग्रसित होता है और उसका स्वरूप उस अविद्या से आवृत रहता है। मुक्त अवस्था में जीव अपने स्वरूप एवं गुणों से परमेश्वर सदृश हो जाता है। जीवात्मा वस्तुतः ज्ञान स्वरूप है, इसलिए मुक्ति में अविद्या के दूर होने से वह अपने स्वरूप-भूत ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह अपरिच्छिन्न ज्ञान के कारण परमेश्वर के सदृशभाव को प्राप्त कर लेता है। वह मुक्ति में सर्वज्ञत्व, अपहतपाप्मत्व, सत्यसंकल्पत्व, कामचारत्व आदि ब्रह्मगत धर्मों से सम्पन्न हो जाता है।[3] मुक्तावस्था का जीव ब्रह्म के साथ गुणगत एवं स्वरूपगत साम्यभाव को प्राप्त कर लेता है, इसी को भगवद्भावापत्ति कहते हैं।

बद्धजीव अनादि कर्म-रूप अविद्या के कारण देव, तिर्यक्, मनुष्यादि शरीरों में आत्मीय अभिमान द्वारा अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकार अभिमान द्वारा संसार चक्र-भ्रमण-

---

१. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, सूत्र २।३।४२, केशव काश्मीरी भट्ट।
२. वेदान्त दर्शन-द्वैताद्वैत सिद्धान्त, श्री स्वामी सन्तदास कृत, पृष्ठ २४५ तृतीय संस्करण।
३. ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य, सूत्र ४।४।२ एवं ४।४।५

जन्य दुःखादि का अनुभव किया करता है।[1] इस प्रकार अनुभूति-विशिष्ट जीव ही बद्ध जीव कहलाता है। यही बद्ध-जीव भगवान् की कृपा से गुरु के ऊपर देव बुद्धि करके शत-शास्त्र श्रवण करके संसार रोग से मुक्त होता है। पुरुषोत्तमाचार्य ने बद्ध जीव के दो भेद किये हैं—मुमुक्षु एवं बुभुक्षु। मुमुक्षु भी दो प्रकार के हैं—भगवत्भावापत्तिलक्षण-मुक्ति-कामी तथा निज स्वरूपआपत्तिकामी। बैषयिक आनन्दकामी जीव बुभुक्षु होते हैं।[2]

निम्बार्क दार्शनिकों ने जीव के बद्ध, मुक्त एवं नित्य मुक्त भेद से तीन भेद किये हैं। बद्ध का लक्षण ऊपर दिया गया है। बद्धमुक्त सादिमुक्त भी कहलाता है। अर्थात् इस प्रकार जीव अनादि कर्मात्मक अविद्या प्रयुक्तप्रकृति सम्बन्ध एवं प्रकृतिसम्बन्ध के कार्य दुःख-भोग के उपयोगी देहादि रूप बन्धनों से मुक्त होकर भगवत्भाव को प्राप्त करता है। इसी प्रकार के बद्ध मुक्त जीव के लिये श्रुति में कहा गया है—'जहात्येनांभुक्तभोगाम्' श्वेताश्वतर ४। ५, 'बहवो ज्ञानतपसापूताः', गीता, इत्यादि स्मृति में भी बद्ध मुक्त जीव का उल्लेख है। बद्ध मुक्त जीव अपने-अपने कर्मानुसार शरीरादि बन्धनों में फंसते हैं, किन्तु भगवत् कृपा एवं साधना के द्वारा वे मुक्त हो जाते हैं। शुक, वामदेवादि बद्ध मुक्त जीव हैं, तृतीय प्रकार का जीव नित्यमुक्त जीव होता है। नित्यमुक्त जीव कभी भी संसार दुःखों का अनुभव नहीं करता। भगवत् कृपा से नित्य मुक्त जीव में सर्वदा स्वरूप गुणों का प्रकाश रहता है तथा स्वरूपतः नित्यानन्द का उपभोग करता है। गरुड़ आदि नित्य मुक्त जीव हैं।[3]

बद्ध जीव ही भगवत्कृपा एवं साधना से मुक्त होकर बद्धमुक्त जीव हो जाता है। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है—'निरंजनः परमं साम्यमुपैति' ३।१।३। निम्बार्काचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है कि 'ब्रह्मसाक्षात्काराद्हेतोस्तेन सह साम्यं याति'।[4] इस प्रकार मुक्त अवस्था में स्वरूपभूत सत्य-संकल्पत्व, ज्ञान स्वरूपत्व, आदि गुणों से विशिष्ट होकर जीव परमेश्वर के समान हो जाता है। जीव के अन्दर मुक्ति-अवस्था में जगत्-सृष्टि करने की शक्ति नहीं होती। इस बात को छोड़कर बाकी सभी गुण परमेश्वर के समान मुक्त-जीव में प्रकाशित होते हैं। ब्रह्मसूत्र में 'जगत्व्यापार वर्जं'……४।४।१७ अर्थात् जगत् व्यापार को छोड़कर के जीव में अन्य गुणों को बतलाया गया है। जीव अणु है, इसीलिये ईश्वर के समान सामर्थ्य सम्पूर्ण भाव से जीव में नहीं हो सकता। अंश कभी भी अंशी के समान नहीं होता। मुक्त-जीव भोग में ब्रह्म की समानता रखता है, किन्तु सामर्थ्य में नहीं। श्रुति-स्मृति एवं सूत्रादि द्वारा मुक्त-जीव को ईश्वर सादृश्य बतलाया गया है, इसीलिये जीव एवं ईश्वर में भेद भी बना रहता है, क्योंकि सादृश्य का अर्थ है 'तद्भिन्न-त्वेसति तद्गत भूयो-धर्मवत्वं सादृश्यम्' अर्थात् भिन्नता होते हुए भी समान धर्मों को लेकर सादृश्य होता है, दो वस्तुओं में सादृश्य होता है, अभेद में नहीं।

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ७६८, ७६९
२. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृष्ठ २२
३. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ७६७, ७६८
४. ब्रह्मसूत्र, निम्बार्क भाष्य, ३।२।२६

निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार मुक्त-जीव मुक्ति अवस्था में ईश्वर सादृश्य को प्राप्त करके अपनी इच्छा से नाना प्रकार भोगों को भी भोग सकता है। इनके अनुसार शास्त्रों तथा सूत्र भाष्यों द्वारा मुक्त-जीव के भोग का समर्थन मिलता है।[1] श्रुति में 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' मुक्त अवस्था में वह आनन्द का उपभोग करता है, कहा गया है। निम्बार्क दार्शनिकगण अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रतिपादित मुक्ति अवस्था में जीव ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है, इस सिद्धान्त का खण्डन करते है, उनके अनुसार जीव ब्रह्म के समान हो जाता है, परन्तु ब्रह्म से अभिन्न नहीं होता। जहां पर 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति',[2] अर्थात् ब्रह्मज्ञ पुरुष ब्रह्म ही होता है, ऐसा कथन आया है, उसका अर्थ निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार ब्रह्म हो जाना नहीं है, अपितु ब्रह्म के समान गुणों को प्राप्त करने के कारण सादृश्य में ब्रह्म ही हो जाता है, कहा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में 'ब्रह्म विदाप्नोति परम' १।१।१, कहा गया है। इसमें ब्रह्म के लिए प्राप्त करने की बात कही गयी है। जीव ब्रह्म को प्राप्त करता है, इससे जीव ब्रह्म में भेद सिद्ध होता है। गीता में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि मुक्त-अवस्था में जीव मेरे साधर्म्य को प्राप्त करता है। साधर्म्य का अर्थ समान धर्म—अर्थात् गुणों को प्राप्त करना है, एक होना नहीं।[3] निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार भी मुक्ति में अविद्या निवृत्ति हो जाती है। इनके अनुसार वेदान्त-श्रवण आदि साध्य-ज्ञान का प्रागभाव ही अविद्या का अर्थ है, इस अविद्या का नाश ही अविद्या-निवृत्ति है। यह अविद्या निवृत्ति मुक्त पुरुष में रहती है। मुक्त पुरुष इस अविद्या निवृत्ति का आश्रय है।[4] निम्बार्क दार्शनिक देहपात के अनन्तर मुक्त पुरुष की उत्क्रान्ति भी मानते हैं। निम्बार्क दार्शनिकगण शरीर त्याग के अनन्तर ही मुक्ति मानते हैं। जीवन्मुक्ति नहीं मानते।

जीवन्-मुक्ति का खण्डन—निम्बार्क सम्प्रदाय आचार्य श्री केशव कश्मीरी भट्ट श्री पुरुषोत्तम प्रसाद, श्री माधवमुकुन्द आदि ने अद्वैत वेदान्त स्वीकृत जीवन्-मुक्ति का अपने-अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है। उनका कहना है कि अद्वैत वेदान्ती मूलाविद्या की निवृत्ति को ही मुक्ति मानते हैं। यदि ब्रह्म साक्षात्कारात्मक ज्ञान से मूलाविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तो अविद्या की निवृत्ति के साथ-साथ अविद्याकार्य देहादि का भी नाश हो जायेगा। इसलिए जीवन्मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। वार्तिककार सुरेश्वर आचार्य ने स्वयं कहा है कि 'तत्वमसि' आदि वाक्य से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान के उदय होते ही अविद्या एवं अविद्या के कार्य नष्ट हो जाते हैं'[5] ऐसी स्थिति में ब्रह्मज्ञ पुरुष

---

१. भोगमात्र साम्यलिंगाच्च। ब्रह्मसूत्र ४। ४। २१ संकलपादेव तच्छ्रुतेः। ब्रह्मसूत्र ४।४।८ निम्बार्कभाष्य भी।

२. मुण्डक उपनिषद्, ३।२।९

३. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्यमागताः, गीता १४।२

४. वेदान्तकौस्तुभ प्रभा, सूत्र ४।४।७

५. तत्वमसि आदि वाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति ।। १८३ वा
वेदान्त प्रक्रिया प्रत्याभिज्ञा (वार्तिक प्रस्थान परीक्षा), पृष्ठ २२०

का शरीर नहीं रह सकता, अर्थात् ज्ञान होते ही शरीर का पात होना अनिवार्य है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार अद्वैत वेदान्त द्वारा स्वीकृत जीवन्-मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। अविद्या की निवृत्ति होने के बाद जिस प्रारब्ध कर्म के शेष रहने की बात अद्वैत वेदान्ती करते हैं, उस प्रारब्ध कर्म का उपादान क्या होगा? अविद्या तो रही नहीं, यदि ब्रह्म को प्रारब्ध कर्म का उपादान कहा जाये, तो उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के नित्य होने के कारण प्रारब्ध कर्म भी नित्य होने लगेगा। ऐसी स्थिति में कभी भी विदेह-मुक्ति नहीं हो सकेगी। यदि अद्वैत वेदान्ती ज्ञान होने के पश्चात् भी अविद्या की अनुवृत्ति कुछ काल के लिए मानते हैं तब तो ज्ञान अज्ञान का विरोध ही समाप्त हो जायेगा। ज्ञान अज्ञान का उपमर्दक है। ब्रह्म ज्ञान होने के पश्चात् भी अविद्या की अनुवृत्ति मानने पर ब्रह्म ज्ञान में अविद्या उपमर्दकत्व नहीं रहेगा। यदि जीवन्-मुक्ति के समर्थन के लिए अद्वैत वेदान्ती यह कहे कि ब्रह्म ज्ञान द्वारा अविद्या की आवरण शक्ति नष्ट हो जाती है, विक्षेप शक्ति बनी रहती है, तो ऐसा कहना भी संगत नहीं होगा, क्योंकि एक ही अविद्या की एक काल में निवृत्ति एवं स्थिति सम्भव नहीं है। अविद्या की शक्ति नष्ट होती है, अविद्या बनी रहती है, यह भी बात संगत नही है, क्योंकि शक्तिमान् शक्ति के बिना नहीं रहता। यदि अद्वैत वेदान्ती लहसुन भाण्ड[1] का दृष्टान्त देकर जीवन्-मुक्ति का समर्थन करना चाहें, तो भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सूर्योदय होने पर सम्पूर्ण अन्धकार का नाश हो जाता है। स्वल्प-मात्र भी अन्धकार की अनुवृत्ति नहीं होती, इस प्रकार ज्ञान होने पर अविद्या की अनुवृत्ति सम्भव नहीं है। यदि अद्वैत वेदान्ती दग्धपट का दृष्टान्त देकर जीवन्-मुक्ति का समर्थन करना चाहें, तो भी सम्भव नहीं है। दग्धपट में पट की आकृतिमात्र बनी रहती है। उस आकृति से आच्छादन आदि का कार्य नहीं हो सकता, किन्तु जीवन्-मुक्त पुरुष पूर्ववत् सभी कार्यों को करते हैं। इसलिए उक्त दृष्टान्त विषम-दृष्टान्त है। इस प्रकार जीवन्-मुक्ति में किसी भी प्रकार का प्रमाण नहीं है।

निम्बार्क दार्शनिक जीवन्-मुक्ति नहीं मानते। उन्नत साधक हो सकते हैं, जिनको कि शास्त्रों का बहुत ज्ञान हो, किन्तु परमेश्वर का साक्षात्कार ज्ञान होने पर वह जीव देह-त्याग कर मुक्त हो जायेगा, अज्ञान के बिना शरीर नहीं रह सकता। अज्ञान निवृत्ति होते ही शरीर का पात हो जाता है, इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षे अथ सम्पत्स्ये' जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं होता तभी तक पाप-पुण्य रहते हैं। ज्ञान होते ही पाप-पुण्यों का विनाश हो जाता है और शरीर पातान्तर मुक्त हो जाता है। जब तक प्रारब्ध कर्म बना रहता है, उसे मुक्त जीव नहीं कहा जा सकता। शास्त्रों में जहाँ पर जीवित अवस्था में अमृतत्व लाभ बतलाया गया है वहाँ पर पूर्व कृत पाप-पुण्य-विनाश

---

१. प्रारब्ध कर्म की अनुवृत्ति में अद्वैत वेदान्ती लहसुन भाण्ड का दृष्टान्त दिया करते हैं। लहसुन भाण्ड में जिस प्रकार प्रक्षालन करने के अनन्तर भी लहसुन की गन्ध कुछ काल तक बनी रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर अविद्यालेश कुछ काल तक रहता है। इसी से जीवन्-मुक्ति सिद्ध होती है, अर्थात् मुक्त पुरुष का कुछ काल तक शरीर बना रहता है।

रूप अमृतत्व मानना चाहिए, न कि जीवित अवस्था में ब्रह्म प्राप्ति ।[1] अद्वैत वेदान्तियों में मण्डन मिश्रादि आचार्य भी जीवन्-मुक्ति को नहीं मानते । वे जीवन्-मुक्ति की स्थिति को साधक का उन्नत स्तर मानते हैं ।

जीव के विषय में निम्बार्क मत तथा कुछ अन्य आचार्य

निम्बार्क एवं भास्कर आचार्य—भास्कराचार्य औपाधिक भेदाभेदवादी हैं; यह बात हमने तृतीय अध्याय में कही है । जीव के विषय में भास्कर आचार्य निम्बार्काचार्य के समान ही जीव को अणु मानते हैं । जीव संख्या में अनन्त है । जीव ज्ञान-स्वरूप, ज्ञातृत्व गुणयुक्त, कतृत्व-भोक्तृत्व-धर्मविशिष्ट एवं ब्रह्माधीन है । किन्तु भास्कर के अनुसार जीव में ज्ञान स्वरूपत्व एवं ज्ञातृत्व गुणों को छोड़कर अन्य कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अणुत्व, अनन्तत्व आदि धर्म औपाधिक हैं, स्वाभाविक नहीं ।[2] उपाधि के विनाश होने पर औपाधिक धर्मों का भी विनाश हो जाता है, इसलिए वे औपाधिक धर्म अनित्य एवं आगन्तुक हैं ।[3] किन्तु भास्कर के मत में अविद्या आदि उपाधि मिथ्या नहीं हैं ।[4] इसलिए भास्कर के अनुसार सृष्टि-अवस्था में जीव-जगत् का ब्रह्म के साथ भेदाभेद सम्बन्ध है, किन्तु कारण अवस्था में जीव-जगत् ब्रह्म से सम्पूर्णरूप से अभिन्न हैं । मुक्ति-अवस्था में भी जीव-जगत् ब्रह्म में एकीभूत हो जाते हैं ।[5]

अतः भास्कर मत में उपाधि द्वारा जीव ब्रह्म से भिन्न है । उपाधि के नाश होने पर जीव ब्रह्म अभिन्न हो जाता है । अभिन्नत्व ही स्वाभाविक है । जीव ब्रह्म का सम्बन्ध भी औपाधिक है । शंकर मत में उपाधि भी मिथ्या है, किन्तु भास्कर मत में वह मिथ्या नहीं, अनित्य है ।[6] अर्थात् भास्कर मत में शाश्वत सत्य ही नित्य है, सामयिक सत्य अनित्य है । इस मत में मुक्त-अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ एकीभूत होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार घट के टूटजाने से घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार जीव भी अविद्या आदि उपाधि के नाश होने पर ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है ।[7] निम्बार्क मत में मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है, यह बतलाया जा चुका है । इसीलिए निम्बार्क दार्शनिक, केशव काश्मीरी भट्ट, माधव मुकुन्द आदि ने औपाधिक भेदाभेदवाद का खण्डन

---

१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः । अथमर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते । कठ० २।३

२. औपाधिकं कर्तृत्वं मन्यते विद्वान्, इतरस्तु स्वाभाविकम् इति । भास्करभाष्य ब्र० सू० ३।४।२६

३. भास्कर भाष्य ब्र० सू० २।३।४३

४. भास्कर भाष्य ब्र० सू० २।३।१८, १।१।१८, २।३।३३ इत्यादि ।

५. वही, १।२।६, १।४।२१, २।१।२२ इत्यादि ।

६. भास्कर भाष्य सूत्र, २।३।४०

७. यतः प्रादुर्भूताः तत्रैव स्वकारणे प्रलीयन्ते । भास्कर भाष्य ब्रं० सू० ४।२।१४

किया है। उनका कहना है कि ब्रह्म उपाधि के द्वारा खण्डित नहीं हो सकता। उपाधि से सीमित जीव भी ब्रह्म का ही अंश है। इसीलिए जीवगत दोषों की आपत्ति ब्रह्म में होने लगेगी, तथा ब्रह्म में जीव-भावत्व की आपत्ति भी होगी। उपाधि को ही जीव नहीं कह सकते, क्योंकि उपाधि के नाश से जीव का भी नाश होने लगेगा तथा चार्वाक मत में प्रवेश होगा।[1] इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकों ने भास्कर के जीव-विषयक मत को स्वीकार नहीं किया है। भास्कर जीव विषयक मान्यता में अद्वैत वेदान्त के कुछ निकट एवं निम्बार्क से दूर हैं।

निम्बार्क एवं रामानुजाचार्य—रामानुज भी निम्बार्क के समान जीव को ब्रह्म का अंश, अणु, ईश्वराधीन, ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों से विशिष्ट एवं संख्या में अनन्त कहते हैं।[2] रामानुज से इस विषय में निम्बार्क मत का अन्तर यह है कि रामानुज जीव-जगत् को ब्रह्म के विशेषण कहते हैं। परब्रह्म शरीरी एवं जीव-जगत् शरीर हैं। निम्बार्क मत में जीव ब्रह्म की शक्ति है अर्थात् शक्ति रूप स्वाभाविक अंश है। निम्बार्क दार्शनिकों का आग्रह है कि जिस प्रकार विशेषण एवं विशेष्य में भेद भी है, अभेद भी है, उसी प्रकार जीवेश्वर में भेदाभेद है। ऐसी स्थिति में रामानुज को स्वाभाविक भेदाभेदवाद ही मान लेना चाहिए। रामानुज जीव-जगत् को ब्रह्म के विशेषण कहते हैं, किन्तु विशेषण सर्वदा व्यावर्तक हुआ करता है। जब रामानुज मत में जीव-जगत् ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, तो जीव-जगत् विशेषण किसके व्यावर्तक होंगे ? ब्रह्म तो नित्य है, इसीलिए ब्रह्म की व्यावृत्ति नहीं हो सकती, जीव-जगत् स्वयं व्यावर्तक हैं, इसीलिए उनकी व्यावृत्ति की असिद्धि होने के कारण चित्-अचित् को विशेषण नहीं कहा जा सकता;[3] और भी आपत्ति यह है कि ब्रह्म पहले से ही सर्वज्ञत्वादि गुण विशिष्ट है। ऐसी स्थिति में उस विशिष्ट को पुनः जीव-जगत्-विशेषणों से विशिष्ट करने पर विशिष्टाद्वैतवाद सिद्ध न होकर विशिष्ट-वैशिष्ट्यवाद सिद्ध होगा। इसीलिए विशिष्टाद्वैतवाद भंग हो जायेगा। जीव का वैशिष्ट्य सुख-दुखादि युक्त होना है। यदि जीव-जगत् को ब्रह्म के विशेषण माना गया तो उनसे विशिष्ट होने के कारण ब्रह्म भी सुख-दुखादि दोषों से युक्त हो जायेगा। इसीलिए विशिष्टाद्वैतवाद युक्त नहीं है।

निम्बार्क एवं बलदेव—बलदेव विद्याभूषण भी अचिन्त्य-भेदा भेदवादी हैं। निम्बार्क के समान विद्याभूषण भी जीव को ईश्वरांश, ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता कहते हैं। ये भी जीव को सर्वतो भाव से ईश्वराधीन, अणु परिमित तथा संख्या में अनन्त कहते हैं।[4]

---

१. सिद्धान्त जाह्नवी, देवाचार्य, सूत्र १।१।१, पृ० ३०-३५, चौखम्बा तथा वेदान्त-रत्न मंजूषा, पृ० ६, ७

२. श्री भाष्य, सूत्र, पृ० २।३।१९-२०

३. सिद्धान्त जाह्नवी, सूत्र ।१।१।१, पृ० ४३-४५ तथा वेदान्त-कौस्तुभ प्रभा, सूत्र, २।३।४६

४. ज्ञ एवात्मा ज्ञानरूपत्वे सति ज्ञातृ स्वरूप एव। गोविन्द भाष्य ब्रह्मसूत्र २।३।१ ज्ञातुरपि जीवस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन व्यपदेशः। गोविन्द भाष्य, ब्र० सू० २।३।२७

निम्बार्क के समान बलदेव विद्याभूषण भी जीव में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्ततृत्व आदि धर्मों को स्वाभाविक एवं नित्य कहते हैं तथा जीव ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।[1] निम्बार्क के समान बलदेव के अनुसार भी मुक्तावस्था में भी जीव-जगत् ब्रह्म के अंश रहते हैं तथा जीवेश्वर भेद रहता है। बलदेव के अनुसार भी जीव-जगत् का भेद एवं अभेद दोनों ही श्रुति-प्रसिद्ध हैं। किन्तु उनके अनुसार भेदाभेद सम्बन्ध का निर्णय करना सम्भव नहीं है। भेदाभेद श्रुति प्रतिपाद्य है, इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु भेदाभेद एकत्र कैसे हो सकते हैं, यह अचिन्त्य है।[2] हमारी बुद्धि भेदाभेद को एकत्र नहीं समझ सकती, क्योंकि बुद्धि से विश्लेषण करने पर भेदाभेद विरुद्ध लगते हैं, इसलिए इस समस्या का समाधान बुद्धि नहीं कर सकती। ब्रह्म किस प्रकार एक रहकर के भी बहुत हो जाता है, अविकारी रहकर के भी जगत्-रूपमें परिणित हो जाता है, निरंश रहकर भी सांश होता है···ये सब बातें हमारी बुद्धि नहीं समझ सकती। हमारी धारणा वहां नहीं पहुंच सकती, इसीलिए अचिन्तनीय है। श्रुति में ब्रह्म के विषय में इन विरुद्ध बातों का उल्लेख है।[3] इसी कारण बलदेव विद्याभूषण इस भेदाभेद को अचिन्त्य भेदाभेद कहते हैं। बलदेव के अनुसार भेदाभेद दोनों ही सत्य हैं, किन्तु उन्होंने भेद के ऊपर अधिक जोर दिया है। निम्बार्क के अनुसार भेदाभेद दोनों ही स्वाभाविक हैं एवं दोनों ही समानरूप से सत्य हैं।

इस प्रकार निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी ब्रह्माधीन है। साथ में मुक्ति में सृष्टि-कर्तृत्व को छोड़कर शेष सर्वज्ञत्वादि गुणों को प्राप्त कर लेता है तथा नित्यानन्द का उपभोग करता है, जिस प्रकार बद्धावस्था में जीव संख्या में अनेक हैं, उसी प्रकार मुक्ति में भी वे अपने पृथक् अस्तित्व को बनाये रखते हैं, मुक्ति में जीव-अस्तित्व का विलय नही होता, बल्कि जीव अस्तित्व का अधिक परिमार्जन होता है, जिससे जीव मुक्ति में अधिक स्वच्छ हो जाते हैं। मुक्त जीव बद्ध जीव की अपेक्षा अधिक आनन्द का उपभोग करता है, फिर भी वह ईश्वराधीन होता है। ईश्वराधीन होना, उसके लिए सुख का विषय है, क्योंकि उसका अस्तित्व ही ईश्वर को लेकर के है। स्वतन्त्र रूप से उसके स्वाभाविक गुणों का प्रकाश नहीं हो सकता। स्वाभाविक गुणों के प्रकाश के लिए ईश्वर की कृपा की आवश्यकता है। जीवसत्ता का विलय मुक्ति नही है। इसलिए अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा मान्य मुक्ति का निम्बार्काचार्यों ने खंडन किया है।

इस प्रकार स्वाभाविक भेदाभेद की व्याख्या देकर निम्बार्क दार्शनिक-जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं और इसी व्याख्या को अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा संगत मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस व्याख्या के अनुसार जीव को अपने

---

१. गोविन्द भाष्य ब्र० सू० ४।४।१२, ४।४।१३, ४।४ १४, ४।४।१६, ४।४।२१, २।१।१०, २।१।१४

२. ब्र० सू० गोविन्द भाष्य २।१।१२, २।१।२१, इत्यादि।

३. गोविन्द भाष्य ब्र० सू० २।१।२७, २।२।१।२८

व्यक्तित्व के नाश का भय नहीं रहता, साथ में पूर्णता की भी आशा बनी रहती है। किन्तु अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित जीव-ब्रह्मैक्य-वाद में भी अद्वैत-वेदान्ती जीव को ब्रह्म का पद प्रदान करते हैं, तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का उपदेश देते हैं। अद्वैत वेदान्ती जीव को संकीर्ण व्यक्तित्व से निकालकर उसे ब्रह्म रूप महान् व्यक्तित्व में ढालने की बात करते हैं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती भी एक बहुत बड़ी आशा का प्रकाश जीव को दिखाते हैं, किन्तु उनकी आशा का प्रकाश बहुत दूर देश में स्थितसा लगता है। फिर भी अद्वैत वेदान्ती उस प्रकाश को बहुत निकट बताते हैं। निम्बार्क दर्शन के अनुसार मुक्ति में समान रूप से मुक्त जीवों की भिन्नता का प्रयोजक हेतु क्या है, स्पष्ट नहीं किया गया है। मुक्ति में मुक्त जीव समान-जातीय तो अवश्य ही हो जाते हैं।

तृतीय अध्याय

जगत्

अध्यासवाद का प्रत्याख्यान—निम्बार्क के द्वैताद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जगत्-सृष्टि मिथ्या नहीं है। जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म सापेक्ष पदार्थ हैं, किन्तु सत्य हैं। अद्वैतवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है। जो अध्यस्त है, वह मिथ्या है, इसीलिये जगत् भी अध्यस्ततया मिथ्या है। निम्बार्क सम्प्रदाय आचार्यों ने अद्वैत सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित अध्यासवाद का युक्तिपुर्वक प्रत्याख्यान किया है। शुक्ति में रजत अध्यस्त है, अतएव मिथ्या भी। शुक्ति में आरोपित रजत के समानजातीय सत्य रजत बाजार में उपलब्ध है। बाजार में उपलब्ध उक्त सत्य रजत के अनुभवजन्य संस्कार ही शुक्ति में रजतारोप का कारण हैं। इसी प्रकार अद्वैतवादी के मत में यदि यह जगत् कल्पित या आरोपित है, ऐसी स्थिति में आरोपित विश्व के समानजातीय सत्य विश्व की स्थिति देशान्तर या कालान्तर में होना चाहिये। अद्वैतवाद के अनुसार देशान्तर या कालान्तर में भी सत्य जगत् की स्थिति स्वीकार्य नहीं है। ऐसा मानने पर अद्वैतवादी का प्रवेश अन्यथाख्यातिवाद में हो जायेगा, जो कि उनका अभीष्ट नहीं है। देशान्तर या कालान्तर में स्थित सत्य वस्तु को प्रधान वस्तु कहा जा सकता है, क्योंकि आरोपित या अध्यस्त वस्तु की कल्पना उसी मूल वस्तु के अनुभव जन्य संस्कारों के आधार पर की जाती है। भ्रम स्थल में ऐसा ही होता देखा गया है। स्वयं अद्वैतवादी के अनुसार अध्यास में पूर्वदृष्ट वस्तु का अवभास होता है। ब्रह्म में जगत् भ्रम के लिये पूर्वदृष्ट सत्य या प्रधान जगत् की सत्ता न होने के कारण शुक्ति में रजताध्यास का दृष्टान्त ब्रह्म में जगत् भ्रम की सिद्धि में उपपन्न नहीं होता।[1] अद्वैतवादियों ने अध्यास लक्षण में 'स्मृतिरूपः' कहा है। स्मृति के सदृश-उक्त शब्द का अर्थ है। निम्बार्क दार्शनिकों की आपत्ति है कि ब्रह्म में जीव-जगत् के प्रथम अध्यासकाल में स्मर्यमान का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, क्योंकि अद्वैत केअनुसार सभी वस्तुएं

---

१. यत् यत् आरोपितं तत्तत् सप्रधानं दृष्टं शुक्तिरूप्यादिवत्। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ४३
एकत्र सतोऽन्य आरोपत्वं भ्रमत्वम्, अत्यन्ताऽसतोऽध्यासायोगात्। वही, पृष्ठ ५८

ब्रह्म में कल्पित हैं। कल्पनाहेतुक प्रथम अध्यास के लिये स्मर्यमान की यथार्थ सत्ता सम्भव नहीं। अतः प्रथमाध्यास में स्मर्यमान-सादृश्य की सम्भावना नहीं हो सकती। अद्वैतवादी कह सकतें हैं कि पूर्वकल्पित विश्व के संस्कार ही परवर्ती सृष्टि के अध्यास के प्रति कारण हैं। ब्रह्म में पूर्वकल्पित विश्व के समानजातीय विश्व का अध्यास होता है। अध्यास के लिये ऐसा कोई नियम नहीं कि पूर्वानुभूत वस्तु को सत्य ही होना चाहिये। अध्यास के लिये कारण के रूप में पूर्वानुभूतवस्तु के संस्कारों की अपेक्षा होती है, संस्कारजनक अनुभव के विषय की सत्यता अपेक्षित नहीं। विषय चाहे सत्य हो और चाहे मिथ्या, तद्-विषयक अनुभवजन्य संस्कार के होने पर अध्यास हो सकता है। अतः भ्रम या अध्यास का कारण संस्कार है, न कि संस्कारजनक अनुभव के विषय की सत्यता। अतः पूर्व-पूर्व सृष्टि के अनुभव जन्य संस्कार ही परवर्ती सृष्टि-अध्यास के कारण हैं। इस पर द्वैताद्वैत-वादी आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट का कहना है कि अनादि अविद्या को अध्यस्त सिद्ध नहीं कर सकने के कारण उसमें तात्विकत्वापत्ति होगी और इस प्रकार अध्यासवाद सिद्ध नहीं हो सकेगा।[1] अविद्या ही अध्यास का कारण है। अविद्या को स्वयं अध्यस्त होना चाहिये। इसका अर्थ हुआ कि अविद्या से पूर्व अध्यास और अध्यास से पूर्व अविद्या अपेक्षित है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय की भी आपत्ति है। अविद्या को अनादि मानने पर उससे पूर्व अध्यास मानने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु ऐसी स्थिनि में अविद्या के अन-ध्यस्त होने पर उसमें तात्विकत्व की आपत्ति होगी, यही केशव काश्मीरी भट्ट की आपत्ति का सार है।

द्वैताद्वैतवादी दार्शनिक रामानुज के ही समान कल्पित वस्तु की प्रातीतिक सत्ता स्वीकार नहीं करते। यही कारण है कि उनके अनुसार अध्यास के लिये अपेक्षित समान-जातीय को कल्पित मानने पर उसके अस्तित्वहीन होने से उसका अनुभव ही सम्भव नहीं और अनुभवहीनता के कारण अनुभवजन्य संस्कार भी सम्भव नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में भी अध्यासवाद सिद्ध नहीं हो पाता।

द्वैताद्वैतवादी आचार्यों की आपत्ति के उत्तर में अद्वैतवादी रज्जु-सर्प का दृष्टान्त देकर असत्य की प्रतीति सम्भव है, दिखा सकते हैं, और अविद्यारूप दोष को ही उक्त प्रकार प्रतीति का कारण बतला सकते हैं, क्योंकि दोषरूपी कारण को अद्वैतवादी सत् नहीं कह सकते। उसे असत् ही कहना पड़ेगा। निम्बार्क आचार्यों का कहना है कि असत् से कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं है। अद्वैतवादी भी सत्कार्यवादी हैं। अतः असत् कार्योत्पत्ति का कथन उनके लिये हास्यास्पद स्थिति है। कारण सर्वदा सत् वस्तु ही होता है, असत् वस्तु नहीं।[2] अद्वैतवादीगण अध्यस्त प्रातीतिक वस्तु रज्जु सर्पादि से भय कम्पादि कार्योत्पत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करके प्रातीतिक वस्तु में भी कारणत्व सिद्ध करना चाहते हैं एवं तद्द्वारा अविद्या रूपी दोष के असत् होने पर भी उससे विश्वोत्पत्ति रूप कार्य सम्भव है, सिद्ध

---

१. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृष्ठ २३, सूत्र १।१।१

२. न च रज्जौ सर्प प्रतीतिरिव प्रपंच प्रतीतेरपि दोषमात्रमेव कारणमपेक्षितं··कुत्रापि असतः कारणत्वासम्भवाच्च। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ४५

करना चाहते हैं। निम्बार्क आचार्यों का कथन है कि कारण में कार्योत्पत्ति के अनुकूल शक्ति होती है। वह शक्ति असत् में सम्भव नहीं है । अतः असत् में कारणता भी सम्भव नहीं है।[1] रज्जु सर्पादि में सर्पादि विषयक ज्ञान, भय-कम्पादि का कारण होता है, कल्पित सर्पादि कारण नहीं होते। उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है कि जिस बालक को सर्प ज्ञान सर्वथा नहीं है, उसे सत्य सर्प दर्शन से भी भय कम्पादि उत्पन्न नहीं होते। सर्पज्ञान नहीं होने के कारण ही शिशु सर्प को पकड़ने जाता है। अतः भ्रमस्थल में भी सर्पादि का ज्ञान ही भय कम्पादि कार्योत्पत्ति का जनक हैं, न कि कल्पित सर्पादि। भ्रम स्थलीय सर्पादि विषयकज्ञान निम्बार्क के अनुसार सत्य है।[2] ऐसा लगता है कि निम्बार्क आचार्यगण जब रज्जु-सर्पभ्रमस्थलीय सर्प ज्ञान को सत्य कहते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि, अन्यत्र सत्य सर्प का ज्ञान ही भ्रमस्थल में भी भय कम्पादि को उत्पन्न करता है। ब्रह्म में विश्वाध्यास की सिद्धि के लिए अद्वैतवादी अनादि संस्कारों को कारण बतलाते हैं। निम्बार्क आचार्यों की आपत्ति है कि अनादि संस्कार क्या ब्रह्म के समान सत् हैं या असत्? अद्वैतवादी अनादि संस्कारों को व्यावहारिक सत् कहते हैं। निम्बार्क दार्शनिकगण उक्त संस्कारों के आश्रय के विषय में प्रश्न करते हैं कि संस्कारों का आश्रय जीव है या ब्रह्म? जीव को अनादि संस्कारों का आश्रय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनादि संस्कारों से जन्य अध्यास है और अध्यासजन्य जीवभाव है। जीवभाव की उत्पत्ति से पूर्व अनादि संस्कारों को अध्यास के कारणरूप में होना चाहिए। तभी अध्यास की व्याख्या सम्भव होगी। अतः पश्चात् सिद्ध जीव को अनादि संस्कारों का आश्रय नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्म को भी अनादि संस्कारों का आश्रय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म को संस्कारों का आश्रय मानने पर उसके शुद्धत्व की हानि होगी, जोकि अद्वैतवादी को अभीष्ट नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में अध्यास की उपपत्ति नहीं हो सकती।

भ्रमस्थलीय रजत का सादृश्य अधिष्ठानभूत शुक्ति के साथ देखा जाता है और सादृश्य के कारण ही शुक्ति में रजत का भ्रम होता है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म जगत्-भ्रम का अधिष्ठान है। अधिष्ठान ब्रह्म में अद्वैतवाद के अनुसार प्रपंच का आरोप होता है। परन्तु अद्वैत मतानुसार ब्रह्म निर्विशेष है। उसमें कोई भी विशेष धर्म सम्भव नहीं। अत-एव गुणक्रियादिकृत किसी भी प्रकार के सादृश्य ब्रह्म में सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में सादृश्य शून्य ब्रह्म में प्रपंच का आरोप किस प्रकार सम्भव हो सकता है? 'न तस्य प्रतिमा अस्तीह' इत्यादि शास्त्र वचन से भी ब्रह्म में सादृश्य न होना सिद्ध है। अतः ब्रह्म में प्रपंचा-ध्यास पूर्वोक्त कारण से भी सम्भव नहीं है। अद्वैतवादी यदि कल्पित धर्मों को मानकर सादृश्य की सिद्धि करें, तो द्वैताद्वैतवादी आचार्यों का वक्तव्य है कि सादृश्य सिद्ध होने पर ही तो अध्यास सिद्ध होगा और अध्यास सिद्ध होने पर कल्पित धर्म सिद्ध होंगे। ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय निश्चित है; और भी बात यह है कि पुरोवर्ती इन्द्रियसंयुक्त विषय में ही विषयान्तर का अध्यास हुआ करता है। दृश्य वस्तुएँ विषय हैं। विषय पराधीन-

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ४५

२. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृष्ठ २४, सू० १।१।१

प्रकाश हुआ करता है। इन्द्रियसंयुक्त विषय सामान्य रूप से ज्ञात और विशेष रूप से अज्ञात हुआ करता है, अतः वहाँ पर विषयान्तर का अध्यास होता है। विषय के साथ इन्द्रिय संयोग होने पर ही अध्यास होना सम्भव है। परन्तु ब्रह्म पराधीन प्रकाश नहीं है। ब्रह्म या चिदात्मा स्वयं-प्रकाश है। इसीलिए ब्रह्म दृश्य वस्तु नहीं हो सकता। ब्रह्म अ-विषय है, इसीलिए वह सामान्य रूप से ज्ञात और विशेष रूप से अज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार अविषय ब्रह्म में विश्व का आरोप अथवा अध्यास नहीं हो सकता।[1]

अद्वैतवादियों का कहना है कि ब्रह्म एकान्तेन अविषय नहीं है। ब्रह्म या चिदात्मा अस्मत्प्रत्यय का विषय होता है। अहंकार में चिदात्मा की भासमानता ही उसकी विषयता है। अर्थात् चिदात्मा अहंकाराध्यास में विषय होता है।[2]

इस पर द्वैताद्वैतवादी आचार्यों का कहना है कि अध्यास सिद्ध होने पर चिदात्मा की भासमानता होगी और चिदात्मा की भासमानता सिद्ध होने पर अध्यास सिद्ध होगा, इस प्रकार पुनः अन्योन्याश्रय दोष होगा। निम्बार्क दार्शनिकगण आगे और भी कहते हैं कि अद्वैतवादी चिदात्मा को अहंकाराध्यास का विषय नहीं कह सकते, क्योंकि 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' इत्यादि श्रुतिवाक्य की व्याख्या संगत नहीं हो पायेगी। अद्वैत के अनुसार जो विषय होता है, उसका मिथ्यात्व निश्चित है। ब्रह्म में अहंकाराध्यास की विषयता मानने पर ब्रह्म का भी मिथ्यात्व सिद्ध होगा। इस प्रकार अध्यास के लिए सत्य सामग्री के अभाव के कारण अध्यासवाद की उपपत्ति नहीं हो पाती।

चिदचित् के सम्बन्ध के उपपन्न न होने के कारण भी अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती। अद्वैतवादी दृक् और दृश्य में आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि करते हैं। आध्यासिक सम्बन्ध में जिन दो सम्बन्धियों का सम्बन्ध माना जाता है, उनमें से एक मिथ्या अवश्य होता है। अद्वैतवाद के अनुसार दृश्य ही मिथ्या है। इस प्रकार आध्यासिक सम्बन्ध सम्भव होने के कारण अध्यास की व्याख्या सम्भव और संगत हो जाती है। निम्बार्क आचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार असंयुक्त दूरस्थ दो वृक्षों को संयुक्त समझ लेने पर भी उन दो वृक्षों का संयोग सम्बन्ध मिथ्या होने पर भी वृक्षद्वय मिथ्या नहीं हैं, उसी प्रकार दृक् एवं दृश्य या ज्ञान एवं ज्ञेय के सम्बन्ध मिथ्या होने पर भी सम्बन्धी ज्ञान और ज्ञेय मिथ्या नहीं हो जाते। इस प्रकार सम्बन्धी दृक् और दृश्य के सत्य सिद्ध होने पर, दृश्यान्तर्गत उक्त सम्बन्ध भी सत्य सिद्ध हो जाता है।[3] इस प्रकार आध्यासिक सम्बन्ध की समीचीन व्याख्या के अभाव में अद्वैतवाद द्वारा प्रतिपादित अध्यासवाद भी भित्तिहीन होकर धराशायी हो जाता है।

अद्वैत वेदान्ती प्रातीतिक धर्मों को मानकर अध्यास और सृष्टि की व्याख्या देते हैं, जबकि निम्बार्क मत में सत्य वस्तु की ही प्रतीति हो सकती है। कल्पित को वे प्रातीतिक नहीं कहना चाहते, कल्पित को निम्बार्क दार्शनिक अलीक कहते हैं।

---

१. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृष्ठ २३, २५

२. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ४७

३. परपक्षगिरिवज्र (अध्यासे सम्बन्धनिरसनप्रकरणम्)

अज्ञानवाद का खंडन—अद्वैत वेदान्त के अनुसार अध्यास का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। अज्ञान को अद्वैतवादी 'अनादि भावत्वेसतिज्ञाननिवर्त्यत्वम्' अनादि भावरूप और ज्ञान द्वारा नाश्य मानते हैं। निम्बार्कदार्शनिकों का कहना है कि विचार करके देखने पर अज्ञान का लक्षण ही नहीं सिद्ध हो सकता। 'अनादि भाव रूप एवं ज्ञान नाश्य' करके जो अज्ञान का लक्षण किया जाता है, वह लक्षण निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार अव्याप्ति-अतिव्याप्ति एवं असम्भव नामक दोषों से दुष्ट है। उक्त अज्ञान लक्षण को भ्रमस्थलीय शुक्ति रजतादि दृष्टान्तों में घटाकर दिखाया जाता है। किन्तु शुक्ति रजतादि दृष्टान्त स्थल में शुक्ति के सादि होने के कारण शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगत अज्ञान भी सादि है। अतः वहां पर अज्ञान लक्षण की अव्याप्ति है। इसी प्रकार अज्ञान के भावरूपत्व की भी अव्याप्ति दिखाई गई है, जैसे घटविशिष्ट भूतल में आरोपित घटाभाव के उपादान-अज्ञान में भावरूपत्व नहीं है, अतः अव्याप्ति है। जीवन्मुक्ति अवस्था में ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान हो चुकने पर भी जीवन्मुक्त में भी अज्ञानलेश शेष माना जाता है। उस अज्ञान में ज्ञाननिवर्त्यत्व नहीं है। ज्ञान हो चुकने पर भी उस अज्ञान की अनुवृत्ति रहने का अर्थ है कि उसकी निवृत्ति कभी भी ज्ञान से सम्भव नहीं है। उक्त अज्ञान में ज्ञाननाश्यत्व लक्षण नहीं घटा, अतएव अव्याप्ति है। 'रक्तः स्फटिकः' इस प्रकार के सोपाधिक भ्रमोपादान अज्ञान में भी ज्ञाननाश्यत्व नहीं है, क्योंकि स्फटिक के यथार्थज्ञान होने पर उक्त प्रकार भ्रम की निवृत्ति नहीं देखी जाती है।[1]

उक्त अज्ञान लक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी है। अद्वैतवादी के अनुसार चैतन्य को छोड़कर यावतीय वस्तु ज्ञान द्वारा निवर्तनीय है। चैतन्य एवं अविद्या का सम्बन्ध भी यावत् वस्तु के अन्तर्गत होने के कारण ज्ञान-द्वारा निवर्त्य है। चैतन्य एवं अविद्या का सम्बन्ध उनके अनुसार अनादि एवं भावरूप भी हैं, ऐसी स्थिति में उक्त अज्ञान लक्षण की अतिव्याप्ति चैतन्य एवं अविद्या के सम्बन्ध में होगी। इस प्रकार अज्ञान लक्षण में अतिव्याप्ति नामक दोष भी है।[2]

निम्बार्क दार्शनिकगण अनुमान द्वारा यह भी सिद्ध करते हैं कि जो अनादि भावरूप होता है, वह ज्ञान नाश्य नही होता, जैसे आत्मा। इस प्रकार से अज्ञान लक्षण में असम्भव दोष भी आ जाता है। अद्वैतवादी अज्ञान को अनिर्वचनीय कहते हैं। उनके अनुसार अनिर्वचनीय का अर्थ है—भावरूप भी नही, अभावरूप भी नहीं, किन्तु दोनों से विलक्षण है। ऐसी स्थिति में अज्ञान को भावरूप नहीं कहा जा सकता। अतएव असम्भव दोष से उक्त अज्ञानलक्षण दुष्ट हो जाता है।

निम्बार्क दार्शनिक माधवमुकुन्द ने अद्वैत वेदान्त के अज्ञान-लक्षणों का भी युक्ति तर्कों से प्रत्याख्यान किया है। अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित अनिर्वचनीय अज्ञान अप्रसिद्ध है, अतः उसकी सिद्धि सम्भव नही है। अज्ञान को अद्वैत वेदान्ती अभावरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभावोपादानक जगत्कार्य भी अभावरूप होने लगेगा। इसी प्रकार अज्ञान

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ १३५, १३६ (कलकत्ता संस्करण)

२. वही, पृष्ठ १३७

को वे भावरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि उनके अनुसार भावरूप एकमात्र ब्रह्म है। द्वितीय भावरूप पदार्थ नहीं है। अनिर्वचनीय वस्तु की सिद्धि और प्रसिद्धि सम्भव नही है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

निम्बार्क दार्शनिकों ने अज्ञानवाद के खण्डन के लिए अज्ञान या अविद्या के आश्रयत्व एवं विषयत्व का भी प्रत्याख्यान किया है। प्रत्याख्यान की शैली रामानुजीय शैली से भिन्न नहीं है।

माधवमुकुन्द का कहना है कि अद्वैत वेदान्ती शुद्ध चैतन्य को अज्ञान का आश्रय नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान परस्पर प्रकाश और तमः के समान विरोधी हैं। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, अतः शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति सम्भव नहीं। जिस प्रकार आलोक में अन्धकार की स्थिति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में भी अज्ञान नहीं रह सकता। ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है, अतः ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय कैसे कहा जा सकता है?[1] शुद्ध ब्रह्म को अज्ञानाश्रय मानने पर अज्ञान की कभी भी निवृत्ति नहीं होगी और ब्रह्म में अशुद्धत्व की आपत्ति होगी। ब्रह्म के इस प्रकार अज्ञानाश्रयत्व को औपाधिक भी नहीं कह सकते, क्योंकि उपाधि के स्वरूप की सिद्धि नहीं होगी। अज्ञान को अज्ञान के लिए उपाधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि आत्माश्रय दोष होगा। इसी प्रकार किसी अन्य वस्तु को उपाधि मानने पर उसकी कल्पना के लिए अज्ञान की कल्पना की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी होगा।[2] अद्वैत वेदान्ती जीव को भी अज्ञानाश्रय नहीं कह सकते, क्योंकि जीवभाव स्वयं अज्ञान कार्य है। अतः उत्तरभावी होने के कारण जीव को अज्ञान का आश्रय मानना असंगत है।[3]

इसी प्रकार अज्ञान के विषयत्व की भी सिद्धि सम्भव नहीं है। अद्वैतवाद के अनुसार शुद्ध चैतन्य अज्ञान का विषय नहीं हो सकता। शुद्ध चैतन्य ज्ञान का अविषय है, इसलिये वह अज्ञान का भी अविषय होगा। अज्ञान का विषय जीव भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव अज्ञान कार्य है, अतएव अज्ञान से उत्तरभावी होने के कारण जीव को अज्ञान का विषय मानना संगत नहीं होगा। अज्ञान का ब्रह्मावरकत्व भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म को स्वरूपतः आवृत्त नहीं कह सकते, ऐसा कहने पर ब्रह्मस्वरूप का ही लोप होगा। प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में आवरण मानने पर जगत् भी प्रकाशित नहीं हो पायेगा, क्योंकि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है, इस प्रकार

---

१. तथाहि त्वन्मते शुद्ध ब्रह्मणः चिदात्मत्वेऽपि तस्यसार्वज्ञ्यात् कथमज्ञानाश्रयत्वम्। यः सर्वज्ञःसर्ववित्, मुण्डक उपनिषद् १।१।६ इत्यादि श्रुतेः।
सार्वज्ञ्याज्ञानयोः सामानाधिकरण्यकल्पनाया उपहासमात्रत्वात्। परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ १८७ (कलकत्ता संस्करण)

२. श्रुत्यन्तकल्पवल्ली, पृष्ठ ११४

३. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ १८६-१६१ (कलकत्ता संस्करण)

विश्व प्रकाश की भी उपपत्ति नहीं हो पायेगी। चिन्मात्र ब्रह्म का आवरण असम्भव है। चिन्मात्र ब्रह्म को आवृत्त करते समय अज्ञान का स्वरूप नाश हो जायेगा।

ब्रह्म के धर्म विशेष को लेकर भी आवरण सम्भव नहीं है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः धर्मरहित निर्विशेष है। ब्रह्म के आनन्दांश में आवरण की बात भी असंगत है, क्योंकि निरंश ब्रह्म में अंशअंशी भाव अद्वैती नहीं मानते। अशांशी भाव मानने पर सावयवत्वेन ब्रह्म में मिथ्यात्वलक्षण जाने लगेगा तथा ब्रह्म में भी मिथ्यात्वापत्ति होगी। अतः ब्रह्म में अज्ञानावरकत्व किसी भी प्रकार सगत नहीं हो सकता।[1]

अद्वैतवाद में प्रतिपादित अज्ञान का प्रयोजक या कल्पक की भी उपपत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि अज्ञान स्वयं अपना प्रयोजक नहीं हो सकता; ऐसा मानने पर आत्माश्रय दोष होगा। ब्रह्म भी अज्ञान का प्रयोजक नहीं हो सकता, ऐसा मानने पर ब्रह्म में प्रयोक्तृत्वादि धर्म मानने पड़ेंगे और ब्रह्म में शुद्धत्व की हानि होगी। जीवादि को तो प्रयोजक कहना सम्भव ही नहीं, क्योंकि जीवादि पश्चात्‌भावी हैं।[2]

अज्ञानसिद्धि के लिए प्रमाण भी नहीं है, 'अहमज्ञः' करके अद्वैतवादी प्रत्यक्षप्रमाण प्रस्तुत किया करते हैं, परन्तु उक्त उदाहरण में 'अहं' की व्याख्या संगत नहीं हो सकती। ब्रह्म को 'अहं' कहने पर ब्रह्म में अज्ञान मानना पड़ेगा। जीव को 'अहं' पदार्थ मानने पर परभावी जीव को जो कि अज्ञानकार्य है, अज्ञानानुभविता मानना पड़ेगा। ऐसा सम्भव नहीं है।

निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त द्वारा भावरूप अज्ञान की सिद्धि में प्रस्तुत अनुमान का भी युक्तिशः खण्डन किया है। इसी प्रकार अज्ञानसाधक श्रुति प्रमाण का भी खण्डन किया है। 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्', इत्यादि श्रुति में 'सत्' और 'असत्' शब्द निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार पंचभूतों के वाचक हैं।[3]

निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैताभिमत अज्ञान को स्वीकार ही नहीं किया है। अतः इस प्रकार अज्ञान व अविद्या को वे अध्यास और जगत् प्रपंच का कारण स्वीकार नहीं करते। अद्वैताभिमत अज्ञान के खण्डन में निम्बार्क दार्शनिक माधवमुकुन्द, केशव काश्मीरी भट्ट, श्री पुरुषोत्तम प्रसाद एवं अनन्तरामादि आचार्यों ने बहुशः युक्तियां प्रदर्शित की हैं। इन आचार्यों ने अपनी-अपनी युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि अनिर्वचनीया अविद्या की सिद्धि सम्भव नहीं है और न ही अनिर्वचनीय वस्तु संसार में प्रसिद्ध ही है।

अनिर्वचनीत्ववाद प्रत्याख्यान—अद्वैतवादी जगत् को सदसद् विलक्षण अनिर्वचनीय कहते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार शुक्तिरजत सदसद्विलक्षण अतएव अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार जगत् भी अनिर्वचनीय है। शुक्ति रजत जिस प्रकार शुक्ति का

---

१. श्रुत्यन्तकल्पवल्ली, पृष्ठ ११६
२. श्रुत्यन्तकल्पवल्ली, पृष्ठ ५५, ५६
३. अज्ञान में प्रमाण विषयक अधिक जानकारी के लिए माधवमुकुन्द विरचित परपक्ष-गिरिवज्र द्रष्टव्य।

विवर्त है, उसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म का विवर्त है। जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह अविद्या कल्पित है। अद्वैतवाद के इस प्रकार अनिर्वचनीयवाद को निम्बार्क दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य माधवमुकुन्द, श्री पुरुषोत्तमाचार्य, श्री निवासाचार्य, श्री केशव काश्मीरी भट्ट, श्री पुरुषोत्तम प्रसाद आदि पण्डितों ने अद्वैत-वाद द्वारा प्रतिपादितअनिर्वचनीयवाद का युक्तिशः खण्डन किया है।

अद्वैतवादी सदसद्विलक्षणत्व को अनिर्वचनीत्व का लक्षण बतलाते हैं। निम्बार्क दार्शनिकों ने सदसद्विलक्षण के विश्लेषण द्वारा उक्त लक्षण का खण्डन किया है। निम्बार्काचार्यों का कहना है कि सद्विक्षणत्व को अनिर्वचनीयत्व का लक्षण नहीं माना जा सकता, ऐसा मानने पर शशशृंग में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अलीक शशशृंग या बन्ध्यापुत्र सर्वदा एवं सर्वथा सद्विलक्षण हुआ करता है। अलीक के सद्-विलक्षणत्व होने में कोई भी सन्देह नहीं करता। इस प्रकार सद्विलक्षत्व लक्षण करने पर अनिर्वचनीय होने के कारण विश्व भी अलीक होने लगेगा, ऐसा वस्तुतः है नहीं। अतः सद्विलक्षण को अनिर्वचनीयत्व का लक्षण नहीं माना जा सकता। असद्विलक्षणत्व को अनिर्वचनीयत्व का लक्षण मानने पर सत्स्वरूप आत्मा में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि आत्मा अलीक से विलक्षण है। निम्बार्क आचार्यगण सदसद्विलक्षण तृतीय प्रकार की सत्ता मानने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि वस्तु या तो सद्रूप होती है या असद्रूप। सत् न होने पर वह असत् होगी और असत् न होने पर सत् होगी। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त उनके अनुसार तृतीय अनिर्वचनीयत्व का प्रकार नहीं है। अतः निम्बार्काचार्यो के अनुसार असद्विलक्षणत्व अनिर्वचनोयत्व का लक्षण संगत नहीं हो सकता, क्योंकि विलक्षणत्व का अर्थ है भिन्नत्व और भिन्नत्व के लिए प्रतियोगी की प्रसिद्धि करनी होगी, वह सम्भव नहीं है। अतः लक्षण असम्भव है। अनिर्वाच्यत्व का अर्थ-निर्वचनाभाव भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'निर्वचनाभाव' कह कर भी निर्वचन ही किया जाता है, अतः व्याघात है।[1] 'अनिर्वचनीयत्व सिद्धि के लिए अद्वैतवादी भ्रमस्थलीय रजत का उदाहरण देते हैं। निम्बार्काचार्यों के अनुसार भ्रमस्थलीय रजत अनिर्वचनीय नहीं, अपतु अलीक है। 'नेदं रजतम्' करके भ्रमस्थलीय रजत का बाध हो जाता है, इसी बाध से ही सिद्ध होता है कि भ्रमस्थलीय रजत नहीं था और न है। अतः वह असत् ही है। शुक्ति रजत को आपणस्थ व्यावहारिक रजत भी नहीं कह सकते, क्योंकि आपणस्थ रजत की उप-स्थिति शुक्ति रजत में सम्भव नहीं। अतः शुक्ति रजत अनिर्वचनीय रजत नहीं है, अपतु असत् रजत है। अतः दृष्टान्तासिद्धिपूर्वक भी अनिर्वचनीयत्व की असिद्धि होती है। वाचारम्भण श्रुति से भी यह सिद्ध होता कि जगत् अनिर्वचनीयत्वेन मिथ्या नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति के समर्थन में सूत्रकार वादरायण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि कार्य जगत् कारण रूप ब्रह्म से अनन्य है।[2] अर्थात् ब्रह्मकार्य होने के कारण कार्य-जगत् ब्रह्माभिन्न है। इसीलिए कारण ज्ञान से तत्कार्य जगत् का भी ज्ञान हो जाता है,

---

१. श्रुत्यन्तसुरद्रुम, पृ० १८-२२

२. तदनन्यत्वमारम्मण शब्दादिभ्य : ब्र० सू० २।१।१४

कहा गया है। कार्य वस्तु की सत्ता कारण से पृथक् नहीं है, यही उक्त श्रुति एवं सूत्र का तात्पर्य है। अतएव मृद्-घटादि को सर्वथा मिथ्या और अस्तित्वहीन कहने पर श्रुत्युक्त 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान' सम्भव नही हो सकता, क्योंकि यदि 'सर्व' ही अस्तित्वरहित एवं मिथ्या है, ऐसी स्थिति में 'सर्व' के ज्ञान की उपपत्ति नहीं होती। अद्वैतवादी के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। 'शुक्ति रजत्' द्रष्टान्त में भी रजत को शुक्ति का विवर्त माना जाता है, ऐसी स्थिति में एक विज्ञान से या कारण ज्ञान से कार्य ज्ञान सम्भव नहीं है। शुक्ति रजतभ्रमस्थलीय शुक्ति ज्ञान से रजत का ज्ञान नहीं होता, अपितु शुक्ति ज्ञान से शुक्ति रजत स्थलीय रजत ज्ञान बाधित हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान से जगत् विर्वत का बाध हो जाएगा। ब्रह्मज्ञान से जगत् भ्रम का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान' की संगत व्याख्याके लिए कार्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा।[1]

निम्बार्क दार्शनिकगण जगत् को ब्रह्म का विवर्त नहीं मानते। उनके अनुसार जगत् ब्रह्म का परिणाम है। निम्बार्काचार्यों ने अपने भाष्य में कहा है कि 'कार्याकारेण ब्रह्म परिणमते स्वासाधारणशक्तिमत्वात्'[2]—ब्रह्म स्व-असाधारण शक्ति से कार्याकार से परिणत हो जाता है। अतः परिणामतया जगत् अनिर्वचनीय एवं विवर्ततया मिथ्या नहीं है।

मिथ्यात्व खण्डन—आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ में मिथ्यात्वसिद्धि के लिए मिथ्यात्व के पांच लक्षणों की व्याख्या की है। निम्बार्काचार्य माधवमुकुन्द ने अपनी पुस्तक परपक्षगिरिवज्र में उक्त पंचमिथ्यात्व लक्षणों का प्रत्याख्यान युक्ति तर्कों सहित किया है। यहाँ पर संक्षेपतः माधवमुकुन्द द्वारा मिथ्यात्व-लक्षण-खण्डन में प्रदर्शित युक्तियों का उल्लेख किया जाता है।

'सदसत्वानधिकरणत्व' को अद्वैतवादी मिथ्यात्व कहते हैं, परन्तु यह लक्षण माधव मुकुन्द के अनुसार दोषरहित नहीं है। इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार सत् स्वरूप ब्रह्म में किसी भी प्रकार के धर्म नहीं हैं। अतः सत्त्व और असत्व धर्म भी ब्रह्म में नही हैं। इस प्रकार ब्रह्म में भी उक्त सत्व-असत्व के अनधिकरणत्व होने के कारण उक्त लक्षण घटता है। अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या सिद्ध करना चाहते थे, परन्तु ब्रह्म की मिथ्यात्वसिद्धि हो गई। इसी को अतिव्याप्ति कहते हैं।

'बाधक ज्ञान विषयत्व' को मिथ्यात्वलक्षण नहीं मान सकते, क्योंकि इस लक्षण में भी अतिव्याप्तिदोष अपरिहार्य है। ब्रह्मज्ञान प्रपंच का बाधक है। ब्रह्म ज्ञान का विषय ब्रह्म है, अतएव बाधक ज्ञान के विषय होने के कारण मिथ्यात्व ब्रह्म में जाता है।[3]

'प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्व' को अद्वैतवादी मिथ्यात्व लक्षण स्कीकार करते हैं। यह लक्षण भी दोष मुक्त नहीं है। प्रतिपन्न का अर्थ है—मिथ्यारूप

---

१. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, सूं० २।१।१४

२. ब्र० सू० निम्बार्क भाष्य। २।१। २३-२९

३. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ११६

से अभिमत। जिस प्रकार शुक्ति रजत मिथ्यारूप से अभिमत है, उसी प्रकार प्रकृत लक्षण में प्रतिपन्न शब्द से मिथ्यारूप से अभिमत वस्तु को लेना है। प्रतिपन्नोपाधि का अर्थ—मिथ्यारूप से अभिमताधिकरण। तन्निष्ठत्रैकालीकाभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। अद्वैतवादानुसार उक्त प्रकार मिथ्यात्व की सिद्धि प्रपंच की भी हो जायेगी। परन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय आचार्य माधवमुकुन्द का कहना है कि मिथ्यात्व का यह लक्षण भी असंगत है। माधव मुकुन्द का प्रश्न है कि लक्षण में प्रदर्शित निषेध क्या परमार्थिक है या व्यावहारिक? अथवा प्रातिभासिक? उक्त निषेध को अद्वैतवादी पारमार्थिक निषेध नहीं कह सकते, क्योंकि अद्वैतमत में एकमात्र ब्रह्म ही पारमार्थिक वस्तु है। ब्रह्मेतर वस्तु को अद्वैतवादी पारमार्थिक नहीं मानते, मानने पर अद्वैतवाद भंग होता है। निषेध को प्रातिभासिक मानने पर सिद्धसाधन और अर्थान्तर दोष होंगे। निषेध को व्यावहारिक मानने पर प्रपंच-मिथ्यात्व सिद्धि नहीं होती, क्योंकि व्यावहारिक निषेध के निषेध होने पर प्रपंच सत्यसिद्ध होगा।[1] इस प्रकार माधवमुकुन्द ने इस द्वितीय मिथ्यात्वलक्षण का भी प्रत्याख्यान किया है।

अद्वैतवादी 'ज्ञाननिर्वर्त्यत्व' को भी मिथ्यात्व लक्षण नहीं मान सकते क्योंकि इस लक्षण में भी दोष हैं। जो ज्ञान द्वारा निर्वर्त्य अर्थात् बाध्य होता है वही मिथ्या है, यही इस लक्षण का अर्थ है। अद्वैतवादी के अनुसार शुक्तिज्ञान से शुक्तिरजत बाधित होता है, अतः वह अर्थात् शुक्ति रजत ज्ञाननिर्वर्त्य मिथ्या है। इसी प्रकार उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान द्वारा प्रपंच का बाध हो जाता है, इसीलिए प्रपंच भी ज्ञान निर्वर्त्य होने के कारण मिथ्या है। माधवमुकुन्द की आपत्ति है कि पूर्वज्ञान द्वारा उत्तरकालीन ज्ञान की निवृत्ति देखी जाती है, और इस प्रकार पूर्व ज्ञान में मिथ्यात्व लक्षण की अतिव्याप्ति है। 'साक्षात्कारत्वरूपज्ञाननिवर्त्यत्व' को मिथ्यात्व मानने पर भी लक्षण दोष-मुक्त नहीं होता, क्योंकि जीवन्मुक्ति में अनुवृत्तअज्ञान में मिथ्यात्व लक्षण नहीं जायेगा। जीवन्मुक्ति दशा में अज्ञानलेश की निवृत्ति नहीं होती। अद्वैतवादानुसार अज्ञान भी मिथ्या है। उक्त अज्ञान में भी मिथ्यात्व-लक्षण की व्याप्ति अवश्य होनी चाहिए।

इसी प्रकार 'स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' मिथ्यात्व लक्षण का भी माधवमुकुन्द ने खण्डन किया है। अपने आश्रय में यदि वस्तु का अत्यन्ताभाव हो, उसे मिथ्या कहा जाएगा, क्योंकि वस्तु पराश्रय में तो होगी ही नहीं, स्वाश्रय में भी यदि उसका अत्यन्ताभाव होगा, तो उसमें मिथ्यात्व की सिद्धि होनी ही चाहिए। आचार्य माधवमुकुन्द ने इस लक्षण में भी अनेक दोष दिखाये हैं। जो वस्तु जिस अधिकरण में है, उस अधिकरण में उसका अत्यन्ताभाव असम्भव है। अतः यह लक्षण असंभव दोष से दूषित है।

इसी प्रकार 'सद्भिन्नत्व' को भी मिथ्यात्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सद्-भिन्नत्व तो अलीक में भी है। 'दोषसहकृत ज्ञानकरणरूप प्रमाणसिद्ध' से भिन्नत्व को मिथ्यात्व कहने पर भी सुसंगत लक्षण नहीं बनता, क्योंकि ब्रह्म भी प्रमाण अगम्य है।

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृ० ११७

वास्तविक अर्थ में सद्वस्तु ब्रह्म प्रमाण सिद्ध नहीं है। निर्दोष प्रमाणसिद्ध होने के कारण उसमें लक्षण की अव्याप्ति है। अतः मिथ्यात्व का यह लक्षण भी समीचीन नहीं है। इस प्रकार माधवमुकुन्द ने मिथ्यात्व लक्षणों का प्रत्याख्यान किया है।[1] माधवमुकुन्द ने अद्वैत वेदान्त में प्रदर्शित मिथ्यात्वानुमान का भी खण्डन किया है। अद्वैतवादी मिथ्यात्व में अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:—'व्यावहारिकं जगत्प्रपंचंमिथ्या, दृश्यत्वात्, जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वात्, शुक्ति रजतवत्'। इस अनुमान में साध्य मिथ्यात्व ही प्रसिद्ध नहीं है। मिथ्यात्व की प्रसिद्धि दिखाने हेतु अद्वैत वेदान्त में अनेकों मिथ्यात्व लक्षण प्रदर्शित किये गये और विद्वान् वेदान्तियों ने उनकी व्याख्यायें भी प्रस्तुत की हैं; इस विषय पर इतः पूर्व विचार किया जा चुका है। साथ में निम्बार्क दार्शनिकों ने उक्त मिथ्यात्व लक्षणों का प्रत्याख्यान करके यह सिद्ध किया है कि मिथ्यात्व प्रसिद्ध नहीं है। निम्बार्क दार्शनिकों ने मिथ्यात्व अनुमान के हेतुओं का भी प्रत्याख्यान किया है। उक्त अनुमान के दृश्यत्व हेतु का अर्थ है—वृत्तिव्याप्यत्व, अर्थात् वृत्ति का विषय होना। वेदान्तवाक्यजन्य वृत्ति-ज्ञान का विषय ब्रह्म भी होता है। अतः ब्रह्म में दृश्यत्व लक्षण की अतिव्याप्ति है। दृश्यत्वेन ब्रह्म भी मिथ्या होने लगेगा, यही यहां पर आपत्ति है। शुद्ध ब्रह्म को वृत्तिज्ञान का विषय न मानने पर शुद्ध ब्रह्म को जानना सम्भव ही न होगा। ऐसी स्थिति में मुमुक्षुओं की साधना में प्रवृत्ति नहीं होगी और साधक वेदान्त अध्ययन-श्रवण में भी प्रवृत्त नहीं होंगे, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म को जानने के लिए ही साधकों की प्रवृत्ति होती है। शुद्ध ब्रह्म के ज्ञानाभाव की स्थिति में मोक्ष का अभाव हो जायेगा। उपहित ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति सम्भव नहीं, क्योंकि अद्वैत मतानुसार उपहित ब्रह्म मिथ्या है। शुद्ध ब्रह्म में 'शब्दाजन्य-वृत्ति विषयत्व' मानने पर भी दृश्यत्वेन मिथ्यात्व की अतिव्याप्ति होगी। अद्वैतवादी मिथ्यात्वानुमान में जड़त्व हेतु भी प्रस्तुत करते हैं। जड़त्व का अर्थ किया गया है—'अज्ञानत्व' अर्थात् ज्ञानभिन्न वस्तु ही जड़ वस्तु है। निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि ज्ञानभिन्न वस्तु आत्मा भी है, अतः आत्मा में जड़त्व लक्षण की अतिव्याप्ति है। इस पर अद्वैत वेदान्ती का कहना है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान भिन्न नहीं। निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि अद्वैत वेद्रान्ती आत्मा को स्वरूपतः निर्विषयक मानते हैं, निर्विषयक ज्ञान निम्बार्क मत में अप्रसिद्ध है। निर्विषयक मानने पर ज्ञान में अर्थप्रकाशत्व नहीं रहेगा, ऐसी स्थिति में घटादि जड़ पदार्थों में भी ज्ञानत्व की आपत्ति होगी। इसी प्रकार 'अज्ञातृत्व' भी जड़त्व का लक्षण नही हो सकता। अन्तःकरण में अज्ञातृत्व की अव्याप्ति होगी, क्योंकि अन्तःकरण में अज्ञातृत्व है। अद्वैतादी अन्तःकरण को भी मिथ्या मानते हैं। अन्तःकरण भी उनके मत में मिथ्यात्वानुमान के पक्ष के अन्तर्गत है। अज्ञा-तृत्व की शुद्ध ब्रह्म में अतिव्याप्ति भी है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में ज्ञातृत्व नहीं माना गया। अतः जड़त्वेन शुद्ध ब्रह्म भी मिथ्या होने लगेगा। इसी प्रकार 'परिच्छिन्नत्व' को भी मिथ्यात्वानुमान का हेतु नहीं माना जा सकता। परिच्छिन्नत्व हेतु की व्याप्ति आकाश में नहीं है। आकाश देशतः और कालतः परिछिन्न नहीं है। निम्बार्क दार्शनिक-

---

१. परपक्षगिरिवज्र, पृष्ठ ११८, ११९

गण आकाश को नित्य मानते में। अद्वैतवादी आकाश को भी मिथ्या मानते हैं। परिच्छिन्न रहित होने से आकाश में मिथ्यात्व सिद्धि नहीं होगी। शुक्ति रजत की सत्ता कभी भी नहीं होती, अतः शुक्ति रजत में काल परिच्छिन्नत्व हेतु नहीं है। अद्वैत के अनुसार शुक्ति रजत भी मिथ्या है। इसी प्रकार निम्बार्क दार्शनिकों ने मिथ्यात्वानुमान के दृष्टान्त का भी खण्डन किया है। शुक्ति रजत भी अद्वैत मतानुसार मिथ्यात्वानुमान के पक्षान्तर्गत आ जाता है। पक्ष का एक देश दृष्टान्त नहीं हो सकता। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकगण जगत्मिथ्यात्ववाद का खण्डन करके जगत् की वास्तविक सत्ता सिद्ध करते हैं।

शून्यवाद और विज्ञानवाद का खण्डन—निम्बार्क दार्शनिकों ने जगत् सत्यत्ववाद की स्थापना के लिए बौद्ध शून्यवाद एवं विज्ञानवाद का भी खण्डन किया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्री निवासाचार्य का कहना है कि शून्यवाद के प्रस्तावक जब कहते हैं कि 'सर्व शून्यम्' है, तो सर्व के अन्दर शून्यवाद और शून्यवादी के भी आ जाने से शून्यवाद एवं शून्यवादी शून्य हो जाते हैं। शून्यता की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती, अपितु जिस भी प्रमाण से शून्यता की सिद्धि की जायेगी, उस प्रमाण की सत्ता ही शून्यवाद के लिए घातक होगी। अतः शून्यवाद का सिद्धान्त असंगत है।[1]

इसी प्रकार श्री निवास ने विज्ञानवाद का भी प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि बाह्य पदार्थ विज्ञान से भिन्न रूप से अनुभूत होते हैं, अतः विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ हैं। जब तक ज्ञान किसी विषयनिष्ठ नहीं होता, तब तक ज्ञान को प्रामाणिक नहीं माना जाता, अतः ज्ञान को प्रामाणिक बनाने के लिए भी विषय की बाह्य सत्ता को मानना होगा। जब तकबाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं मानी जायेगी, उसका प्रात्याख्यान भी असम्भव है। अतः बाह्य पदार्थ की सत्ता सिद्ध होती है। स्वप्न और जाग्रत्-वैषम्य से भी समझा जा सकता है कि स्वप्न एवं जाग्रत् काल के पदार्थ समान नहीं हैं। जाग्रत् पदार्थों का इन्द्रिय द्वारा विषय-प्रत्यक्षसे बोधहोता है, जबकि स्वाप्निक पदार्थों का बोध व्यक्तिगत पूर्व संस्कारों के कारण मनद्वारा होता है। दोनों अवस्थाओं में बहुत अन्तर है। जाग्रत् पदार्थ बाह्य रूप से पहले ही विद्यमान हैं, जबकिस्वाप्निक पदार्थ मनोराज्य एवं संस्कार जन्य हैं। अतः जगत् की सत्ता के विषय में शून्यवादी एवं विज्ञानवादी बौद्धों के मत ग्राह्य नहीं हो सकते।[2]

जगत् सत्य है—निम्बार्काचार्य जगत् को सत्य मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा के समान जगत् भी सत्य है। यह दृश्य प्रपंच कारणरूप से पहले नहीं था, ऐसी बात नहीं है। यह जगत् सहसा असत् से उत्पन्न नहीं हुआ है। विश्व में असत् से—अर्थात् निरुपादानक कार्योत्पत्ति का उदाहरण नहीं मिल सकता, क्योंकि सभी कार्य सोपादानक, अतएव सत्कारण से ही उत्पन्न होते हैं। निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार कार्य अव्यक्त रूप से अपने कारण में निहित रहता है। अव्यक्त से व्यक्तभवापन्न अवस्था को ही उत्पत्ति कहा जाता। सत्कार्यवाद के अनुसार यही उत्पत्ति है। श्रुति भी यही कहती है 'सदेवसोम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'[3] यह विश्व प्रपंच सृष्टि से पूर्व सद्रूप से ब्रह्म

---

१. वेदान्त कौस्तुभ, सूत्र २।२।३२

२. वेदान्त कौस्तुभ, २।२।२९

३. छान्दोग्योपनिषद् ६।२।३

में ही था। अतः इसका उपादान ब्रह्म ही है। उस परमेश्वर ने ईक्षणा की अर्थात् संकल्प किया कि 'मैं बहुत हो जाऊँ, 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजाये···येति'। उस ब्रह्म ने सर्व प्रथम तेज की सृष्टि की, अनन्तर जल और पृथ्वी की सृष्टि की।[1] इस प्रकार उपनिषदों में, सृष्टि का वर्णन मिलता है। अतः जगत्-सृष्टि मिथ्या नहीं है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति' एवं 'तज्जलान्' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म में जगत्-कर्तृत्व, जगत्-पालकत्व सिद्ध होता है। मिथ्या की सृष्टि की उपपत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्थिति एवं संहार भी मिथ्या वस्तु में उपपन्न नहीं होते। जगत् के मिथ्या होने पर ब्रह्म का जगत् कर्तृत्व, पालकत्व, संहारकत्व आदि धर्म मिथ्या हो जायेंगे। मिथ्या सृष्टि आदि का प्रतिपादक श्रुतियाँ भीमिथ्या हो जायेंगी। अतः जगत् को मिथ्या या जगत् सृष्टि को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म सत् है। अतः ब्रह्मकार्य जगत् भी सत् है। निम्बार्क दार्शनिकगण मुक्ति अवस्था में भी द्वैतनाश नहीं मानते। उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान से जगत् का नाश नहीं होता। मोक्षावस्था में भी 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्यादि श्रुति द्वारा द्वैत-बोध की पुष्टि होती है। भौतिक सृष्टि प्रकृति से होती है और प्रकृति परमेश्वर की शक्ति है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न भी है और भिन्न भी। अभिन्न इसलिए है कि ब्रह्म के स्वरूप के अन्तर्गत ही उसकी शक्ति भी आ जाती है। भिन्न इसलिए है कि शक्ति ही प्रकृति है और प्रकृति जड़ है। ब्रह्म चेतन है।

सृष्टि और प्रलय—सांख्य की प्रकृति के समान द्वैताद्वैत दर्शन में स्वीकृत प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका है। सत्व, रजः और तमः—ये तीन गुण हैं। गुण वैषम्य के कारण प्रकृति से जब सृष्टि का विकास होता है तो प्रकृति से प्रथम महत् की उत्पत्ति होती है। महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार तीन प्रकार का है—सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। सात्विक अहंकार को वैकारिक भी कहा जाता है, राजस को तैजस अहंकार, तामस को भूतादि अहंकार कहते हैं। सात्विक अहंकार से इन्द्रिय अधिष्ठातृ देवताओं की और मन की उत्पत्ति मानी गयी है। मन के भी अपने कार्यों के कारण चार रूप हैं—मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। राजस अहंकार से दश बाह्य इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इनमें पंच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंच कर्मेन्द्रियाँ हैं। तामस अहंकार से पंच सूक्ष्म विषयों की अर्थात् तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। ये निम्न हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन पांच सूक्ष्म तन्मात्राओं से स्थूल पंचभूतों की उत्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार भौतिक तत्व चौवीस हैं। विकास क्रम के ठीक विपरीत क्रम से प्रलय है। गन्ध पृथ्वी सहित जल में, रस सहित जल तेज में, रूप सहित तेज वायु में, स्पर्श सहित वायु का विलय आकाश में होता है। आकाश अपने शब्द सहित भूतादि अहंकार में विलीन होता है। इन्द्रियाँ राजस अहंकार में, इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता एवं मन सात्विक अहंकार में विलीन होते हैं। तीन प्रकार के अहंकारों का महत् में और महत् का प्रकृति में विलय

---

१. वही ६।२४

२. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृष्ठ २८

होता है। प्रकृति का विलय परमेश्वर में होता है। इस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकगण सृष्टि-प्रलय की व्याख्या सांख्य के विकासवाद के समान प्रस्तुत करते हैं। सांख्य के ही समान द्वैताद्वैती दार्शनिक भी भौतिक सृष्टि की व्याख्या के लिए जड़ प्रकृति को स्वीकार करते हैं। परन्तु जड़ प्रकृति यहां पर परमेश्वर की शक्ति भी है। निम्बार्क दार्शनिकगण जगत् एवं ब्रह्म की सत्ता में भेद नहीं करते। दोनों की सत्ता एक है, क्योंकि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। जगत्कारण प्रकृति भी ब्रह्म से अनन्य है, अतः जगत्सृष्टि सत्य है, काल्पनिक या मिथ्या नहीं। निम्बार्क दार्शनिकगण अद्वैत वेदान्त के समान सत्ताभेद स्वीकार नहीं करते। इसलिए ब्रह्म से जीव-जगत् को किसी प्रकार न्यून सत्ताक नहीं कहते। यद्यपि जगत् ब्रह्म का कार्य है, फिर भी कार्य की वही सत्ता है जो कारण की है। कार्य कारण का विवर्त नहीं है। इसलिए कार्यरूप जगत् मिथ्या नहीं हो सकता।

प्राकृतादितत्त्व—निम्बार्क दार्शनिक तीन प्रकार के अचेतन तत्वों को स्वीकार करते हैं—प्राकृत, अप्राकृत एवं काल। समस्त विश्व प्रकृति ही प्राकृत तत्व है। प्राकृत तत्व सत्व, रजः, तमो-गुणात्मक है। इसे माया, प्रधान, अव्यक्त आदि शब्दों द्वारा भी कहा जाता है।[१] यहाँ पर निम्बार्क दार्शनिक प्राकृत तत्व को सांख्य की प्रकृति के समान ही मान लेते हैं, किन्तु सांख्य की प्रकृति अधिष्ठातृहीन होकर सृष्टि करती है। जो कि निम्बार्क के अनुसार नहीं कर सकती। निम्बार्क के अनुसार प्रकृति सर्वदा एवं सर्वथा ईश्वराधीन अर्थात् ईश्वर अधिष्ठित होकर कार्य करती है। निम्बार्क द्वारा मान्य प्राकृत तत्व ब्रह्म की शक्ति है। यह परमेश्वर की अध्यक्षता में ही कार्य करती है।[२] प्रकृति में जो कुछ भी कारणता आदि बातें हैं, वे सब ब्रह्माधीन हैं। निम्बार्काचार्य के अनुसार यह औपनिषदीय प्रकृति अर्थात् प्रधान है। सांख्य की प्रकृति से इसमें भेद है।[३]

द्वितीय तत्व अप्राकृत तत्व है। यह प्राकृत तत्व से भिन्न है। यह प्रकाशात्मक एवं अनावरक स्वभाव वाला है, किन्तु अचेतन है। यह अप्राकृत तत्व परमानन्दकर है। इसे आनन्द, नित्य-विभूति, परमात्मालोक, परव्योम, विष्णुपद आदि नामों से कहा गया है।[४] यह अप्राकृत तत्व श्री भगवान् के संकल्प से स्थित है। यह अनादि एवं नित्यमुक्त भक्तों एवं भगवद् अनुचर गुणों द्वारा भोग्य है अर्थात् नित्यमुक्त गण इस अप्राकृत तत्व का भगवत्कृपा से उपभोग करते हैं। अप्राकृत तत्व विशुद्ध सत्वगुणमय है। इसी से मुक्तात्मा गणों को दिव्य देह प्राप्त होता है, अर्थात् इनके दिव्य शरीरों के लिए विशुद्ध सत्वगुणमय अप्राकृत तत्व उपादान है।[५] अप्राकृत तत्व प्राकृत ब्रह्माण्ड से अतीत है।[६] यह नित्य लोक है। प्रकृति सम्बन्ध से रहित है। यह परमधाम है। इस परमधाम को प्राप्त करने के बाद

१. दश श्लोकी, श्लोक ३
२. गीता ९।१०
३. निम्बार्क भाष्य, ब्रह्मसूत्र १।४।३
४. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृष्ठ ३९, ४०
५. वही, पृष्ठ ६९
६. वही, पृष्ठ ३९

मुक्तात्मा इस मृत्युलोक में वापिस नहीं आते। गीता में कहा गया है कि 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' १५।६। यहाँ पर परमधाम उस अप्राकृत लोक के लिए ही कहा गया है। इस अप्राकृत लोक के अस्तित्व के समर्थन में बहुत से शास्त्र प्रमाण मिलते हैं। कौषीतकि उपनिषद् १।३, ४ में विरजा नदी को पार करके उस अप्राकृत परमधाम को प्राप्त करने का वर्णन आया है। श्रुत्यन्त सुरद्रुम में कहा गया है कि ब्रह्मलोकका अतिक्रमण करके मुक्तात्मागण परमगति को प्राप्त कर लेते हैं।[1] पच्चीस-श्लोकी-स्तवराज में इस अप्राकृत लोक को चिद्घन, नित्य, सर्वव्यापक, आनन्दमूर्ति कहा गया है।[2] इससे लगता है कि अप्राकृत लोक चैतन्यमय है, किन्तु दशश्लोकी में श्री निम्बार्काचार्य ने अप्राकृत तत्व को अचेतन तत्व कहा है। इस विरोध का समाधान करते हुए श्री पुरुषोत्तम प्रसाद ने श्रुत्यन्तसुरद्रुम में कहा है कि अप्राकृतधाम जड़ नहीं है, चिद्घन है, अन्यथा वह मुक्तात्माओं का प्राप्य नहीं हो सकता। उनका कहना है कि दशश्लोकी में इसको अचेतन कहने का तात्पर्य है कि अप्राकृत तत्व जीवात्मा के 'समान धर्मभूत ज्ञान का आश्रय नहीं है। किन्तु स्वरूपतः चिन्मय है। भगवत् चित्-शक्ति ही इसका उपादान है। यह प्रकाशरूप है।[3]

निम्बार्क दर्शन के अनुसार तृतीय अचेतन तत्व काल है। काल अचेतन है, किन्तु नित्य एवं विभु परिमाणवाला भी है। काल एक होने पर भी उसमें औपाधिक भेद है। सूर्य परिभ्रमण आदि काल के लिए उपाधि हैं।[4] निम्बार्क दर्शन के अनुसार वैशेषिकों द्वारा मान्य काल से यह काल भिन्न है। निम्बार्क मत में काल भगवत्-शक्ति एवं विभूति है। इसलिए गीता में कहा गया है 'कालः कलयतामहम्' १०।३०। इस श्लोक की व्याख्या में श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने काल के स्वरूप की व्याख्या की है।[5] श्री सुखदेव आचार्य ने सिद्धान्त प्रदीप में काल को परमेश्वर की शक्ति कहा है।[6] परमेश्वर की शक्ति होने के कारण काल परमेश्वराधीन है। काल भी अचेतन है। भगवत्-शक्ति के रूप में उसे कभी-कभी चेतन भी कह दिया जाता है।

---

१. श्रुत्यन्त सुरद्रुम, पृष्ठ १११
२. पच्चीस श्लोकी-स्तवराज, श्लोक १७
३. श्रुत्यन्तसुरद्रुम, श्लोक १७
४. वेदान्तरत्नमंजूषा, श्लोक ३ पर टीका।
५. तत्वप्रकाशिका टीका, गीता श्लोक १०।३० एवं ११।३२
६. सिद्धान्त-प्रदीप, भागवत श्लोक ३।२६।३७, ३८, ४५

उपसंहार

तुलनात्मक मूल्यांकन—जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में अध्ययन किया है एवं देखा कि अद्वैत एवं द्वैताद्वैत दर्शन की तत्त्वमीमांसा में बहुत समानता और असमानता भी हैं। अद्वैत के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है और वह आत्मा जीवभावापन्न होने पर भी अपने स्वरूप में ब्रह्माभिन्न है। इसी प्रकार आचार्य शंकर ब्रह्म जिज्ञासा का केन्द्र आत्मविचार को बनाते हैं। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान लेना ही ब्रह्म को जान लेना है। इसीलिए सदसद्विवेकपूर्वक अध्यस्त आत्मविषयक अज्ञान आवरण को ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से दूर करना है। द्वैताद्वैतदर्शन के अनुसार आत्मा अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म से व्यक्ति के रूप में पूर्णतः भिन्न है। जीवात्मा अणुपरिमित एवं परमेश्वर विभु परिमित हैं। जीव का अणुपरिमाणत्व इस मत में औपाधिक नहीं है। इसलिए कभी भी अणुपरिमित जीव ब्रह्मरूप नहीं हो सकता। मुक्ति में भी ज्ञान में विभु होने पर भी जीव स्वरूप में अणु ही रहता है। इस प्रकार परिमाणभेद से जीव-ब्रह्म भेद स्पष्ट हो जाता है। परमार्थतः जीवात्मा के ब्रह्म से भिन्न होने के कारण आत्म-जिज्ञासा ही ब्रह्म जिज्ञासा निम्बार्क मत में नहीं होती। ब्रह्म-जिज्ञासा पूर्वक आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती अवश्य है, किन्तु आत्मजिज्ञासा ही ब्रह्म जिज्ञासा नहीं है। ब्रह्म के स्वरूप के विषय में भी अद्वैत एवं निम्बार्क मतों में वैषम्य है। अद्वैत ब्रह्म को निर्गुण कहता है जबकि निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है। हमने पिछले अध्यायों में देखा है कि किस प्रकार निम्बार्क दार्शनिकगण निर्गुणब्रह्मवाद के खन्डन में युक्तियों का प्रहार करते हैं। निम्बार्क दार्शनिक निर्गुण ब्रह्म में लक्षण-प्रमाणों के होने का खण्डन करते हैं। इसी प्रकार निर्गुणब्रह्म की कारणता का भी उन्होंने खण्डन किया है। निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म में कारणता आरोपित नहीं है। जगत् ब्रह्म का परिणाम है। इस परिणाम से ब्रह्म में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। जबकि अद्वैत के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। परिणाम मानने पर ब्रह्म में विकार आना अद्वैत के अनुसार अनिवार्य है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म निर्गुण होता हुआ भी सच्चिदानन्द है। जबकि निम्बार्क दार्शनिक निर्गुण ब्रह्म में सत्-चित् एवं आनन्द का खण्डन करते हैं। सत्-

चित् आनन्द अथवा अनन्त ब्रह्म के गुण हैं । इसीलिए निर्गुण ब्रह्म में उनका कोई स्थान नहीं । अद्वैत-वेदान्ती सत्-चित्-आनन्द को अखण्डार्थ द्वारा स्वरूपभूत मानते हैं जबकि निम्बार्क दार्शनिकगण अखण्डार्थ के होने का खण्डन करते हैं । निम्बार्क दार्शनिकों ने यह भी दिखाया है कि किस प्रकार सत् आदि पदों को स्वरूपभूत मानने पर अर्थात् ब्रह्मस्वरूप मानने पर पर्यायार्थकता की आपत्ति होगी । इसका निराकरण अद्वैत वेदान्तियों ने निषेध-परकता का अर्थ करके किया है । अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म का ईश्वरभाव भी औपाधिक होने के कारण व्यावहारिक है । अद्वैत के अनुसार ब्रह्म का ईश्वरत्व अर्थात् जगत् नियन्तृत्व, उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है । अद्वैत के अनुसार ब्रह्म में किसी प्रकार के भेद सम्भव नहीं हैं । ब्रह्म स्वगत-स्वजातीय-एवं विजातीय भेदरहित है । जीव-जगत् आदि ब्रह्म में कल्पित हैं । इसीलिये भेद मिथ्या है । निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म में जीव-जगत् आदि भेद सत्य है । निम्बार्क के अनुसार जब शास्त्र भेद का निषेध करते हैं तब वहां पूर्ण भेद का नहीं निषेध नहीं करते है । ब्रह्म एक है, साथ में जीव-जगत् भी सत्य हैं ।[1]

पूर्वोक्त वैषम्यों के होने पर भी अद्वैत एवं निम्बार्क दर्शन में स्वीकृत ब्रह्म के स्वरूप में कुछ समानताएं भी हैं । अद्वैत वेदान्त अन्तिम तत्त्व के रूप में ब्रह्म को स्वीकार करता है । निम्बार्क भी ब्रह्म को ही अन्तिम तत्त्व कहते हैं । अद्वैत के अनुसार भी ब्रह्म अभिन्न निमित्त कारण है । किन्तु इस कारणता में सहकारीकारण के रूप में अविद्या की भी भूमिका है । निम्बार्क के अनुसार भी ब्रह्म अभिन्न-निमित्तोपादान है । अद्वैत के अनुसार जीव-जगत् ब्रह्मरूप अधिष्ठान के आधीन हैं । निम्बार्क के अनुसार भी जीव-जगत् ब्रह्मपरतंत्र हैं । दोनों ही दार्शनिक ब्रह्म को जगत् व्याप्त एवं जगत् अतीत मानते हैं ।

जीवस्वरूप के विषय में भी दोनों मतों में वैषम्य एवं साम्य दोनों हैं । अद्वैतवादी वास्तविक अर्थ में जीव को ब्रह्म ही कहते हैं । इसीलिए उनके अनुसार जीव का जीवत्व औपाधिक है । जीवगत शुद्धचैतन्य ब्रह्म ही है । यही कारण है कि अद्वैतवादी जीव की व्याख्या में प्रतिबिम्बवाद की स्थापना करते हैं । प्रतिबिम्ब जिस प्रकार बिम्बरूप है, उस प्रकार जीव भी ब्रह्मरूप है । निम्बार्क दार्शनिक इस प्रतिबिम्बवाद का प्रत्याख्यान करते हैं । वे जीवत्व को वास्तविक कहते हैं । जीवपरिमाण के विषय में निम्बार्क दार्शनिक अणुपरिमाणवादी हैं । अद्वैतवादी जीव को विभुपरिमित मानते हैं । इस प्रकार जीव विषयक धारणा में भी दोनों दर्शनों में मतभेद है । अद्वैत के अनुसार जीव का नानात्व अन्तःकरण उपाधियों के कारण है । निम्बार्क के अनुसार जीव नाना हैं । जीव का नानात्व उनके अनुसार मुक्ति में भी बना रहता है । अद्वैत के अनुसार जीव में कर्तृत्व आदि गुण अध्यस्त हैं, वास्तविक नहीं । निम्बार्क दार्शनिकगण रामानुज आदिवैष्णव दार्शनिकों के ही समान जीव के कर्तृत्व आदि गुणों को स्वाभाविक मानते हैं । अद्वैतवेदान्ती आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं । निम्बार्क दार्शनिकगण ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं । वे आत्मा को ज्ञान स्वरूप नहीं मानते । अद्वैत के अनुसार आत्मा वस्तुतः कूटस्थ निर्लेप एवं

---

१. The PhilosoPhy of Bhedabheda-p 157. Srinivasachari.

सभी प्रकार की क्रियाओं से शून्य है।[1] निम्बार्क के अनुसार जीवात्मा कूटस्थ नहीं है। वह गुण-क्रियाओं से युक्त है। निम्बार्क जीव को ब्रह्म का अंश कहते हैं, परन्तु जीव का अंशभाव भौतिक वस्तुओं के अंश के समान नहीं है, वह शक्ति रूप अंश है।[2] तत्त्वमसि की व्याख्या में अद्वैतवेदान्ती लक्षणा द्वारा जीव-ब्रह्म के ऐक्य की सिद्धि करते हैं। निम्बार्क के अनुसार तत्त्वमसि द्वारा जीव-ब्रह्म में एकान्त अभेद की सिद्धि नहीं होती, किन्तु जीव ब्रह्म आधीन एवं ब्रह्माश्रित है, इस अर्थ में जीव को ब्रह्माभिन्न कहा गया है, न कि एकत्वसिद्धि करने के लिए। इसी कारण निम्बार्क दार्शनिकगण जीव-ब्रह्म सम्बन्ध को भेदाभेद सम्बन्ध कहते हैं। निम्बार्क दार्शनिक मुक्ति में भी जीव-ब्रह्म भेद एवं जीव-जीव भेद स्वीकार करते हैं। अद्वैत के अनुसार मुक्ति में जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। निम्बार्क के अनुसार विदेहमुक्ति ही मुक्ति है, जीवन्मुक्ति उनके मत में स्वीकार नहीं है।

जीवस्वरूप के विषय में इतने वैषम्य होने पर भी बहुत सी बातों में दोनों मतों में समानताएं भी हैं। जीव दोनों मतों के अनुसार चेतन एवं वास्तविक अर्थ में सर्वज्ञत्वादि सम्पन्न है। जीव आनन्दस्वरूप है, उसके सर्वज्ञत्वादि गुण अविद्या के कारण आवृत हैं, यह दोनों मतों में मान्य है। संसार में अविद्याग्रस्त जीव नाना हैं, यह दोनों दर्शनों को मान्य है। अद्वैत के अनुसार अविद्या से जीव का स्वरूप आवृत होता है। निम्बार्क के अनुसार गुण आवृत होते हैं। कभी-कभी निम्बार्क दार्शनिक गुणों को लेकर भी स्वरूप का कथन कर देते हैं। अद्वैतवादी जीव को स्वरूपतः व्यापक मानते हैं, निम्बार्क जीव को ज्ञानात्मना व्यापक मानते हैं। इस प्रकार किसी न किसी प्रकार से जीव को दोनों ही व्यापक मानते हैं। अन्तःकरण अवच्छिन्न होकर हृदय गुहा में स्थित जीव अणुपरिमित हो जाता, यह अद्वैत भी मानता है। किन्तु वह स्वरूपतः व्यापक होता है, ऐसा मानता है। जीव को कर्ताभोक्ता दोनों मानते हैं, भले ही अद्वैत के अनुसार कर्तृव्य-भोक्तृत्व अध्यस्त क्यों न हों। इस प्रकार दोनों मतों में जीव-ब्रह्म विषयक मान्यता में वैषम्य के साथ साम्य भी हैं।

उक्त जीव-ब्रह्म विषयक समस्याओं के अतिरिक्त निम्बार्क दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त के अविद्यावाद, जगत्मिथ्यात्ववाद आदि का भी खण्डन किया है। अविद्यावाद के खण्डन में अन्यवैष्णव दार्शनिकों के ही समान निम्बार्क दार्शनिकगण भी सदसद् अनिर्वचनीय अविद्या की प्रसिद्धि का खण्डन करते हैं। इसी प्रकार निम्बार्क दार्शनिकों ने आत्म-अनात्मा अध्यास का भी खण्डन किया है। जगत् के विषय में निम्बार्क दार्शनिकों ने जगत् मिथ्यात्ववाद का जोरदार खण्डन किया है। अद्वैतवेदान्ती जगत् को अलीक अर्थ में मिथ्या नहीं कहते। किन्तु सत् एवं असत् रूप से अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत्य है। यह भ्रम नहीं।[3] निम्बार्क दार्शनिकों ने इस दृष्टिकोण की

1. Advaita philosophy. page 96, K.shastri.
2. The Philosophy of Nimbarka, page 101. Sinha.
3. Shankara emphasizes that from the phenomenal point of view the world is quite real. It is not an illusion. It is a practical reality. A critical Survey of Indian Phil. page—253. C. D. Sharma.

ओर ध्यान नहीं दिया है। अद्वैतवेदान्ती जगत् की व्यावहारिक सत्ता में सन्देह नहीं करते।[1] वे इसे पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या कहते हैं। व्यवहार में जीव-जगत् आदि एवं उनका नानात्व सत्य हैं। निम्बार्क दार्शनिकों को जगत् की उक्त व्याहारिक व्याख्या पसन्द नहीं।

समीक्षात्मक दृष्टि : अद्वैतवाद एवं निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद—दोनों ही सिद्धान्त औपनिषदीय हैं, ऐसा उक्त सिद्धान्तों के आचार्यों का दावा है। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्ममीमांसा के लिए वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की तथा उन सूत्रों में मीमांसित सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए शंकर, रामानुजादि भाष्यकार प्रवृत्त हुए। उपनिषदों को आधार मानकर अद्वैतवादी अद्वैतब्रह्मवाद की स्थापना करते हैं और उन्हीं को आधार मान कर वैष्णव दार्शनिकगण अपने अभीष्ट ब्रह्मवाद की व्याख्या करते हैं। निम्बार्क दार्शनिक भी द्वैताद्वैतब्रह्मवाद का आधार उपनिषदों को ही मानते हैं। उपनिषदों में अद्वैतपरक एवं द्वैतपरक—दोनों प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं। निम्बार्क दार्शनिक दोनों प्रकार के वाक्यों की संगति वैठाने के लिए भेदाभेदवाद का समर्थन करते हैं। आचार्य शंकर अपने अद्वैतब्रह्मवाद के समर्थन में षड्विधतात्पर्यलिंगों की चर्चा करते हैं तथा उपक्रम, उपसंहार आदि द्वारा द्वैतश्रुतियों का भी अद्वैतपरक तात्पर्य निकालते हैं। षड्विध तात्पर्य लिंगों द्वारा अर्थात् उपक्रम-उपसंहार आदि द्वारा निम्बार्क दार्शनिकगण भी द्वैताद्वैतब्रह्मवाद का समर्थन करते हैं। दोनों ही दर्शन-सम्प्रदाय श्रुति को प्रधान प्रमाण मानते हैं। दोनों ही दर्शन-सम्प्रदायों का सैद्धान्तिक आधार एक है, किन्तु सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा क्यों? अद्वैतवादी श्रुति को अन्यप्रमाणों से वलवान् प्रमाण मानते हैं और इस प्रकार श्रुति के प्रति वे अटूट श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए लगते हैं, परन्तु जब वे श्रुति प्रमाण को भी व्यावहारिक प्रमाण कह देते हैं, तब उनकी श्रद्धा की गहराई का पता चलता है। इधर निम्वार्क दार्शनिक भी श्रुति प्रमाण के प्रति अटूट आस्था दिखाते हैं, किन्तु जव वे भी श्रुति प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्षप्रमाण को बलवान् घोषित करते हैं, तब उनकी भी अटूट आस्था का रहस्य पता चलता है। जो भी हो दोनों ही दर्शन श्रुति प्रमाण के प्रति प्रगाढ़ आस्थावान् हैं, ऐसा उनका स्वयं का दावा है।

अद्वैत एवं द्वैताद्वैत दर्शन में समस्यायें कितनी भी हों, मूल समस्या एक है और वह अद्वैत और द्वैताद्वैत की समस्या है। जीवब्रह्मवाद के विषय में भी दोनों दर्शनों के शास्त्रार्थ का केन्द्रविन्दु भेद एवं अभेद की समस्या ही है। यदि निम्बार्क दार्शनिक अद्वैत की अभेदवादी युक्तियों को स्वीकार कर लें तो जीव-जगत् आदि समस्याओं का समाधान अभेदवाद के अनुकूल ही हो जायेगा। इसी प्रकार अद्वैतवादी यदि अपने अभेदवाद के प्रति

1. Sankara never shows doubt as to the existence of the phenomenal world. An introduct. to sankara's Theory of knowledge. page 205 N, K. Devaraja.

आग्रह छोड़ दें तथा अभेद के साथ-साथ भेद को भी स्वाभाविक मान लें, तो उनकी अन्य समस्याओं का समाधान भेदाभेद के अनुकूल हो जायेगा। किन्तु प्रश्न यह है कि भेद-अभेद एवं भेदाभेद में से सत्य क्या है? भारतीय दर्शनों में इस समस्या के समाधान में दार्शनिकों ने पर्याप्त विचार किया है। दर्शनशास्त्र एक वैचारिक प्रक्रिया है। इसमें समस्याओं का समाधान तात्त्विक रूप से नहीं हुआ करता है। ऐसा होने पर भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास रुक जायेगा। इसलिए हम देखते हैं कि भेद-अभेद की समस्या के समाधान में प्रवृत्त दार्शनिकविचारप्रक्रियाओं द्वारा भी उक्त समस्या का समाधान नहीं हो पाता। किन्तु दार्शनिक प्रवृत्तियों का शास्त्रार्थशैली द्वारा विकास हुआ है जिसके परिणामस्वरूप आज हमारे सामने सम्पूर्ण अद्वैतवादी एवं अद्वैत के खण्डन करने वाले विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी आदि दार्शनिकों का विशाल साहित्य समृद्ध रूप से है।

समकालीन भारतीय चिन्तकों द्वारा भी भेदाभेद समस्या का समाधान नहीं हो पाया है। ऋषि अरविन्द, प्रो० के० सी० भट्टचार्य, डा० राधाकृष्णन आदि दार्शनिकों ने इस समस्या पर विचार किया है। प्रो० भट्टाचार्य एवं डा० राधाकृष्णन आदि का दृष्टिकोण अद्वैतपरक होने के कारण उनके द्वारा भी उक्त समस्या का समन्वयात्मक समाधान नहीं हो पाया। ऋषि अरविन्द ने इस विषय में प्रयास किया है। उन्होंने 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' की व्याख्या द्वारा नानात्व को सर्वग्राही परमतत्त्व के अन्तर्भूत करके उसको निषेध की स्थिति से निकालने का प्रयास किया है। उनके अनुसार विषय-विषयी में से एक के मिथ्या होने पर दूसरे का भी मिथ्या होना निश्चित है। तात्त्विक दृष्टि से सगुणत्व-निर्गुणत्व, नानात्व-एकत्व आदि विरोध सृष्टि में दिखाई देते हैं, किन्तु अतिमानस स्तर पर पहुँचने पर अरविन्द के अनुसार इन विरोधों का समन्वय हो जाता है। अरविन्द का अद्वैतवाद पूर्णाद्वैतवाद है। अद्वैत एवं द्वैत की समस्या के समाधान में अरविन्द ने जो अतिमानस चेतना-स्तर की बात कही है, वह अरविन्द दर्शन को रहस्यवाद की ओर ले जाता है। यहां पर भी अतिमानस चेतनास्तर की प्रामाणिकता का प्रश्न उठ सकता है। अतिमानस की प्रामाणिकता को क्या हम वैचारिक स्तर पर समझ सकते हैं? जहां तक श्रद्धा से मान लेने की बात है, वह तो अभेदवाद में भी है और भेदवाद में भी। विश्व में भेद एवं अभेद की धारणा हमें भौतिक वस्तुओं को देखकर होती है। भौतिक वस्तुओं में पृथक्-पृथक् रूप से विशेषों का भी दर्शन होता है और ध्यान देने पर सर्वत्र एक सामान्य का भी दर्शन होता है। इनमें से जिधर भी बुद्धि का झुकाव अधिक होता है, वही सत्य प्रतीत होने लगता और दूसरा असत्य लगने लगता है। शंकर ने सामान्य का खंडन किया है, किन्तु ब्रह्म भी तो सामान्य लगने लगता है।[1] जब कि न्याय के सामान्य या बौद्धों द्वारा प्रत्याख्यात सामान्य से ब्रह्म की सामान्यता अत्यन्त भिन्न है। न्याय के सामान्य के बिना भी आकाश आदि पदार्थ सत्तावान् हो सकते हैं। किन्तु ब्रह्म की सत्ता के बिना आकाश आदि भी सत्तावान् नहीं हो सकते। इसी

1. While the Vedantins call the Brahman Samanya. Idealistic thought of India. page 422 P. T. Raju .

कारण श्री हर्ष ने 'खण्डनखण्डखाद्य' में न्याय के सामान्य का जोरदार खण्डन किया है। अद्वैत का अद्वैत ब्रह्म सर्वत्र अनुस्यूत है, अर्थात् ब्रह्म की सर्वत्रअनुवृत्ति है, इस अर्थ में ब्रह्म सामान्य ही तो है। प्लेटो के अनुसार इसे essence कह सकते हैं। ब्रह्म सामान्य या essence होने के कारण ही अभेदरूप है। भारतीय दर्शनों के विद्वान् हिरियन्ना महोदय भेदाभेद खण्डन में बहुत सी युक्तियां दी हैं। उनके अनुसार भेदाभेद कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। मान लीजिये कि म और न दो वस्तुयें हैं जिनके बीच भेदाभेद सम्बन्ध है, इनमें से कोई भी स्वतः दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं हो सकती। यदि हो तो इसका तात्पर्य यह होगा कि म न और अ न दोनों हैं, और इसी प्रकार न म और अ म दोनों हैं जो कि व्याघात के नियम के विरुद्ध होगा। जब दो वस्तुएँ वास्तव में अलग-अलग होती हैं तब वे एक नहीं हो सकतीं। हम दो व्याघाती पदों को एक साथ सत्य नहीं मान सकते।[1] एकत्व एवं नानात्व एक दूसरे से सापेक्ष होने के कारण दोनों में से एक को सत्य तथा अन्य को मिथ्या सीधे नहीं कहा जा सकता। इसीलिये अद्वैत के अनुसार निर्विशेष वस्तु भेद एवं अभेद से तथा भेदाभेद से भी परे है। प्रतिभास का निषेध करने के लिए ही ब्रह्म को परमार्थ और अभेद कह दिया जाता है। वस्तुतः अभेद या परमार्थ भी यदि, वहाँ तक बुद्धि की पहुँच हो गई, तो वह भी दृश्य ही हो जायेगा। इसीलिए जितनी भी धारणायें हमारे लिए परिचित हैं, उनमें से कोई भी उस परमार्थ में लागू नहीं हो सकती। यह बात सत्य है कि विचार प्रक्रिया में निर्गुण ब्रह्म को नहीं लाया जा सकता।[2] इसीलिये निम्बार्क दार्शनिकों की यह आपत्ति संगत है कि अद्वैतअभिप्रेत ब्रह्म में लक्ष्यत्व, कारणत्वादि बातें घटित नहीं होतीं, यह बात अद्वैतवेदान्तियों को भी ज्ञात है।

कुछ लोग सादृश्य को ही अभेद मान बैठने की बात कहते हैं, परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दो सदृश वस्तुओं में हम उतनी ही भिन्नता पाते हैं जितनी कि दो विसदृश वस्तुओं में। उदाहरणार्थ दो जुड़वे भाइयों में सादृश्य को देखा जा सकता है; अथवा दो समान घटों में। उक्त उदाहरणों में दोनों में सादृश्य होते हुए भी पूर्णरूप से दोनों में भेद भी है, क्योंकि दोनों पृथक् व्यक्ति हैं। 'चन्द्रमुखी' आदि उपमा स्थलों में वास्तविक सादृश्य न होकर आलंकारिक अभिप्रेत सादृश्य होता है। वास्तविक सादृश्य तो सभी पक्षों से समान दो व्यक्तियों में होता है। ब्रह्म एवं जीव-जगत् में तथा परस्पर जागतिक वस्तुओं में जो अभेद है, वह दो घटों में स्थित सादृश्य के समान नहीं है। वहां पर अर्थात् जीव-जगत् और ब्रह्म में जो अभेद है, वह 'अस्ति' को लेकर एक दिखाई देता है। सत्ता सर्वत्र अनुवृत्त होकर सब वस्तुओं को एक सूत्र में बांध लेती है। तब हमें सादृश्य नहीं, अभेद ही दिखाई देता है और जब घट पट आदि को विशेष रूपों में देखते हैं, तब हमें भेद ही दिखायी देता है, दोनों के दिखायी देने के कारण भेदाभेद भी हैं। अंशांशीभाव में या पराधीनसत्व के अर्थ में पूर्वोक्त सादृश्य की व्याख्या संगत नहीं है। जैनियों के समान सकल-विकल दृष्टि भद से भी भेद-अभेद एवं भदाभेद की सुसंगत व्याख्या नहीं दी जा सकती। क्या पर-

---

1. Outlines of Indian philosophy—page 369-70, Hiriyanna.
2. Ibid. page 373

मार्थतः भी कोई दृष्टि हो सकती है ? शंकराचार्य आदि भारतीय दार्शनिक अपरोक्षानुभूति में सभी समस्याओं का समाधान खोजते हैं। परन्तु हमारे विचार से अपरोक्षानुभूति दार्शनिक अनुभूति न होकर रहस्यात्मक अनुभूति है। अतः उससे उक्त दार्शनिक समस्या का समाधान कहाँ तक हो सकता है, विचारणीय है।

हमारी बुद्धि की भी कुछ सीमायें हैं। बुद्धि उन क्षेत्रों में भी प्रवेश करना चाहती हैं, जहां उसका प्रवेश सम्भव नहीं। उदारणार्थः—जिस वस्तु का आदि नहीं, उसे भी अनादि कहकर हमारी बुद्धि किसी एक सीमा में लाकर पटक देती है। जिस वस्तु का अन्त नहीं, उसे हम अनन्त कहकर समझना चाहते हैं। परन्तु विचार करके देखा जाय तो लगेगा कि अनादि एवं अनन्त···शब्दों से हमने आदिहीन एवं अन्तहीन वस्तुओं की भी सीमा वना ली है, जो कि सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि हम अपनी धारणाओं का स्पष्टीकरण भाषा के माध्यम से करते हैं। भाषा शब्दों एवं वर्णों में सीमित है। घट शब्द घ एवं ट वर्णों से बना है। घ और ट को मिलाकर बोलने पर घट की ध्वनि होती है। उस ध्वनि से घटविषयक एक विचार की अभिव्यक्ति होती है। उस विचार के अनुकूल पानी भरने वाली एक विशेष वस्तु का हमें बोध होता है। पानी भरने वाली अनेक वस्तुओं में से जिसकी ओर संकेत किया जाये उसको समझना उतना कष्टकर नहीं है। संकेत न करने पर वह साधारण प्रत्यय ही रहता है। इस प्रकार घट की आकृति विचार में, विचार से ध्वनि में, ध्वनि से शब्द में आती है। इस प्रक्रिया से भौतिक वस्तुविषयक ज्ञान का आदान-प्रदान भाषा के माध्यम से कितना जटिल है, हम समझ सकते हैं। इस पर भी हम निश्चय पूर्वक कहने की स्थिति में नहीं होते कि भौतिक वस्तु घटविषयक ज्ञान तथ्यात्मक है। रसेलने विवरणात्मक ज्ञान की अपेक्षा संकेतात्मक ज्ञान को प्रामाणिक माना है। अद्वैत के अनुसार संकेतात्मक ज्ञान में भी वस्तु में अनुभाव्यता होती है। अतः वह ज्ञान भी प्रामाणिक नहीं है। लॉक की ज्ञानमीमांसा के अनुसार संकेतात्मक ज्ञान में भी बिम्बभूत वस्तु का ज्ञान न होकर वस्तुप्रतिबिम्बभूत सम्वेदनों का ज्ञान होता है। उनके अनुसार वस्तु का साक्षात्कार न होने के कारण संवेदन किस प्रकार की वस्तु का है, यह निश्चय नहीं किया जा सकता।

ऐसी स्थिति में जब भौतिक वस्तुओं का ही प्रत्यय स्पष्ट नहीं तो अभौतिक ब्रह्म की धारणा को भाषा और प्रत्ययों के माध्यम से कैसे स्पष्ट किया जा सकता है ? इसीलिये हमारी धारणा है कि भेद, अभेद, भेदाभेद एवं निर्गुण-सगुणत्व की समस्याएं भाषा की जटिलता एवं वस्तुविषयक स्पष्टीकरण में भाषा की स्वाभाविक अशक्यता के कारण भी हैं।

इससे पूर्व चर्चित अपरोक्षानुभूति का समर्थन महामहिम डा० राधाकृष्णन ने भी किया है। उनके अनुसार अर्न्तदृष्टि या साक्षात्कार जिसे हो जाता है, ऐसा व्यक्ति या योगी ही ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्धी सब प्रकार के प्रश्नों का उत्तर मौन या निषेधात्मक संकेतों द्वारा दे सकता है। क्या ऐसा सम्भव है ? क्या अपरोक्षानुभूति की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता ? अपरोक्षानूभूति की अन्तिम रूप से प्रामाणिकता मान लेने पर भी समस्या का समाधान नहीं होता। आचार्य शंकर एवं पद्मपाद आदिअद्वैत

आचार्यों को पृथक्-पृथक् रूप से अपरोक्षानुभूति हुई होगी, जिसमें उन्होंने अद्वैतब्रह्म का साक्षात्कार किया होगा। वह साक्षात्कार तो व्यक्तिगत हुआ, उस साक्षात्कार का साधारणीकरण सम्भव नहीं है। अपरोक्षानुभूति के साधारणीकरण के बिना उसका प्रमाणीकरण सम्भव नहीं और प्रामाणीकरण के बिना दार्शनिक विचार प्रवृत्त नहीं होंगे। साक्षात्कृत ब्रह्म का उपदेश साक्षात्कार से व्युत्थित होकर ही देना है, क्योंकि साक्षात्कार दशा में उपदेश सम्भव नहीं एवं उपदेश दशा में साक्षात्कार सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में भेद ही प्रामाणिक है या अभेद ही प्रामाणिक है, तथाकथित अपरोक्षानुभूति से सिद्ध नहीं हो सकता। आचार्य शंकर को अभेदरूप से ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है, तो आचार्य निम्बार्क को उसके विपरीत स्वाभाविक भेदा-भेद के रूप में साक्षात्कार हुआ। दोनों ही पहुंचे हुए आचार्य थे। यदि शंकर द्वारा कृत साक्षात्कार प्रामाणिक है, तो आचार्य निम्बार्क द्वारा कृत साक्षात्कार भी प्रामाणिक होगा। किन्तु दार्शनिक-विचार-प्रक्रिया में आकर दोनों के ही साक्षात्कार हमारे लिए प्रामाणिक नहीं होंगे, क्योंकि शंकर एवं निम्बार्क के तथाकथित साक्षात्कार हमारे लिए परोक्ष ज्ञान हैं, हमारे लिए तो विचार मात्र है, शब्दों द्वारा अभिव्यक्त शाब्दिक ज्ञान मात्र है। यहां पर या तो उन आचार्यों के साक्षात्कार परस्पर विरोधी मानने होंगे या फिर अभिव्यक्ति में विरोध मानना होगा। पहुंचे हुए आचार्यों के ब्रह्मसाक्षात्कार में विरोध दर्शन का हमें अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके साक्षात्कार में हमारा साक्षित्व नहीं है, सम्भव भी नहीं। अतः प्रामाण्य-अप्रामाण्य के प्रश्न को साक्षात्कार में न डालकर अभिव्यक्ति के माध्यम विचारों एवं शब्दों में ही डालना चाहिए। विचार प्रणाली एवं शब्दों की सीमा के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि विचारप्रणाली एवं शब्दों के माध्यम से विरोध की समस्या सुलझती नहीं, उलझती भी हैं। हमारी धारणा है कि विचारों अर्थात् विचार प्रक्रिया में आकर न भेद सत्य है और न अभेद, न भेदाभेद ही सत्य है, सभी बौद्धिक ताना-वाना है। वैचारिक प्रक्रिया का प्रवेश वस्तु स्वरूप में सम्भव नहीं, वस्तु स्वरूप के बाहरवैचारिक प्रक्रिया का राज्य है।

इन विचारों से मेरा आशय यह नही है कि दार्शनिक चिन्तन बौद्धिक ताना-वाना होने के कारण अप्रमाणिक है। दार्शनिक विचारों के रूप में चिन्तनप्रणालियों का अपने आपमें महत्त्व है। दार्शनिक चिन्तन नये दार्शनिक सिस्टम्स को जन्म देता है। इस प्रकार दर्शन में नयी प्रवृत्तियों का आर्विभाव एवं विकास होता है। दार्शनिक सत्य प्रत्ययरूप सत्य हैं, प्रत्यय तत्त्व की ओर संकेत करने के लिए व्याकुल रहते हैं। यहां भी बुद्धि का क्षेत्र सीमित तो है, किन्तु उस सीमा का अतिक्रमण करने की उसमें व्याकुलता है। यह मानव बुद्धि का स्वभाव है। इसी कारण दार्शनिकगण ज्ञाननिरपेक्ष वस्तु की भी कल्पना किया करते हैं जबकि वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञाननिरपेक्ष का अवधारण भी ज्ञान द्वारा ही होता है। कान्ट वस्तुस्वरूप को भले ही अज्ञेय कहे, उसमें अज्ञेयत्व भी ज्ञान के द्वारा उच्छिष्ट है। इसी कारण हेगल सत् और बोध की एकरूपता स्वीकार करते हैं। अद्वैतवेदान्तियों ने भी ब्रह्म को परम सत् एवं चित् स्वरूप माना है।

अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म को ज्ञानविषयत्व से बचाये रखने के लिए तत्वमसि एवं सत्-

चित्-आनन्द आदि की व्याख्या में अखण्डार्थपद्धति का प्रयोग करते हैं। निम्बार्क दार्शनिक अद्वैत के अखण्डार्थ को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि जिसका भी कथन होगा, वह कथन का कथ्य होगा ही। जिसका भी ज्ञान होगा वह ज्ञान का विषय होगा, अर्थात् ज्ञेय होगा। निम्बार्क दार्शनिकों की यह युक्ति व्यावहारिक है, क्योंकि विषय को जानने में उसमें ज्ञान-विषयत्व आयेगा ही। घट को जानने में घट में ज्ञेयत्व या ज्ञान-विषयत्व आता ही है। इसीलिए नैयायिकगण वस्तुमात्र के लिए 'सर्वं अभिधेयम् सर्वं प्रमेयम्' कहते हैं। किन्तु हम घट की उस स्थिति की भी कल्पना करना चाहते हैं जिसकी कि ज्ञाननिरपेक्ष के रूप में सम्भावना है। जानना वस्तु का अनिवार्य धर्म कैसे हो सकता है? वस्तु यदि वस्तु है तो न जानने पर भी उसे वस्तु रहना चाहिए। ज्ञाननिरपेक्ष वस्तु की सिद्धि 'मम मुखे जिह्वा नास्ति,' कथन के समान 'वदतो व्याघात' है, फिर भी सिद्धि करने की उत्सुकता समाप्त नहीं होती। यदि ज्ञाननिरपेक्ष की सिद्धि होने में कठिनाई है तो कम से कम यह कल्पना तो की ही जा सकती है कि ज्ञान वस्तु को ज्ञात कराकर वस्तु कोटि से स्वयं पृथक् हो जाता है। यही स्थिति अखण्डार्थ द्वारा व्याख्यात 'सत्-चित्-आनन्द' में है। सत् आदि पदों का संसर्ग ब्रह्म के साथ नहीं, फिर भी वे पद ब्रह्म के विषय में कुछ कहते हैं। तत्वमसि में भी अद्वैत की व्याख्या के अनुसार तत् एवं त्वं की एक ऐसी स्थिति की ओर संकेत किया जाता है जो कि असंसृष्ट है। तत् और त्वं पदों के द्वारा वाच्यार्थ में जो कुछ भी बुद्धिग्राह्य है, उससे परे लक्षणा द्वारा एक ऐसे तत्व को समझना है जो कि लक्षणा का भी लक्ष्य नहीं होता। यहाँ पर अद्वैतवादी ज्ञाननिरपेक्ष तत्ववादी हैं। न्याय-वैशेषिक एवं वैष्णववेदान्तीगण सर्वत्र ज्ञानसापेक्षविषयवादी हैं। इस मत में विषय के ज्ञान के लिए अर्थात् विषय को विषयी के सम्पर्क में आने के लिए ज्ञान के सम्पर्क में आना होगा। यही ज्ञानसापेक्षविषथवाद है। अद्वैतवादी इस नियम की अनिवार्यता को समझते हुए भी एक ऐसी स्थिति की ओर संकेत करते हैं जो ज्ञाननिरपेक्ष की स्थिति है। जहाँ तक तर्क का आग्रह है निम्बार्क दार्शनिक इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि विषय-विषयीभाव से परे भी वस्तु का अपना एक रूप हो सकता है। यहाँ पर अद्वैत वेदान्ती 'नान्तः प्रज्ञं, न बहिः प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं', आदि विषय-विषयी के परे की स्थिति के विवरण को अपने पक्ष में रख सकते हैं।

अद्वैतवादी जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। निम्बार्क दार्शनिक ब्रह्म की शक्ति का परिणाम कहते हैं।[1] दोनों मतों में विरोध दिखने पर भी जब अद्वैत वेदान्ती अपने व्यवहार पक्ष में उतरते हैं, तो जगत् को अविद्या का परिणाम उन्हें मानने में कोई आपत्ति नहीं है, जब अविद्या का अस्तित्व ब्रह्म की सत्ता को लेकर के ही है, फिर इस कारणता का भी कारण ब्रह्म को ही क्यों नहीं कहा जा सकता? सैनिकों द्वारा प्राप्त विजय सेनापति की ही तो विजय होती है तथा सेनापति की विजय राजा की विजय होती है। इस प्रकार व्यवहारिक पक्ष में अद्वैत एवं द्वैताद्वैत के कारणवादों में विरोध कम हो जाता है।

जीवविषयक प्रतिबिम्बवाद या अवच्छेदवाद आदि के विषय में इतना ही कहा

---

१. भारतीय दर्शन द्वितीय भाग, पृष्ठ ७५५, डा० राधाकृष्णन।

जा सकता है कि अद्वैतवादी प्रतिविम्बवाद के या अवच्छेदवाद के समर्थन में जो कुछ भी युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, वे दृष्टान्त के पक्ष में करते हैं; न कि दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित जीव के पक्ष में। वे यह भूल जाते हैं कि अभौतिक ब्रह्म का वस्तुतः प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। बिम्बप्रतिबिम्बभाव भौतिक वस्तुओं में ही सम्भव है। अभौतिक वस्तुओं को समझाने के लिए जो भौतिक दृष्टान्त दिए जाते हैं, तत्व के प्रत्यय को स्पष्ट करने में वे बाधक भी बन जाते हैं। भौतिक दृष्टान्तों के बिना विचार की और कोई प्रणाली दिखाई नहीं देती। अद्वैतवादी प्रतिबिम्बवाद के शास्त्रार्थ में शब्द का भी प्रतिबिम्ब मानने लगे हैं, जबकि शब्द की प्रतिध्वनि होती है, न कि प्रतिबिम्ब। वस्तुतः प्रतिबिम्बवाद की सिद्धि के लिए जो दृष्टान्त दिए जाते हैं, उन दृष्टान्तों को लेकर निम्बार्क आचार्यगण जो अर्थ करते हैं, वह अधिक संगत है, किन्तु निम्बार्क आचार्यगण प्रतिबिम्बवाद के खण्डन में यह बात भूल जाते हैं कि दृष्टान्त किसी अभिप्रेत एकांश में दिए जाते हैं। इसीलिए प्रति-बिम्ववाद या अवच्छेदवाद में दिये गए दृष्टान्तों को लेकर जो शास्त्रार्थ चल पड़ता है, वह भौतिक बिम्बप्रतिबिम्बभाव के स्पष्टीकरण करने के लिए है। ब्रह्म, जीवविषयक उस धारणा का स्पष्टीकरण उससे नहीं होता, अपितु शास्त्रार्थ की प्रक्रिया में कुछ ऐसी भी युक्तियाँ दी जाती हैं जो कि जीव ब्रह्मविषयक धारणा को अधिक विभ्रान्त कर देती हैं। इस विषय में निम्बार्क दार्शनिकों द्वारा श्रुति की व्याख्या कुछ अधिक संगत लगती है। निम्बार्क दार्शनिकगण श्रुति एवं सूत्रों में आये हुए प्रतिबिम्ब दृष्टान्तों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उनका तात्पर्य ब्रह्म को जागतिक गुण दोषों में निर्लेप बतलाना मात्र है। अद्वैत वेदान्ती प्रतिबिम्ब दृष्टान्तों से जीवभाव की निःसारता मात्र को दिखाना चाहते हैं। बिम्ब प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छेदवाद आदि के दृष्टान्तों से दोनों मतों को इतना ही अभीष्ट है कि निम्बार्क दार्शनिक जीवभाव को सत्य मानते हैं एवं अद्वैत वेदान्ती मिथ्या। अपनी-अपनी पूर्व धारणा के कारण ही दृष्टान्तों की व्याख्या का समन्वय नहीं हो पाता और व्याख्या भी अपने-अपने पक्षों की ओर खिंची चली जाती है।

जीव विषयक कर्तृत्व अध्यास आदि के विषय में निम्बार्क दार्शनिकों का कहना है कि कर्तृत्व अध्यस्त नही, वास्तविक है। अद्वैत वेदान्ती कर्तृत्व आदि को अध्यस्त कहते हैं। इस प्रकार दोनों में शास्त्रार्थ चल पड़ता है जबकि विरोध बिन्दु स्पष्ट नहीं है, अपितु समन्वय बिन्दु स्पष्ट है। कोई भी चेतनवादी दार्शनिक जड़ वस्तुओं में कतृत्व, भोक्तृत्व नहीं मान सकते। सांख्य दार्शनिक जड़ प्रकृति में कर्तृत्व की बात बड़े जोर-शोर से करते हैं, किन्तु वे भी 'पंगु अन्धवत्' आदि दृष्टान्तों द्वारा प्रकृति को सक्रिय होने के लिए चेतन पुरुष के सान्निध्य की बात करते हैं। चुम्बक के सान्निध्य से जिस प्रकार लोहे में सक्रि-यता आ जाती है, उसी प्रकार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति में कर्तृत्व आता है। यदि जड़ प्रकृति में बिना चेतन के सान्निध्य से कर्तृत्व सम्भव है तो घट भी स्वयमेव पानी भरने के लिए चलने लगेगा। इसीलिए मानना पड़ेगा कि चेतन के सम्पर्क के बिना जड़ में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि सम्भव नहीं हैं। यदि बुद्धि या अन्तःकरण जड़ वस्तु है, तो फिर उसमें चेतन सान्निध्य के बिना कर्तृत्व आदि नहीं माने जा सकते। विशुद्ध चेतन में भी कर्तृत्व आदि नहीं देखे जाते। शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरणों के बिना अभौतिक

आत्मा को कार चलाते हुए हम नहीं देखते। इसीलिए शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण रूप साधनों के सम्पर्क में आये बिना आत्मा में कर्तृत्व आदि मानना भी युक्ति संगत नहीं है।

ऊपर उल्लिखित दोनों व्याख्याओं को दृष्टि में रखने पर निम्बार्क दार्शनिकों का कथन कि चेतन आत्मा में ही कर्तृत्व आदि हैं, संगत नही लगता, न ही अद्वैत वेदान्तियों का यह कथन संगत लगता है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि बुद्धि या अन्तःकरण में हैं। दोनों ही दार्शनिक इस विषय में अतिवादी हैं। अनुभव से देखने पर कर्तृत्व आदि जड़ के सम्पर्क में अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि के सम्पर्क में आया हुआ चैतन्य में हैं। यही बात समीचीन लगती है। न शुद्ध चेतन में कर्तृत्व आदि सम्भव है, न शुद्ध जड़ में। शुद्ध जड़ घटादि में कर्तृत्व आदि नहीं हैं। शरीर इन्द्रियों से रहित शुद्ध आत्मा में भी कर्तृत्व का अनुभव हमें नहीं होता। हमें जो कर्तृत्व आदि का अनुभव होता है, वह शरीरधारी चेतन जीव में होता है, इसलिए जड़-चेतन के मिलन से कर्तृत्व आदि की उत्पत्ति होती है। इस अर्थ में कर्तृत्व आदि को अध्मासपूर्वक कह सकते हैं, किन्तु यह कहना गलत होगा कि कर्तृत्व आदि अन्तःकरण में थे, चेतन के अन्तःकरण सम्पर्क में आने पर चेतन में आ गए, जैसे जपाकुसुम की लालिमा का प्रतिबिम्ब स्फटिक में आता है। चेतन के सम्पर्क से पूर्व अन्तःकरण आदि के जड़ होने के कारण उनमें कर्तृत्व आदि वैसे ही सम्भव नहीं हैं जैसे कि घट में। जड़ के सम्पर्क में आने के बाद भी कर्तृत्व आदि जड़ सम्पर्कित चेतन में माने जाने चाहिए, क्योंकि चेतन देवदत्त अधिष्ठित घड़े से पानी भरे जाने पर भी पानी भरके लाकर पिलाने का काम देवदत्त का ही होता है, घड़े का नहीं। इसीलिए जड़ के सम्पर्क में आया हुआ जीव में कर्तृत्व है न कि चेतन के सम्पर्क में आया हुआ जड़ में, ऐसी हमारी धारणा है। सांख्य दार्शनिक इस बात को मानना नहीं चाहेंगे, क्योंकि सांख्य एवं अद्वैत वेदान्तियों को ऐसा मानने पर तत्वमीमांसीय कठिनाई उत्पन्न होगी। वे पुरुष या आत्मा को सर्वदा निर्लेप सिद्ध करने के लिए ही कर्तृत्व आदि धर्मों को जड़ की ओर धकेलते हैं। निम्बार्क दार्शनिक की यह मान्यता भी पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार समीचीन नहीं लगती कि शुद्ध आत्मा में कर्तृत्व आदि हैं, क्योंकि हमने इससे पूर्व कहा है कि शुद्ध चेतन में शरीर इन्द्रियों के बिना कर्तृत्व आदि नहीं देखे जाते।

जीव में सर्वज्ञत्वादि भावों की स्वरूपतः स्थिति शंकर एवं निम्बार्क दोनों ही मानते हैं।[1] अविद्या के कारण यह भाव आवृत्त है। उक्त सर्वज्ञत्व आदि भावों के जीव में होने के शास्त्र प्रमाण के अतिरिक्त और क्या प्रमाण हो सकता है, यह प्रश्न उठता है। हम देखते हैं कि अध्ययन एवं अनुभव की व्यापकता से हम में ज्ञान की वृद्धि होती है एवं अज्ञान का आवरण कम हो जाता है। पर क्या यह वृद्धि सर्वज्ञत्व की सीमा तक होगी? इसमें क्या तर्क है कि अतीत की शास्त्रीय घटनाओं को छोड़कर सर्वज्ञत्व का उदाहरण वर्तमान में शायद ही मिलता हो। जीव की व्यापकता के विषय में भी यही बात है। सिद्धान्ततः जीव को व्यापक मान लेने का आग्रह कुछ विचित्र सा लगता है। निम्बार्क जीव को अणु परिमित मानते हुए भी ज्ञानात्मना व्यापक मानते हैं। व्यापकता या अव्यापकता का

---

1. The philosophy of Nimbarka-page. 148-Sinha.

विचार अन्तःकरण को लेकर ही सम्भव है। अन्तःकरण के बिना जीव की क्या स्थिति है, हम नही जानते। निम्बार्क आदि की मान्यता है, कि जीव मुक्ति में सर्वज्ञत्वादि सम्पन्न होता है। ईश्वर भी सर्वज्ञत्वादि सम्पन्न है। इस प्रकार जीवेश्वर में मुक्ति में सादृश्य भाव हो जाता है। शांकर सिद्धान्त में इस विषय में ध्यान देने की एक बात यह हैं कि जीव अल्पज्ञत्वादि से सम्पन्न होने के कारण या तो सर्वज्ञत्वादि सम्पन्न वाच्यार्थ ईश्वर के विसदृश विपरीत है या फिर लक्ष्यार्थ में आधारभूत चेतन को लेकर दोनों वस्तुतः एक हैं, जिसमें स्वगत-स्वजातीय आदि भेद भी सम्भव नहीं। स्वयं राम का जिस प्रकार तदर्थ में स्व से भेद सम्भव नहीं, वैसा ही समझना चाहिए। आधारभूत चेतन को लेकर ऐसी बात मानने में किसी प्रकार की तार्किक असंगति नहीं दिखती। निम्बार्क के अनुसार सर्वज्ञत्वादि समान होने पर भी जिस प्रकार दो समान वस्तुएँ एक नहीं होतीं, उनमें भेद रहता ही है, उसी प्रकार जीवेश्वर या जीव में भेद समझना चाहिए। अद्वैत वेदान्ती आधारभूत चेतन को लेकरके एकत्व में 'सोऽयं देवदत्तः' का उदाहरण देते हैं। जीवेश्वरअभेद को समझाने में निम्बार्क दार्शनिकों द्वारा इस उदाहरण को नहीं माना गया है, क्योंकि सर्व साधारण के अनुभव में 'सोऽयं देवदत्तः' में एक ही व्यक्ति हुआ करता है। अद्वैत का पक्ष इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। निम्बार्क जब स्वाभाविक भेद के साथ अभेद की बात करते हैं, उस समय उनका अभेद से यदि एकत्व से तात्पर्य होता तब तो स्वाभाविक भेद की सिद्धि में उनको तार्किक असंगति की कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि वैसी स्थिति में विरोध का नियम आ पड़ता है, किन्तु अभेद से यदि उनका तात्पर्य अभेद सम्बन्ध से है, तो समस्या का समाधान सरलता से हो जाता है। सम्बन्ध में भेदाभेद—दोनों की व्याख्या दी जा सकती है। निम्बार्क अभेद शब्द से अभेद सम्बन्ध को ही लेते हैं।

वस्तुतः प्रतिपादित सत्य दार्शनिक सत्य हो सकता है, तथ्यात्मक सत्य नहीं। इसीलिए निम्बार्क दार्शनिकों के निर्विशिष्टत्व की सिद्धि में आक्षेप यथार्थ है। साथ में यह भी ठीक है कि निम्बार्क दार्शनिक जो गुणादि द्वारा सत् को प्रतिपाद्य कहते हैं, वह प्रतिपाद्य सत् ब्रह्म भी उन्हीं का प्रतिपादित ब्रह्म है, जो कि उनकी वैचारिक प्रक्रिया से संसृष्ट है। इस सम्बन्ध में हमने पहले ही कहा है कि सत् को प्रतिपादित करने से पूर्वरूप में भी सोचना चाहिए। प्रो० पी० टी० राजू का यह कथन सत्य है कि सिद्धान्ततः विचार करने पर ऐसा कोई भी सत् समझ में नहीं आता जिसे हमारी बुद्धि ग्रहण कर सकती हो।[१] इसी कारण न्याय और बौद्ध दार्शनिकगण व्यावहारिक दृष्टि से सत् की व्याख्या 'अर्थक्रियाकारितत्वं सत्' करके देते हैं।[२] इसीलिए श्री हर्ष विश्व के सभी तत्वों को अपरिभाषेय

---

1. Theoritically considered, there is no final truth that can be attained by our finite thought. Our thought is not fitted to get at final certainly. Idealistic thought-of India, page 430. P. T. Raju.

२. वही ४३

कहते हैं ।[1] इसलिए विचारों द्वारा विवृत ब्रह्म या सत् भी वास्तविक सत् न होकर मात्र प्रत्ययपरक सत् है । निर्विशेष के विषय में अस्ति-नास्ति का कथन सम्भव नहीं । इसी-लिए निर्विशेष ब्रह्म के विषय में अद्वैतवादियों का अस्ति कथन भी संगत नहीं । इस दृष्टि से विचार करने पर अद्वैत के ऊपर निम्बार्क दार्शनिकों का आक्षेप संगत लगता है ।

निष्कर्ष में हमें इतना ही कहना है कि परमार्थ का प्रतिपादन 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' कथन के समान विरोधपूर्ण है । इसका अर्थ यह नहीं कि परमार्थ का दार्शनिक विवेचन हो ही नहीं सकता । दार्शनिक विचार तो परमार्थ को समझने और समझाने के लिए होते ही र गे । यह मानव का स्वभाव है कि वह असीम को भी सीमा में बांधना चाहता है । विचार के कारण ही दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास भी हुआ करता है । पर-मार्थ को दार्शनिक विचारों में बांधने के प्रयास के कारण ही दार्शनिक मतभेदों का जन्म होता है और होता भी रहेगा । दार्शनिक मतभेद तत्त्वसम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए उत्पन्न होते हैं, भले ही उनसे समस्याएं न सुलझकर उलझ जाएं । दर्शनचिन्तन में मतभेद न होने पर दार्शनिक चिन्तन ही अवरुद्ध हो जायेगा । इसलिए दार्शनिक चिन्तन निरर्थक नहीं है । यह सोच लेना किसी दार्शनिक के लिए दुराग्रहपूर्ण होगा कि उसने जो कुछ भी समझा और कहा, परमार्थ है । परमार्थ को न समझ पाना किसी दार्शनिक की बौद्धिक कमजोरी नहीं है, अपितु मानवबुद्धि की सीमा के कारण है । इसीलिए 'नैषातर्केण मतिरापनेया' कहा है, फिर भी तर्क तो करना ही है, इसके बिना उपाय नहीं ।

अद्वैत एवं द्वैताद्वैत दर्शन में सैद्धान्तिक जो मतभेद है । उसका समाधान ऐसा कहकर करना चाहे तो किया जा सकता है कि व्यावहारिक दृष्टि को अपनाने पर अद्वैत वेदान्ती भी ब्रह्म के सगुणत्व, ईश्वरत्व, जगत्कारणत्व, जीव नानात्व, उपास्य-उपासक आदि भावों को सत्य मान लेते हैं । निम्बार्क भी इन्हें सत्य मानते हैं, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि को अपना कर अद्वैतदार्शनिक निम्बार्क दार्शनिकों को छोड़ कर अलग बैठ जाते हैं, इसीलिए दोनों मतों में यह अन्तर तो अवश्य ही रहेगा ।

द्वैताद्वैतवादी अद्वैत के अविद्यावाद एवं मिथ्यात्ववाद के घनघोर विरोधी हैं । अद्वैत में स्वीकृत अनिर्वचनीयवाद एवं मिथ्यात्वाद का वे प्रत्याख्यान करते हैं । उनकी मूलभूत बात यह है कि सदसद् से भिन्न कोटि की वस्तु संसार में प्रसिद्ध नहीं है । शुक्ति रजत आदि भ्रमस्थलीय वस्तुओं को वे मिथ्या मानने को तैयार हैं, क्योंकि शुक्ति में रजत असत् है, असत् ही उनके मत में मिथ्या है । अद्वैतवादी जब जगत् को मिथ्या कहते हैं तब उनका आशय यह होता है कि जगत् की स्थिति परिवर्तनशील है । अतः इसे स्थायी समझ कर इसके मोह में पड़ने से कभी न कभी कष्ट उठाना पड़ेगा । जिस प्रकार की निरपेक्ष सत्ता ब्रह्म की है जगत् की उस प्रकार की निरपेक्ष सत्ता द्वैताद्वैतवादी भी नहीं मानते । उनके मत में भी प्रपंच की सत्ता सापेक्ष एवं ईश्वर की सत्ता प्रपंचनिरपेक्ष है । क्या उत्पन्न जगत् और अनुत्पन्न ईश्वर दोनों की सत्ता द्वैताद्वैतवादी के अनुसार एक जैसी हो सकती

---

1. Indian Idealism. page, 181, Dasgupta.

है ? क्या प्रवाही जगत् और कूटस्थ चैतन्य ईश्वर एक सदृश माने जा सकते है ? इस दृष्टि से देखने पर द्वैतवादियों के मत में भी निरपेक्ष सत्य ईश्वर की अपेक्षा सापेक्ष सत्य प्रपंच की सत्यता का किंचित् अवमूल्यन हो ही जाता है। अद्वैत में इस प्रकार की किंचित् न्यूनता को ही मिथ्या कहा जाता है। भले ही द्वैताद्वैतवादी गण प्रपंच को मिथ्या न कहें, पर सापेक्ष तो कहेंगे ही। ईश्वर नित्य है, तो जगत् अनित्य है, ईश्वर स्वप्रकाश है, तो जगत् पर-प्रकाश्य है। यह सापेक्षता ही जगत् की अनित्यता एवं मिथ्यात्व है। शंकर जब जगत् को मिथ्या कहते हैं, तव प्रपंच की अस्थिरता को, न्यूनता को एवं सीमितता को लेकर ऐसा कहते हैं। वैराग्य की स्थिति में आकर नेति-नेति करके निषेध्य जगत् को मिथ्या कहा जाता है।

सहायक ग्रन्थपंजिका

१. ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य—निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १६३८।
२. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—पंचपादिकादि नव टीका, अनन्तकृष्ण शास्त्री संपादित, कलकत्ता, १६३३।
३. भामती—वाचस्पति मिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६३८।
४. कल्पतरु—अमलानन्द स्वामी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३८।
५. परिमल—अप्पय दीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३८।
६ पंचपादिका—पद्मपादाचार्य, मद्रास, १६०८।
७. विवरण—प्रकाशात्मयति, मद्रास, १६०८।
८. विवरण तात्पर्य दीपिका—चित्सुखाचार्य, मद्रास, १६०८।
9. विवरण भाव प्रकाशिका,—नृसिंहाश्रम, मद्रास, १६०८।
१०. अद्वैतसिद्धि—मधुसूदन सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६१७।
११. लघु चन्द्रिका—ब्रह्मानन्द सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६१७।
१२. तत्त्व प्रदीपिका—चित्सुखाचार्य, निर्णयसागर, प्रेस, बम्बई, १६१५।
१३. विवरण प्रमेय संग्रह—विद्यारण्य मुनि, (माधवाचार्य) अच्युत ग्रन्थमाला, काशी सम्वत् १६६६।
१४. ब्रह्मसिद्धि—मण्डन मिश्र, मद्रास, १६३७, शंखपाणि टीकासहित।
१५. बृहदारण्यक वार्तिक—सुरेश्वराचार्य,।
१६. वेदान्तसार—सदानन्द, वाराणसी, १६७२ बालकृष्ण संपादित।
१७. पंचदशी—विद्यारण्य स्वामी, भार्गव पुस्तकालय, काशी, १६४२।
१८. वेदान्त परिभाषा—धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा, बनारस, सम्वत् २०११।
१६. न्याय दीपावलि—आनन्द बोध, चौखम्बा, बनारस, १६०१।
२०. बृहदारण्यकोपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १६२७।
२१. तैत्तिरीयोपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १८६७।
२२. मुण्डकोपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १८६६।
२३. छान्दोग्योपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना; १८६०।
२४. श्वेताश्वतरोपनिषद्—आनन्दाश्रम, पूना, १८११।

२५. ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२५।
२६. नैष्कर्म्यसिद्धि—सुरेश्वराचार्य, उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता, १३६० बंगाब्द।
२७. श्री निम्बार्क ओ द्वैताद्वैत दर्शन—डा० अमर प्रसाद भट्टाचार्य, बंगला, १९६६।
२८. वेदान्त रत्न मंजूषा—पुरुषोत्तमाचार्य, बनारस, १९०७।
२९. वेदान्त पारिजात सौरभ—निम्बार्क भाष्य, चौखम्बा, बनारस, १९१०।
३०. वेदान्त दर्शन, द्वैताद्वैत सिद्धान्त—स्वामी सन्तदास, सम्वत् १९८६।
३१. दश श्लोकी—श्री निम्बार्काचार्य, चौखम्बा, बनारस, १९२७।
३२. वेदान्त कौस्तुभ—श्री निवासाचार्य, बृन्दावन, १९३२।
३३. सिद्धान्त जाह्नवी—देवाचार्य, चौखम्बा, बनारस।
३४. वेदान्त तत्व बोध—अनन्त राम, चौखम्बा, बनारस, १९०७।
३५. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा—केशव काश्मीरी भट्ट, दिल्ली, १९३८।
३६. परपक्षगिरिवज्र—माधवमुकुन्द देवाचार्य, शिवपुर आश्रम, हावड़ा, कलकत्ता १३६६ बंगाब्द।
३७. श्रुत्यन्त सुरद्रुम—पुरुषोत्तम प्रसाद वैष्णव, रत्नगोपाल सम्पादित, चौखम्बा, बनारस, १९०७।
३८. पच्चीस श्लोकी स्वतराज—श्री निम्बार्काचार्य, श्री निर्मलचन्द नाग सम्पादित, १९४०।
३९. गीता तत्त्व प्रकाशिका—केशव काश्मीरी भट्ट, वृन्दावन, किशोरदास सम्पादित, सं० १९६५।
४०. सिद्धान्त प्रदीप...श्री शुकदेव, निम्बार्क आश्रम, शिवपुर, हावड़ा।
४१. मन्त्र रहस्य षोड़शी—श्री निम्बार्काचार्य, बृन्दावन, १९३७।
४२. प्रपन्न कल्प वल्ली—श्री निम्बार्काचार्य, रासबिहारी शरण द्वारा प्रकाशित, १९४२।
४३. प्रपन्न सुरतरुमंजरी—सुन्दर भट्ट, बृन्दावन, १९१५।
४४. सिद्धान्त रत्नांजलि—श्री हरिदास व्यासकृत।
४५. योग दर्शन—महर्षि पंतजलि।
४६. सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य, चौखम्बा, बनारस, १९६४।
४७. मध्यमकशास्त्र—नागार्जुन, पी० एल० वैद्य सम्पादित, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०।
४८. न्यायवार्तिक—उद्योतकर, लन्दन प्रकाशित १९६८।
४९. तर्क संग्रह—अन्नंभट्ट विरचित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७१।
५०. सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण।
५१. कठोपनिषद्—निर्णयसागर, प्रेस, बम्बई।
५२. न्यायकुसुमांजलि—उदयन - हरिकृष्णदास, वाराणसी।
५३. श्री भाष्य—रामानुजाचार्य, निर्णय सागर, प्रेस, १९१४।
५४. तर्क भाषा—केशव मिश्र, मोती लाल बनारसीदास, १९६८।

५५. श्रीभाष्य श्रुत प्रकाशिका...सुदर्शन सूरि, निर्णयसागर प्रेस, १९१४।
५६. गीता शांकर भाष्य ।
५७. केनोपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस ।
५८. माण्डूक्योपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस ।
५९. शिव महिम्न स्तोत्रः—पुष्पदन्ताचार्य ।
६०. संक्षेप शारीरिक—सर्वज्ञात्ममुनि, काशी, १९४४।
६१. इष्टसिद्धि—विमुक्तात्मा, वी० भट्टाचार्य सम्पादित, बड़ौदा, १९३६।
६२. प्रमाणमाला—आनन्दबोध, चौखम्बा, बनारस, १९०१।
६३. वेदान्त प्रक्रिया प्रत्याभिज्ञा—सच्चिदानन्द सरस्वती, होले नरसिंहपुरम्, १९६४।
६४. माण्डूक्य कारिका—गौड़पाद शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, १९२१।
६५. सिद्धान्त लेश संग्रह—अप्पय दीक्षित, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सम्वत्, २०११।
६६. भाष्यरत्न प्रभा एवं न्याय निर्णय—गोविन्दानन्द तथा आनन्दगिरि, बम्बई, सं० १९७०।
६७. कौषीतकि उपनिषद्—निर्णय सागर, बम्बई, १९२५ ।
६८. ब्रह्मसूत्र माध्व भाष्य—सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८१।
६९. खण्डनखण्डखाद्य—श्री हर्ष, वाराणसी, १९४०।
७०. वेदान्त तत्त्व विवेक—नृसिंहाश्रम, मैसूर, १९५५।
७१. अद्वैतदीपिका—नृसिंहाश्रम, बनारस, १९१९।
७२. महाभारत—शान्तिपर्व ।
७३. ब्रह्मसूत्रभास्कर भाष्य—श्री भास्कराचार्य, चौखम्बा, वाराणसी।
७४. ब्रह्मसूत्र गोविन्द भाष्य—श्री बलदेव विद्याभूषण, कृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बृन्दावन ।
७५. शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण,—डां० अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३ ।
76. Indian Philosophy—Vol. II—S. Radha Krishnan, Allen and Unwin, 1927.
77. Encyclopaedia of Religions—Hastings—Vol. II.
78. Doctrines of Nimbarka And His Followers—Dr. Rama Choudhury, Calcutta, 1941.
79. The System of the Vedanta—Paul Deussen, U.S.A., 1912.
80. Appearance and Reality—Bradley, IX Ed., Oxford, London, 1930.
81. Selections from Berkeley—5th Ed., Oxford, 1899.
82. A History of Indian Philosophy—Das Gupta—Vol. III, 1940 Cambridge Univerity,.
83. The Philosophy of Bhedabheda—Srinivasachari, The Adyar Library. 1350.

84. Advaita and Visistadvaita—Srinivasachari, Asia Pub. House, London, 1961
85. An Introduction to Advaita Philosophy—K. Shastri, Calcutta Univ., 1926.
86. The Philosophy of Nimbarka—J. N Sinha, Calcutta, 1973.
87. A crit!cal Survey of Indian Philosophy—C.D. Sharma, London, 1960.
88. An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge—D.r N.K. Devaraja. Varanasi, 1962.
89. Idealistic Thought of India—P. T. Raju, Allen and Unwin, London, 1953.
90. Outlines of Indian Philosophy—Hiriyanna, London, 1958.
91. Indian Idealism—Das Gupta, Cambridge, 1962.
92. A History of Indian Philosophy—Das Gupta. Vol. II., Cambridge, 1632.
93. Philosophical Essays—Das Gupta, Calcutta Univ., 1941.
94. The Philosophy of Advaita—T. M. P. Mahadevan, Madras, 1957.
95. Vedanta of Sankara—R.P. Singh, Jaipur, 1949.
96. Collected Papers of Prof. S. S. Suryanarayan Sastri—Madras Univ., 1961.
97. Studies in Post-Sankara Dialectics—A. Bhattacharya Sastri, Calutta University, 1936.
98. The Vedanta—V.S. Ghate, Poona, 1960.
89. Philosophy, Religion and Culture—N. K. Devarajva, Motilal Banarsi Das, Delhi, 1974.
100. Philosophies of India—H. Zimmer, London, 1955.